हम विषपायी जनम के

दिवंगत
श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
के
अप्रकाशित काव्य-साहित्य का
संकलन

नवीन जी

जन्म : ८ दिसम्बर १८९७

निधन : २९ अप्रैल १९६०

समर्पण

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की स्मृतिमें, उनकी चौथी निधन-तिथि, (२९ अप्रैल १९६४) के अवसरपर उनका यह काव्य-संकलन प्रकाशित हो रहा है। संकलनका नाम 'नवीन' जीके एक प्रसिद्ध दोहेके अंशपर आधृत है :

हम विषपायी जनम के, सहे अबोल कुबोल

लगा, कि दोहेका यह चरण 'नवीन' जीके व्यक्तित्वकी गरिमा, औघड़पन, साधना और समर्पणको झलकाता है। सामर्थ्यका स्वामी रुद्र ही विषपायी हो सकता है, जिसके गलेमें अहि-माल है और मस्तकपर चन्द्रमाकी कला; जो विप्लव और संहारको सृजनकी भूमिका बनाता है और जो नटराज है। सुधा-पान छोड़कर जो विष-पानका वरण करते हैं, वही कह सकते हैं :

ठाठ फ़क़ीराना है अपना, बाघम्बर सोहे अपने तन

यह संकलन जब गुप्तजी (श्री मैथिलीशरण गुप्त) और 'एक भारतीय आत्मा' (श्री माखनलाल चतुर्वेदी) के हाथमें पहुँचेगा, तब क्या शलाकापुरुषोंका एक ज्वलन्त युग जिसके निर्माणमें स्वयं सहयोगी है उनकी कल्पनामें साकार न हो उठेगा ? वह विकल हो उठेंगे कि बलि-दानियोंके अग्रणी श्री गणेशशंकर विद्यार्थी नहीं रहे, और सहकर्मी, सहधर्मी नवीनजी भी नहीं रहे ! याद आयेंगे दिसम्बर १९१६ के वे दिन जब लखनऊ काँग्रेसके अवसरपर इन चारोंमें-से इस एकने अपनी क़लमको और अपने स्वप्नोंको राष्ट्रके प्रति समर्पित किया था, और शेष तीनने समर्पण-यज्ञके लिए यह 'नवीन' समिधा पायी थी !

राष्ट्रीय जागरणके इतिहासमें साप्ताहिक 'प्रताप' यदि गणेशशंकर विद्यार्थीका कीर्ति-मन्दिर है, तो 'नवीन' जी उसके आधारवाही स्तम्भ। ज्वालाओंके उस युगमें आहुतियोंकी ही होड़ थी। 'नवीन' सौभाग्यवान् थे कि उनको गणेशशंकरके हाथों विषपानकी दीक्षा मिली, और इसलिए

वह अन्त तक विषपायी ही रहे। सुधापानके छलावेने अन्त तक उन्हें मोह-ग्रस्त नहीं किया।

यों शूलयुक्त, यों अहि-आलिंगित जीवन

इस प्रस्तुत संकलनकी एक आत्म-परक रचना है।

नवीनजीने यद्यपि सन् १९१७ से नियमित लेखन प्रारम्भ कर दिया था, उनका पहला कविता संग्रह, 'कुंकुम' सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ, किन्तु कवि-रूपमें नवीनजीकी ख्याति प्रतिष्ठित हो चुकी थी। राष्ट्रीय आन्दोलनके तूफ़ानी दिनोंमें माथा ऊँचा करके, सीना तानकर, मुट्ठियाँ बाँधकर नवयुवक गाया करते थे :

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये
एक हिलोर उधर से आये, एक हिलोर इधर से आये

और, जब असहयोग आन्दोलनको अचानक समाप्त कर दिया गया, तब बलिदानियोंके आहत अभिमानको और राष्ट्रकी हताश, सिर-धुनती लौको नवीनजीने वाणी दी :

आज खड्ग की धार कुण्ठिता, है ख़ाली तूणीर हुआ !

१९३६ के बाद, सन् १९५१ में नवीनजी के दो कविता-संग्रह प्रकाशित हुए : 'रश्मि रेखा' तथा 'अपलक' १९५२। में 'क्वासि', १९५५ में 'बिनोवा स्तवन' और १९५७ में 'उर्मिला' खण्ड-काव्यके प्रकाशनके बाद कोई नया संग्रह प्रकाशित नहीं हो पाया। उक्त छह संग्रहों में, कुंकुम-क्वासि कालकी रचनाओंका समय १९३६ से १९५२ तकका हैं।

प्रस्तुत संकलन, 'हम विषपायी जनम के'में नवीनजीकी वे रचनाएँ सम्मिलित हैं जो संग्रह रूपमें अप्रकाशित हैं या कुंकुम-क्वासि कालके बादकी सर्वथा नयी रचनाएँ हैं। यह संकलन कवि नवीनका सर्वांगीण प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करता है।

नवीनजीको जब पक्षाघात हो गया तो उनकी बीमारीके दिनोंमें साहूजी (श्री शान्तिप्रसाद जैन) कई बार उनसे मिलने गये। एक बार जब मैं भी साथ था, तो नवीनजीने संकेतों और सायास निर्मित शब्दोंमें भारतीय ज्ञानपीठके प्रकाशनोंकी सराहना की, आशीर्वाद दिया। तभी श्रीमती सरलाजीने बताया कि नवीनजीने बीमारीके दिनोंमें अपनी अप्रकाशित कविताओंके संग्रह और संकलनका काम प्रारम्भ किया है और

यदि इनका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठसे हो तो नवीनजीको प्रसन्नता होगी। ज्ञानपीठके लिए यह प्रस्ताव गौरवका था।

वास्तवमें नवीनजीने इन कविताओंको छह विभिन्न संग्रहोंके रूपमें नियोजित किया था और संग्रहोंके शीर्षक स्वयं निश्चित किये थे : १. सिरजनकी ललकारें, २. नवीन दोहावली, ३. यौवन-मदिरा, ४. प्रलयंकर, ५. स्मरण-दीप, ६. मृत्यु-धाम।

छहों संग्रहोंका स्थूल रूप निश्चित कर देनेके बाद, कविताओंका संकलन प्रारम्भ हुआ : पत्रोंकी कतरनों और पुरानी फ़ाइलोंकी प्राप्ति, हस्तलिपियोंकी खोज, पत्र-व्यवहार आदिमें बहुत समय लगा। नवीनजीके सामने ही बहुत अंशोंमे यह कार्य पूरा हो गया था किन्तु उनके निधन-के बाद भी प्रयत्न चलता रहा कि संग्रह अधिकसे-अधिक पूर्ण हो। कई विश्वविद्यालयोंके हिन्दी विभागोंने डॉक्टरेटकी थीसिसके लिए विद्यार्थियोंको नवीनजीकी काव्य कृतियोंके अध्ययनकी स्वीकृति दी। भारतीय ज्ञानपीठने शोधार्थियोंको पाण्डुलिपियोंके अध्ययनकी सुविधा दी तो संग्रहोंको पूर्णता देनेके सुझाव भी पाये। सागर विश्वविद्यालयके प्राध्यापक श्री लक्ष्मीनारायण दुबेने इस दिशामें विशेष प्रयत्न किया। 'ज्ञानपीठ पत्रिका' में इन संकलनोंके परिचयमें कहा गया है :

" 'सिरजन की ललकारें' को कविने एक सह-शीर्षक 'नूपुर के स्वन' भी दिया है। ये दोनों शीर्षक, संग्रहकी प्रमुख और सबसे लम्बी कविताओं 'सिरजन की ललकारें मेरी' और 'आये नूपुर के स्वन झन-झन' की ओर संकेत करते हैं। 'सिरजनकी ललकारें मेरी'-लगभग ३० पृष्ठकी कविता है जो महात्मा गान्धी और उनके विचारों तथा हिंसा-अहिंसाके द्वन्द्व आदिको प्रस्तुत करती है। यह अत्यन्त वेगपूर्ण तथा चिन्तनपरक रचना है। 'आये नूपुर के स्वन झन-झन' में शृंगारका आध्यात्मीकरण है।

समग्र रूपमें, यह संग्रह नवीनजीकी दार्शनिक रचनाओंका संकलन है। कवि कभी लौकिकसे अलौकिककी ओर उन्मुख हुआ है और कभी अलौकिकसे लौकिककी ओर आया है।

'नवीन दोहावली' के माध्यमसे नवीनजीका एक ऐसा रूप सामने आता है जो अभीतक हिन्दी-जगत्को ज्ञात नहीं हो सका है। १९ शीर्षकोंके अन्तर्गत इस संग्रहमें कुछ खड़ी बोलीके, अधिकांश ब्रजभाषाके दोहे हैं। संग्रहका रचना-काल १९३०–१९४६ है, और अधिकांश

रचनाएँ बरेली कारागृहकी लिखी हुई हैं। विषयकी दृष्टिसे संग्रहमें श्रृंगार तो है ही, इसके अतिरिक्त आध्यात्मिकता, दार्शनिकता, प्रार्थना तथा मनुहार-भावकी भी सशक्त अभिव्यक्ति है।

तीसरे संग्रह, 'यौवन मदिरा' को कविने एक और शीर्षक 'पावस-पीड़ा' भी दिया है। दोनों शीर्षक दो कविताओंके हैं जो संग्रहकी प्रमुख रचनाएँ हैं। 'यौवन मदिरा' में प्रवृत्ति-निवृत्तिका संघर्ष निरूपित है और 'पावस-पीड़ा' में प्रणयकी प्रधानताका स्वर मुखरित हुआ है। संग्रहका रचना-काल १९३०–१९३६ है और अधिकांश रचनाएँ गाज़ीपुर जेलकी लिखी हुई हैं। कृतिमें लघु प्रेम-कविताएँ संकलित की गयी हैं। प्रेममें संयोग तथा वियोग दोनोंके चित्र प्राप्त होते हैं, पर प्रधानता विप्रलम्भ श्रृंगारकी है।

'प्रलयंकर' शीर्षक चौथे संग्रहका नाम 'तू विद्रोह रूप प्रलयंकर' कवितासे आया है जो अत्यन्त ओजस्वी रचना है। संग्रहका लेखनकाल १९३०-१९५५ है और रचनाएँ अधिकतर बरेली कारागृहकी लिखी हुई हैं। पाण्डुलिपिके इस खण्डमें कतिपय कविताएँ कविकी हस्तलिपिमें ही उपलब्ध हैं। नवीनजीकी राष्ट्रीय कविताओंके इस संकलनमें कविका आक्रोश, हुंकार, ओज तथा विप्लव-आह्वान मुखरित हैं। राष्ट्रकी युगीन चेतनाको सर्वाधिक प्रखर वाणी इसी संग्रहकी रचनाओं-द्वारा मिली है।

'स्मरण-दीप' नवीनजीका पाँचवाँ अप्रकाशित काव्य-संग्रह है जिसका नामकरण 'मेरे स्मरण-दीप की बाती' शीर्षक कवितापर आधारित है। संग्रहका रचना-काल १९३८-१९५४ है और इसमें बरेली कारागृहमें लिखित कविताओंका आधिक्य है। संकलनमें वियोगावस्थासे उद्भूत अनुभूतियोंकी प्रधानता है, विप्रलम्भ श्रृंगारके सर्वतोमुखी चित्र उतारे गये हैं और मनुहार प्रतीक्षाको वाणी मिली है।

अन्तिम संग्रह 'मृत्यु-धाम' को कविने दूसरा शीर्षक 'सृजन झाँझ' भी दिया है। दोनों शीर्षक मूलमें संग्रहकी दो कविताओं 'कैसा है मृत्यु-धाम' और 'सृजन की झाँझ' के हैं। संग्रहका रचना-काल १९४१-१९४२ है और प्रमुखतः ये रचनाएँ नैनी जेलमें ही लिखी गयीं। वास्तवमें यह संकलन कविके 'प्राणार्पण' शीर्षक अप्रकाशित खण्डकाव्यकी 'पंचम आहुति' के गीतोंसे सम्बन्ध रखता है जिसे यहाँ पृथक् संग्रहके रूपमें दिया गया है। ये गीत सभी रहस्य-परक और दार्शनिक हैं जिनमें मृत्युको काव्यका

संकेतिका

सिरजन की ललकारें

नवीन दोहावली

पावस पीड़ा

प्रलयंकर

हम विषपायी जनम के

मृत्यु-धाम

■

हम विषपायी
जनम के

सिरजन की ललकारें

समग्र रूप में नवीनजी की दार्शनिक
कविताओं का संग्रह

*[संग्रह को कवि-द्वारा एक वैकल्पिक शीर्षक
'नुपूर के स्वन' भी दिया गया है]*

बयालीसवें वर्षान्त में

(अग्नि-दीक्षा काल में)

पूछा सन्ध्या ने आज : कवे !
हम शोक मनायें या कि हर्ष ?
तुम आज कर रहे हो पूरे
चालीस और दो अधिक वर्ष,
यह बयालीसवाँ वर्ष आज
अस्तंगत रवि के साथ चला,
बोलो, किन भावों को लेकर
आयेगी कल ऊषा चपला,
जीवन के इतने वर्ष बने
धुँधली स्मृतियों के पुंज रूप,
हे कवि ! क्या देखो हो इनमें
तुम कुछ कुछ अपनापन अनूप ?

मैंने अवलोका सान्ध्य-क्षितिज,
मैंने अवलोका अपने को,
इतने वत्सर पूरे करते,
देखा जीवन के सपने को;
हो चला कालिमा से मण्डित
सन्ध्या-नभ जो था लाल-लाल,
पर दिङ्मण्डल पर दिखा पूर्ण-
निशिपति हँसता उन्नत, विशाल,

मैंने सन्ध्या से कहा : देवि !
मेरे जीवन की धूप-छाँह,
है हर्ष-शोक से परे आज
है बहुत दूर मेरी निगाह।

ओ बयालीसवें वत्सर की
मेरी उत्सुक झुटपुटी साँझ !
है स्तब्ध आज इस जीवन की
मादक गम्भीर मृदंग, झाँझ;
गाये हैं मैंने गीत कई
रोने रोये हैं कई-कई,
हर सुबह और हर साँझ उठी हैं
दिल में टीसें नयी-नयी,
क्यों देखूँ मैं पीछे मुड़कर
जीवन का ऊसर, विशद-क्षेत्र,
हे साँझ ! आज आगे को हैं
मेरे ये उत्सुक युगल नेत्र।

मेरा अतीत है महा-काव्य
दुर्बल मानव-क्रीड़ाओं का,
मेरा अतीत है एक पुंज :
हिय की गहरी पीड़ाओं का,
हैं रहे स्वप्न मम चिर संगी,
संगिनियाँ रहीं निराशाएँ,
जीवन-नद में जल-बुद्बुद-सी,
बन बिगड़ीं मम अभिलाषाएँ,
पर सन्ध्ये ! आज निरिन्द्रिय औ'
निर्देह-भाव की चाह जगी,

कुछ-कुछ रहस्य-उद्घाटन की
हिय में यह नूतन लगन लगी।

यह जो कहलाता है असीम :
क्या है सचमुच सीमान्त हीन ?
जिसको विमुक्त कहते हैं वह :
क्या है वास्तव में निज अधीन ?
यह जो अनन्त-अम्बर है वह :
क्या है इति-शून्य, अशेष-लीन ?
अक्षर क्या सचमुच ही न कभी
होता है किंचिन्मात्र क्षीण ?
जग रहीं आज ये युग-युग की
प्रश्नावलियाँ अलसायीं-सी,
तड़पन, ऐसी यह जिज्ञासा
उठ रही आज बल खायी-सी

मेरे जीवन की सन्ध्या की
झुटपुट अँधियारी उमड़ रही,
मेरे नयनों में भी तो यह :
अब ज्योति-क्षीणता घुमड़ रही,
तन में थकान अनुभूत हुई,
मन में शैथिल्याभास हुआ,
ऐसी घड़ियों में इस शाश्वत
जिज्ञासा का सुविकास हुआ,
परदे के पीछे क्या है, यह
उस समय देखने की सूझी,
जब खत्म हो चली है मेरी
हस्ती की शारीरिक पूँजी।

चेतना-लता में लय-भव के
क्यों सुमन फूलते रहते हैं ?
क्यों जन्म-मरण के झूले में
ये प्राण झूलते रहते हैं ?
ये पूर्ण-पुरातन प्रश्न-चिह्न,
ये चिर जाग्रत ये चिर नवीन,–
मेरे मानस-पट पर उभरे
फिर से ये पूर्ण रहस्य-लीन,
इन प्रश्नों की उत्सुकता का
मैं आज बना हूँ पुंजरूप,
दे दो तो उत्तर धीरे से
तुम ओ मेरी सन्ध्ये अनूप।

इच्छा तो है : मैं खोल सकूँ
यह भीम भयानक मृत्यु-द्वार,
इच्छा यह है : मैं झाँक सकूँ
इस घनावरण के आर-पार,
उड़ चले आज मम राज-हंस,
सीमान्त गगन का वक्ष चीर,
अम्बर काँपे, कुछ भेद खुले,
कुछ छलक उठे नभ-गंग नीर,
अनुमान ज्ञान की नहीं, आज
प्रत्यक्ष ज्ञान की प्यास मुझे,
देखूँ किस क्षण इस जीवन में
वह नीर-पान कर स्वयं बुझे ?

श्री गणेश-कुटीर, कानपुर
४३वीं वर्षगाँठ,
मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा, १९९६
२६ दिसम्बर, १९३९

व्यवहारवादिता

इस जीवन की गहराई को झुककर कोई क्यों झाँके ?
इक दमड़ी की ऊँची-ऊँची क़ीमत कोई क्यों आँके ?
इतनी साँस, उसाँसें इतनी क्यों यों कोई नष्ट करे ?
कैसा हिय ? हियहरण कौन-सा ? हैं ये झंझट दुनिया के !

नर क्या है ? जीवन-विकास का एक चपल, चल विभ्रम है ।
नारी क्या है ? प्राणि-शास्त्र का केवल एक तुच्छ क्रम है !!
क्या है हृदय ? भावना क्या है ? ये सब हैं अपवाद निरे;
जीवन इक हू-हू चिड़िया है ! यह सब व्यर्थ परिश्रम है !!

कैसा नाता-रिश्ता, बन्दे ? मुँह देखे की प्रीति यहाँ;
बस, आँखों की लाज निभाना, यही रही है रीति यहाँ;
पीठ फिरी तो बन्द हो गये अपनों के भी द्वार सभी;
तुम नवीन, अब तक न रंच भी समझ सके यह नीति यहाँ ?

तुम इस रीति-नीति को समझो, मन में करो न ख़ेद अरे;
इस जग में व्यवहार सदा ही होते हैं यों भेद-भरे;
लख़-लख़ यह लीला दुःशीला क्यों तव लोचन भर आयें ?
क्यों तव चिन्तन-मग्न भाल से बूँद-बूँद प्रस्वेद झरे ?

कहाँ तुम्हारे ललित मनोरथ ? वे तो तिमिर-विलीन हुए ?
कहाँ तुम्हारे प्राण-पिरीते ? वे सब तेरह-तीन हुए;

सभी मस्त हैं अपनी धुन में, किसको किसका ध्यान यहाँ ?
एक तुम्हीं हो जो कि व्यर्थ में यों चिर चिन्ता क्षीण हुए !

अतल-वितल-पाताल-सदृश है जीवन कहो, कहाँ गहरा ?
मत झाँको इतने गहरे से ! वह तो इक बुद्बुद ठहरा !
खूब जानते हैं, न करोगे तुम विश्वास रंच हम पर;
पर, तुम अपनी दशा निहारो, देखो तो अपना चेहरा !

तुमने सदा झाँक-झुक देखी इस जीवन की गहराई;
तुमने सदा अतल की ऊँची ये लहरें हैं लहरायी;
हमने कहा : किनारे खेलो ! पर तुम गहरे पैठ चले !
लो, अब श्रवणों में अर्णव की भैरव गूँज घहर आयी !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
७ नवम्बर, १९४३, रात्रि

■

एकाकीपन

त्रिभुज रूप बक पंक्ति चली यह
इस विस्तृत नीले अम्बर में,
मानो त्रिगुण-कल्पना पैठी,
चिर चिन्तन के महदन्तर में;
दुग्ध-धवल नभचर-पंखों पर
बिम्बित नील गगन की झाँई,

मानो किसी नील अंचल में
शुभ्र कुन्द कलियाँ मुसकायीं;
चली वकों की आतुर टोली
गगन चीरती-सी सम गति से,
मानो शाश्वत टोह-भावना
उड़ी छुड़ाकर बाँह नियति से !

मैं थलचारी पूछ रहा हूँ :
कहाँ चले तुम सब, ओ खग-गण ?
ज्यों गमनोन्मुख प्रिय पाहुन से
पूछा करते हैं सुगृही जन !
कौन ताल आये हो तजकर,
ज्यों निर्मोही तजते हैं घर ?
खिंचे जा रहे हो क्यों सर-सर
मानो तुम हो चंग गगन-चर ?
उड़ा रहा है तुम्हें कौन यों ?
है तव सृति-डोरी किसके कर ?
हैं तव पिय भी क्या वैसे ही
जैसे हैं मेरे पिय हिय-हर ?

उड़ते देख गगन में खगगण,
उड़ने की आयी मेरे मन,
सोचा, क्यों न उड़ाऊँ निज तन
जा निरखूँ अपने मनभावन;
जा निरखूँ पिय का मधुरानन
निरखूँ उनके आकुल लोचन,
निज पिय के वे सकरुण सुनयन,
जिनमें विप्रयोग के जल-कण,

पर मैं पंखहीन नित परवश,
दूर बसी साजन की नगरी,
और अनेकों विकट सन्तरी
रोक खड़े हैं मेरी डगरी;

मेरे प्रियतम परम स्नेह-घन,
परम उदार, परम करुणायन;
जिनके चरणों में मम कण-कण
अर्पणहित उत्कण्ठित क्षण-क्षण
मम मन-भृंग गुंजरित सन्तत,
गुन-गुन उनके गुण-गायन रत
सोच-सोच अब वे क्षण सुविगत,
है व्याकुल पुंखित-शर-आहत,
कहाँ पुण्य मन्दिर साजन का,
कहाँ दरस निज जीवन धन का ?
जब आनद्ध बज उठा रण का,
सहसा स्नेह-मनोरथ मन का।

प्रिय, अब फिर कब मुसकाओगे ?
बोलो, सम्मुख कब आओगे ?
मंजुल छबि कब दिखलाओगे ?
अब फिर कब दृग में छाओगे ?
मेरे रण की अवधि अनिश्चित
पर, मम स्नेह-साधना अचलित;
तुम हो देश-काल-पट अपिहित,
तदपि सदा तुम मम हृदय-स्थित;
जीवन में शुभ अवसर आया,
बड़े भाग्य से तुम को पाया,

किन्तु काल की ऐसी माया,
पाकर भी फिर तुम्हें गँवाया।

यद्यपि सन्तत रमे हुए हो,
तुम मेरी शोणित-धारा में;
अष्टयाम ही तुम रहते हो
मेरे संग-संग कारा में,
फिर भी अकुलाता रहता है
मेरा हृदय और मेरा मन,
मैं हूँ सगुण उपासक, मुझको,
कैसे धीरज दे निर्गुणपन ?
सतत तुम्हारा स्मरण, ध्यान ही
है अवलम्ब यहाँ जीवन का,
पर, किमि होगा तव स्मिति-द्युति बिन,
दूर तिमिर एकाकीपन का ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२८ मार्च १९४४

■

क्यों थके तन ? क्यों थके मन ??

थक गया हूँ, विरथ हूँ मैं, है परम विश्रान्तिरत मन;
किन्तु गाता ही रहूँगा मैं भ्रमण के गीत पावन;
यदपि है अति थकित तन-मन।

नित्य गतिमय इस जगत में, यह हृदय की श्रान्ति कैसी ?
बैठने की चाह कैसी ? यह अलस विश्रान्ति कैसी ?
मानवों के पूत, बोलो, श्रान्ति की यह भ्रान्ति कैसी ?
याँ कहाँ विश्राम ? जग का नियम है चंक्रमण क्षण-क्षण ?
यदपि हो अति थकित तन-मन !

भ्रमण-मय है सौर-मण्डल, भ्रमण-रत नक्षत्र-मण्डल;
भ्रमण-मय परमाणु जग के, पर्यटन-मय तेज प्रतिपल;
ये स्वयं दिक्-काल भी हैं पर्यटन से श्रमित, विह्वल;
किन्तु इन सब को, कहो तो, कब मिला विश्राम-साधन ?
क्यों थके तन ? क्यों थके मन ?

देश है यह नित वितति-मय; काल है सन्तत कलन-मय;
भ्रमित जड़ ब्रह्माण्ड सन्तत; और, चेतन भी चलन-मय;
तब जगे क्यों मनुज हिय में, भावना यह पथ-स्खलन-मय ?
नित्य यात्रा, पर्यटन नित, है यही जीवन विलक्षण !
यदपि है अति थकित तन-मन;

मत कहो : पथ कण्टकित है; मत कहो; मग है अँधेरा;
और, मत पूछो कहाँ पर मिल सकेगा निशि-बसेरा;
बस, सदा चलते रहो, हो साँझ, या हो शुभ सवेरा;
पन्थ हो जन संकुलित, या हो निपट सुनसान, निर्जन !
मत करो विश्रान्ति-रत मन !!

तुम स्फुलिंग ज्वलन्त सन्मय; ज्ञानमय तुम पूर्ण चेतन;
है अनादि प्रवास-पथ तव; अन्तहीन त्वदीय विचरण;
तुम स्वयं हो ज्योति; तब क्यों मार्ग में होगा तिमिर घन ?
तव हृदय से ज्योति-किरणें आ रही हैं सतत, छन-छन !
क्यों थके तन ? क्यों थके मन ??

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२३ दिसम्बर १९४३

क्या मैं कर सकता हूँ कृत को अकृत ?

क्या मैं कर सकता हूँ – कृत को अकृत, और,
लिखित को अलिखित ? मैं पूछ रहा हूँ यह !
क्या मैं कर सकता हूँ अपना अतीत नष्ट ?
पूछ मैं रहा हूँ अपने ही से यों रह-रह !
किन्तु तर्क मेरा मुझ से यों बोल उठा, ऐ रे !
कर्मबद्ध जन ! ऐसी पोच बात मत कह;
संचितों की शृंखलाएँ कौन तोड़ सका है यों ?
वे तो दृढ़तर होती जा रही हैं अहरह !

सम्भवतः पुष्ट तर्क ठीक ही रहा है कह;
तर्क की अकाट्य बात कैसे ठुकराऊँ मैं ?
किन्तु इस विवश प्रारब्ध-बद्ध धारणा से;
हिय में सन्तोष कहो कैसे, टुक पाऊँ मैं ?
मानव क्या इतना है विवश नितान्त, अहो ?
तब निज कृति का दायित्व क्यों उठाऊँ मैं ?
क्यों न निज धर्म-कर्म प्रेरणा, विवेक, ज्ञान,
संचितों की वेगवती धार में बहाऊँ मैं ?

किन्तु संचितों का पूर्व कर्त्ता–है, कहो तो, कौन ?
मैं ही हूँ ? तो फिर क्यों मैं विवश, विचार-हीन ?
मैं ही हूँ जब अपने भाग्य का विधाता आदि,
तो क्यों कहते हो मैं हूँ रज्जु-बद्ध और दीन ?

मैंने सिरजी हैं निज संचितों की प्रेरणाएँ;
मैं ही कर दूँगा, उन्हें क्षार-क्षार और, क्षीण!
मैं ही यों हुआ हूँ जब स्वेच्छा से प्रवृत्ति-पीन,
तब क्यों न होऊँगा मैं स्वेच्छया निवृत्ति–लीन?

हाँ! हाँ!! आज कृत को अकृत करने की, और,
लिखित को अलिखित करने की चाह है;
किया है उच्छिष्ट जो प्रसून इन अधरों से,
उसके लिए ही इस जीवन में दाह है!
तुम से प्रार्थी हूँ, अहो, जीवन-आदर्श मेरे,
असंलग्नता की मेरे लिए नयी राह है,
उनको उबार सकूँ जिनको डुबोया मैंने,
इतने गहरे, कहीं जिसकी न थाह है।

बल दो! मरोड़ सकूँ ग्रीवा निज प्यार की मैं,
बल दो कि नोंच सकूँ नीड़ निज हिय का!
वल दो कि मैं न वनूँ पिय के पगों का शूल;
निष्कण्टक बने पन्थ मेरे प्राण प्रिय का!!
पीतम बँधे हैं मेरे बन्धन में, किन्तु यह—
वन्धन है अति अविचारमय जिय का;
वन्ध मुक्त होवे मेरे पीतम का मन अलि,
और करे पान निज चयन–अमिय का!!!

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
३० दिसम्बर, १९४३

■

प्रिय, बल दो

प्रिय, बल दो, उत्क्रमित कर सकूँ जीवन के अभिशाप,
यह सेन्द्रियता राग-रंग यह, यह मनसिज-सन्ताप !
देख रहा हूँ अपने सम्मुख आत्म-मुक्ति की गैल,
बल दो : मुझे न त्रस्त कर सकें पथ के कष्ट अमाप ।

अपनापन पाने का केवल मार्ग यही है एक !
कि निज तुरंग की वल्गा अपने कर में हो सविवेक
अश्व हिनहिनाये, या नाचे, या भागे बेताब,
पर, आरोही स्थिर हो; उसका डिगे न आसन नैक ।

अब तक यह मदमत्त तुरंगम मुझ पर रहा सवार,
जन-जन हँसे देखकर मेरी छाती पर यह भार !
बोले : देखो ये आये हैं लादे अपना अश्व !!
यों बोले वे, जो कि स्वयं थे अश्वाक्रान्त अपार !!!

मैं क्या कहता ? मैं तो था ही निज हय से आक्रान्त;
मुझे हँसी का समय कहाँ था ? मैं था अतिशय श्रान्त,
पर, अब कुछ उठ खड़ा हुआ हूँ कशा-पाणि मैं आज
मुझे कदाचित् अब न करेगा यह सैन्धव उद्भ्रान्त !

लख जग-जन, लख जग-जन-निर्मित विकट समस्या आज,
लखकर यह विनाश, लख-लखकर यह विकराल अकाज,
आज पूछता हूँ : रे जग, क्यों यह भीषण-विस्फोट ?
क्यों ये ज्वालाएँ ? जलता है क्यों यह मनुज-समाज ?

बोल उठा समता का भौतिक ज्ञानी खाकर ताव !
यह है विषम और वैयक्तिक धन-सम्पत्ति-प्रभाव !
रच डालो अभिनव समाज तुम, रचो नया संसार,
तब अपने ही आप मिटेगा यह शोणित का चाव !

मैं कहता हूँ, भौतिक ज्ञानी, रंच सँभल कर बोल,
देख तनिक वह घर भी, बजता जहाँ साम्य का ढोल !
नहीं सुना ? वाँ भी मचती है घृणित रक्त की फाग,
भूल गया रे, क्या तू अपने घरकी रक्त-किलोल ?

वाँ भी तो होते रहते हैं निशि-दिन अत्याचार,
क्रान्ति-सुरक्षा के मिस वाँ भी होते दुर्व्यवहार।
प्रश्न यही है ! कि क्या अलम् हैं निरे बाह्य उपचार ?
या कि हमें संयत करनी है अन्तर की भी रार ?

वाह्य उपकरण आवश्यक हैं; है उनका भी स्थान,
पर, उनकी सीमा है, इसका रखना होगा ध्यान;
अन्तःशुद्धीकरण, भयहरण, सत्य, सनातन मन्त्र,
इसके विना समाज-तन्त्र का हो न सकेगा ज्ञान !

अपने घोड़े का चाबुक हो जब अपने ही हाथ,
और, रहे अपने कन्धों पर जब अपना यह माथ,
तभी पा सकेगा यह मानव शान्तिपूर्ण निर्वेद !
तभी, बुद्धि जब समुद चलेगी मन-संयम के साथ !

बल दो, इस डग-मग-पग जग को, हे मेरे आदर्श !
बल दो, कि यह कर सके संयत अपना हर्ष-अमर्ष,
धधक रही है आज प्रलय की यह जो अग्नि प्रचण्ड,
मानव उसको करे शमित औ' मेटे यह संघर्ष !!

यह लालसा, एषणा, इच्छा, ये कामादि प्रमाद,
इन सब का कर सके आज यह मनुज पूर्ण अवसाद !
वल दो, प्रिय, हो गया बहुत, कर दो समाप्त यह खेल,
अब तो दो इस चिर याचक को मधुमय मन:प्रसाद !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१ फ़रवरी, १९४४

■

नैशयाम कल्पमान

निशि का अति क्षुद्रयाम
आज हुआ कल्पमान,
अस्थिर, चल, चपल निमिष
आज हुआ युग समान।

अस्थिर में होता है
जब शाश्वत समावेश—
तन्मय हो जाते हैं
जब अनित्य काल, देश,—
तब होते हैं विलुप्त
अचिर चलन-कलन क्लेश
सुन्दर, शिव, सत्, अकाल
रहता है एक शेष।
पाता है परिवर्तन तब चिरता का प्रमाण।
चपल निमिष युग समान।

निशि के चंचल क्षण को
तुम देते स्थिर स्वरूप—,
छिटकाते स्मिति-किरणें,
हरते घन तम कुरूप,—

भरे हुए प्राणार्पण
निज नयनों में अनूप—
आये साकार बने
तुम मेरे चिर अरूप।

उस क्षण अंकित होता क्यों न अमरता-विधान ?
नैशयाम कल्पमान।

जब आयें देह भरे
सपने मम मनसि जात,
तब वह निशि क्यों न बने
मेरी सौभाग्य-रात ?

तब पद-रति-अर्पित मम
अंगीकृत शिथिल गात
निशि का तम लोप हुआ
मम नवजीवन-प्रभात

प्रिय, त्वम्-मय मेरा मन, त्वम्-मय मम
विजित प्राण।
ओ, मेरे भासमान।

एक निमिष-सम्पुट में
भरकर आनन्त्य प्रहर,—
नयनों से कौतुक कर
मुसकाये तुम प्रियवर,

मृण्मय यह काल-खण्ड,
जिसको चल क्षण कहकर,
हँसते हैं जग-जन-गण,
वही हुआ अजर, अमर।
ख़ूब दिया तुमने इस क्षर को अमरत्व दान।
नैशयाम कल्पमान।

श्रवणों में, नयनों में,
प्राण-व्यजन में, मन में,—
अंकित है अमर छाप
रोम-रोम, कण-कण में।
गूँजा अनहद निनाद
तव कंकण-झन-झन में,
व्योम-गान-तान उठी,
मेरे प्रिय, तव स्वन में
आये दिक्-काल तुम्हें वन्दन करने, सुजान।
ओ, मेरे रुचिर प्राण।

■

मेरे मन

अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन,
उझक-उझक देखेगा तू किस-किस के लांछन ?
कर निज दर्शन, मानव की प्रवृत्ति को निहार,
लख इस नभ-चारी का यह पंकिल जल-विहार,
तू लख इस नैष्ठि का यह व्यभिचारी विचार,
यह सब लख निज में तू, तब करना मूल्यांकन
अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन।

बहुत सरल है करना अन्यों का तिरस्कार,
पर, है दुष्कर करना निज पर पाहन-प्रहार,
अन्यों का चीर-हरण तो है सीधा व्यापार,
कठिन काम जो है वह है निज का नग्न करण
अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन।

देखे हैं कितने ही तू ने विश्वासघात,
और लखे हैं तू ने अन्यों के स्तर-निपात,
पर, क्या है स्मरण तुझे अपनी भी रंच बात ?
अन्यों की निन्दा के पहले कर उसे स्मरण,
अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन।

कृष्ण अनादर से यदि यमुना को श्याम कहे—
तो, वह निज कर में फिर दर्पण को क्यों न गहे ?
आत्म-साक्ष्य हो तो क्यों जग में अविचार रहे ?
मानव की वीथी में क्यों बिखरे कण्टक-गण ?
अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन।

करे हेम यदि अपना आदि वस्तु-रूप वरण,—
तो क्यों रज करे स्वर्ण-स्पर्द्धा का भार वहन ?
ऊँचे-नीचे क्यों हो माटी-माटी के कण ?
क्यों न थमें अपने ही आप दोष का वितरण ?
अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२१ मई, १९५५

■

द्वन्द्व-समुच्चय

मानव के प्राणों में पीड़ा, मन में विवेक,
अधरों पर खेल रही रुदन-हास मिली रेख ।

चिर पुराण इस नय ने कुछ यों सन्देश दिया :
कि इस द्विपद मानव ने रस, विष, सब संग पिया :
द्वन्द-समुच्चय बनकर यों मानव मरा, जिया ;
निज में अन्तर्विरोध है इसकी गीत टेक;
प्राणों में दाह और फिर भी मन में विवेक ।

फिर बोला नभ : रे नर, देख, कि मैं घूर्णित हूँ,
शत-शत शम्पाओंके घोषों से तूर्णित हूँ;
कम्पित हूँ, स्तम्भित हूँ, आन्दोलित, चूर्णित हूँ;
फिर भी हूँ स्थिर, सुशान्त, एक, यदपि मैं अनेक,
मेरे अन्तर्विरोध में भी है एक टेक ।

नभ-वाणी सुन मानव पूछ उठा यों : हे नभ,
तेरे उर में भी क्या हो उठती है 'जब-तब' ?
देख मुझ द्विपद को तू, मैं हूँ कितना निष्प्रभ
तुझमें अगणित रवि-शशि, मुझमें ? तमसातिरेक
मुझमें अविवेक गहन, तेरे मन में विवेक ।

यह सुन नभ अट्टहास कर बोला : हे मानव,
यों मत कह; तू ही तो ज्योति-पुंज का है लव;
मैं तो हूँ भूत-संघ, मैं जड़गति स्पन्दित शव;
तू है सत् चिदानन्द, जिसका मैं दास एक
मत घबड़ा द्वन्द्वों से; तेरा रक्षक विवेक ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२० मई, १९५५

निज ललाट की रेख

अब तक की क्या तुम न पढ़ सके निज ललाट की रेख ?
देखे इतने दर्पण, फिर भी, बाँच न पाये नेक ?
हाँ, उलटे आखर पढ़ने का तुम्हें नहीं अभ्यास;
किन्तु पढ़ेगा अन्य कौन तव भाल-लिखित ये लेख ?

अच्छा है कि रहें अपठित ही ये विधि-अक्षर वाम;
पढ़ लोगे तो भी क्या होगा ? कौन सरेगा काम ?
जो होनी है वह तो होगी; अनहोनी होगी न;
यदि यह नियम अटल है तो तुम क्यों होते हो क्षाम ?

यदि है नियति पूर्व गति-निश्चित-चालित घूर्णित चक्र,—
तब क्या चिन्ता ? रहे भाग्य की रेखा ऋजु या वक्र ।
यदि है यहाँ विवशता इतनी, तो फिर,—खेल समाप्त !
मिलें भले ही जीवन-नद में तुम्हें मत्स्य या नक्र !

किसने तीतर-फन्द बनायी है ये तीतर कौन ?
पिंजर यह क्या है ? पिंजर के बाहर-भीतर कौन ?
कौन फँसा है ? फाँसा किसने ? कैसे ? कब ? किस अर्थ ?
तैत्तरीय गोत्रज तुम हो, तो बोलो, क्यों हो मौन ?

सहस्राब्दियाँ इन प्रश्नों को लेकर अपने अंक,
यों विहँसीं ज्यों दुलस विहँसता शरद शशांक मयंक;
श्यामल शश शशि की गोदी में; औ' ये धूर्जटि प्रश्न,—
अयुत युगों, कल्पों के हिय में खेल रहे निःशंक-।

निरुद्देश्य ही गिरी कंकरी जल में उठी तरंग,
और, उझक आये जो तारे तो काँपी नभ-गंग,
उसी प्रकार, बिना आशय ही ये सब गहरे प्रश्न,—
करते हैं क्या संसृति-सुर की नीरवता को भंग ?

मत सोचो इन प्रश्नों की है निष्फल ऊहापोह;
चिर चिन्तन ही से कटता है जीवन का व्यामोह;
प्रश्न करी मधुकरी वृत्ति है सहज उन्नयन-पन्थ;
ज्ञात नहीं क्या कि है हृदय में निरलस शाश्वत टोह ?

शतियों का शृंगार किया है इन प्रश्नों ने नित्य;
इन ने सिरजा सहस्राब्दियों का मानव-साहित्य;
कम्पन, मन्थन, चिन्तन उन्मन, उलझन-क्षण, ये धन्य।
जिनके कारण चमका जन का बल-विक्रम-आदित्य।

कौन कहेगा कि ये प्रश्न हैं निरुद्देश्य, निःसार ?
कौन कहेगा कि है वृथा ही इनका तत्त्व—विचार ?
यदि ये प्रश्न व्यर्थ हैं तब तो जन-जिज्ञासा—वृत्ति—
होगी सिद्ध व्यर्थ। फिर, होंगे बन्द प्रगति के द्वार।

उठते हैं यदि प्रश्न हृदय में तो वे उठे सुखेन;
प्रश्नों के बल हमें उपनिषत् मिली प्रश्न, कठ, केन;
करते-करते प्रश्न बन गया नचिकेता यम-मित्र;
और अमृत है केवल मन्थन-जिज्ञासा का फेन।

तुम हो कौन, कि जिसने हिम यों मथ डाला, हे प्राण?
तुम हो कौन, कि मैं धरता हूँ निशि दिन जिसका ध्यान ?
विरही ने अकुला कर पूछा यों जिस क्षण, जिस याम-
उसी निमिष से मेघ दूत के हुए हृदय - हर गान।

मानव ने भर प्रश्न दृगों में जब देखा जग-जाल—
वैज्ञानिकता बरबस जनमी उसी दिवस, तत्काल;
उसी प्रबल परिपृच्छा का पय पीकर हुई वयस्का
और कुशल इतनी कि खिलाती है वह अणु के व्याल ?

अन्तर्मुख होकर मानव ने पूछी जब कुछ बात—
तब बहिरंग रूप की महिमा हुई और कुछ ज्ञात;
तू-तू, मैं-मैं, यह-वह के सब हुए आवरण दूर;
वह अद्वैत हुआ सम्मुख, जो अब तक था अज्ञात।

अपने श्रम की देख व्यर्थता मानव ने चुपचाप,—
गही शरण उस नियति नियम की जिसका क्षेत्र अमाप;
और, सोचने लगा कि क्या है यह सब दुर्दम खेल ?
क्यों है जीवन में इतना यह निपट विवशता-शाप ?

नियति तुम्हारे लिए अटल है; पर, सोचो यह बात,—
कि जो नियति-निर्माण-हेतु है वह क्या है अज्ञात ?
है निर्बन्ध प्रेरणा चेतन के विकास में व्याप्त;
तब, इच्छा-स्वातन्त्र्य तुम्हारा है स्वभाव, सहजात।

कलिल जात जीवन्-अणु से तुम स्वेच्छा से ही आज—
द्विपद, द्विभुज, मनवान, बुद्धियुत बने सृजन के राज;
इस प्रकार है स्वयं सिद्ध तब इच्छा का स्वातन्त्र्य;
और कर्म-स्वातन्त्र्य सजाता है सर्जन के साज।

क्या है नियति ? नियति है केवल कर्म-समुच्चय, मित्र,
और क्रिया की प्रतिक्रिया है निश्चय अक्षय, मित्र;
कर्म तुम्हारे पच न सके जो वे बन नियति कठोर,—
तुम्हें विवश-सा नचा रहे हैं जीवन-नाच विचित्र।

स्वेच्छा प्रेरित, स्वकृत, शुभ, अशुभ, जो एकत्रित कर्म–
उनमें ही है निहित नियति की जन्म-कथा का मर्म;
फिर भी सन्तत विद्यमान है तव स्वकर्म-स्वातन्त्र्य;
विषम-सम नियति-नाश, तुम्हारा है आत्यन्तिक धर्म ।

कथित अमोघ नियति का कर्त्ता जो मानव मनवान्–
हर्त्ता भी हो सकता है यदि हो सचेष्ट सज्ञान;
चक्रव्यूह-भेद प्राक्तन का करना, यह है शक्य,–
यदि हों लौह-सार-बल संयुत इस मानव के प्राण ।

यह सब है ध्रुवसत्य किन्तु तुम निरखो वह निरीह प्राणी,–
जिसके नयनों में जल-कण हैं और मूक जिसकी वाणी,–
जिसका जीवन नियति हस्तगत कन्दुक बनकर लुढ़क रहा,–
स्वकृत कर्म-स्वातन्त्र्य भावना ऐसे तन ने कब जानी ?

वृथा के डींग भरो तुम न यारो;
तनिक निज ओर भी तो तुम निहारो;
मिला कब कर्म का स्वातन्त्र्य तुमको ?
तनिक अपनी दशा भी तो विचारो ?

आ गया सम्मुख तुम्हारे भाग्य का यह खेल;
हो गयी है वक्र, बन्धुर, कठिन जीवन-गैल;
पूर्व के अभिशाप का सह चरण तुमको प्राप्त;
काट सकते हो सहज क्या कलित जो विप-बेल ?

चिर तितिक्षा, धैर्य, साहस, शान्ति, क्षान्ति अपार,-
नित्य निज कर्त्तव्य-पालन, हृदय-भाव उदार,–
दोष-दर्शन-शून्य आँखें, स्नेहमय मन, प्राण,–
ये मिलें तब स्वयं होगा नियति का संहार ।

सहन कर लो, सहन कर लो, नित सहो यह शाप,
अन्य का यह नहीं, यह तो है तुम्हारा पाप;
भाग जाओगे कहाँ ? कुछ तो कहो, रण छोड़ ?
बाँध दोगे किस कामी पर कर्म के शर-चाप ?

पलायन है व्यर्थ का ही पापपूर्ण प्रपंच,
कौन कहता है कि इससे शान्ति मिलती रंच ?
लुढ़कते वे अतल पहुँचे, फिर वितल, पाताल,–
जो पलायित हुए सहसा छोड़ जीवन-मंच ।

तुम न भागो, लड़ो, जूझो निज नियति के संग;
बस, तभी होगी तुम्हारी शृंखला यह भंग;
भागने से तो निगड़ सम तव चरण को बाँध–
वह बनेगी विकट भावी बन्धनों का अंग ।

कालकूट जो घोला–
जीवन-रस में अजान में तुमने,–
उसे पान करने क्या–
शिव आयेंगे शिवा छोड़ गिरि वे ?

अमृत स्वसंचित मधुमय–
सम्पुट भर-भर चाहो तो बाँटो ;
पर, विष-प्याला अपना
पीना सदा पड़ेगा तुमको ही ।

तव प्रसन्नता में हैं–
भागधेय संसृति के सब प्राणी ;
किन्तु तुम्हारा रोना–
तुम्हें छोड़कर अन्य न रोवेगा ।

अपनी सजला आँखें–
करो निर्जला; और, भरो उनमें–
वे दृढ़ निश्चय-किरणें–
हरें ध्वान्त जो विकृति-नियति-सृति का ।

कालकूट पीकर ही
धूर्जटि बन आये अशंक की शंका
स्वकृत हलाहल पीकर
और नहीं, तुम बनो शम्भु-किंकर ही ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२२ जून, १९५५

■

दुराव

कुछ रहस्य है ऐसा,
जिसे तुम्हारे विश्वासी जनमी
तुमको नहीं बताते;
तो तुमको क्यों हो इससे अचरज ?

सब जन अपनी खिचड़ी–
पका रहे हैं अपने चूल्हे पर;
तुम्हें क्या पड़ी है जो–
देखो : दाने पके हैं कि कच्चे ?

भाग्य सराहो अपने
कि तुम रखे जाते हो दूर सदा;
विपद मोल क्यों लोगे ?
गुप्त मन्त्रणा एक यन्त्रणा है।

'अपनी - अपनी ढपली,
अपना-अपना राग, गीत अपना;'
नियम नहीं यह दूषित
यदि न बनें जन क्षुद्र स्वार्थ केन्द्रित।

स्वयं बजाने से ढप
ठीक ताल-गति सीखेगा मानव;
क्या गति होगी उसकी—
तुम्हीं बजाते रहे ढोल-ढप जो?

और बिना आलापे-
अपना राग, सिद्ध स्वर कैसे हो ?
गाओ तुम जो चाहो,
पर, अन्यों के कण्ठ न सुधरेंगे।

अच्छा है, वे तुमसे
निज सम्बन्धित बात नहीं कहते;
करो प्रशंसा उनकी
कि है आत्म-विश्वास उन्हें इतना !

हाँ, पर, एक खटक है :
कि जब गोपनीयता रहे इतनी—

तो फिर, संग चलने में
क्या कोई शुचि रुचि रह जाती है?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२२ जून, १९५५, रात्रि १२.३०

■

वृकोदरी ज्वाला

नारी के नेत्रों में –
मँडरायी दानवी वासना की,–
तब मानवी बिचारी
गली-गली की डाइन बन आयी।

नर में भी नारायण
चाहे उतरें, या कि नहीं उतरें;
पर, नारी के हिय में
नारायणी न उतरे तब क्या हो?

देखी हैं वे आँखें
जहाँ जल रही वृकोदरी ज्वाला?
देख, रह गये होंगे
स्तम्भित, निष्पन्दित, वंचित, शंकित!

नग्न मानवी देखी?
वैसी जैसी कि हाट में बैठी?
स्वयंचलित वाहन में (ऑटोमोबाइल में) (ऑटोमवील में भी)
वैसी ही निर्लज्जा बैठी है!

सुख की ललक हिये में,-
लेकर विचरी मानव की बेटी;
मद्य, मांस, मैथुन की–
बन आयी वह घृणित क्रीत दासी।

घनी सान्ध्य वेला में –
कुतुब लाट छाया के नीचे,
जार-अंक में, पीकर,
धन्य कर रही है वह निज जीवन ?

क्या रोना आता है–
लख समाज का सस्ता नारीपन ?
रोना हो तो रो लो;
पर, न बनाओ अम्ल प्रेम-पय को।

मत खोओ तुम नर के
नारायणत्व में अपनी आस्था।
और, मानवी को तुम
दैवी गुण-विभूषिता ही मानो।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२२ जून, १९५५, रात्रि २.३०

■

पिंजर-मुक्ति-युक्ति

'राधा कृष्ण' न बोले,
और, न 'सीता राम' कहा उन ने;
चुग्गा खाकर शुक जी–
'ठेंऊँ-टेंऊँ-टियाँ' लगे करने।

कई युगों से बैठे
बन्दी कीर पींजरे में अपने;
खाते हैं, पीते हैं;
किन्तु न अक्षर एक सीख पाये ।

रहे असंस्कृत अब तक,
तो क्या छोड़े आशा संस्कृति की ?
ये क्या वह ऊसर हैं—
जिसमें कोई बीज नहीं जमता ?

सुआराम, क्या यों ही—
बने रहोगे जंगली के जंगली ?
वन्य भाव अब छोड़ो
करो पठित एकाध नाम-अक्षर ।

व्यर्थ करो मत टें-टें;
और, न अपने पंख फड़फड़ाओ ।
पिंजरे की तीली पर
मत रगड़ो अब और चोंच अपनो ।

पिंजर-मुक्ति मिलेगी,—
जब तुम निश्चल, शान्त, सौम्य होकर,
लेकर अक्षर-आश्रम,—
अन्तरिक्ष नापोगे नयनों से ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२३ जून, १९५५

■

यों शूल-युक्त, यों अहि-आलिंगित है जीवन

था एक समय वह जब जीवन में सूनापन—
करता रहता था साँय-साँय प्रतिपल, क्षण-क्षण;
जब था अतृप्ति से आच्छादित यों अन्तर्नय—
हो भरा हुआ ज्यों गो-खुर-रज से सान्ध्य-गगन।

उस सूनेपन में ऊषा जब कि विहँसती थी—
अपनी प्राची-गोदी में मधु कल्पना भरे,—
तब लगता था : श्मशान की नीरव पीड़ा में—
भावी मंगल के स्वप्न व्यर्थ आकर उतरे।

उस समय दिवस बढ़ता था हौले-हौले यों,—
जैसे बढ़ता हो भ्रान्त पथिक सूने पथ पर;
यों लगता था कि काल भी अपना कलन-धर्म,—
बिसरा बैठा है, और हुआ है वह स्थावर।

ज्यों-त्यों कर के सूनी सन्ध्या झुक आती थी,
मानो कि रूक्ष केशी भिखारिणी, लकुटी पर,—
झुक जाये, नयनों में भर याच्ञा युग-युग की,
हो जिसे न आस्था रंच काल की भृकुटी पर।

आती-जाती थी अँधियारी या उजियाली—
रत्नोपजटित वा सोम-रश्मि-सिंचित रातें,—
जिनके अन्तर में शिलीभूत आँसू मन के
रंच न कर पाते थे अपने भव की बातें।

प्राची से, पश्चिम दिशि से, या कि मध्य दिन में—
जब-जब रवि ने देखा मेरा सूना जीवन,—
तो वह भी लगा सोचने कि क्या कभी देखा
ऐसा चेतन-मण्डित हत भाग्य मृत्तिका-कण ?

अन्तरतर मय क्षुत्-क्षीण, नेत्रमय तृषा भरे,—
मन मेरा अमन, हृदय रीता-रीता अशान्त,-
अस्तित्व-भार दुर्वह, पथ-चरण असम्भव अति,
मैं चर, स्तम्भित-स्थित अचर सदृश, मय प्राण शान्त।

ऐसे क्षण मेरा पूर्व शाप बन हितकामी—
बोला : क्या भूखा-प्यासा है, रे तू प्राणी ?
तो ले यह प्रभु प्रसाद, ले प्रभु चरणामृत तू,
मैंने समझा मय सुकृत हुआ औघड़ दानी ।

ले लिया ईश की कृपा समझ जो कुछ मैंने,
वह विष-फल और विष-उदक ही निकला, भाई;
पर, यह है यदि मम कृत का फल तो फिर क्या वश ?
निश्चित थी जो कुछ कुगति वही आगे आई ।

शीतल, कोमल, अति मसृण व्याल में गरल अमित;
नयनाभिराम नर-नारी में वासना-ज्वाल,
यह देख पूछ बैठा मानव अपने मन से-
हे मन, ऐसे जन से क्या अच्छा नहीं व्याल ?

विश्वास, स्नेह, सम्मान-दान का प्रतिफल यदि—
है केवल प्रवंचना, छल, लज्जाहीन कपट,
विश्वासघात, संकोच शून्य वासना-तृप्ति,
तब मानव के हिय में न उठे क्यों एक लपट ?

मैंने तोड़ा जो फुल्ल कुसुम तो क्या देखा ?
उसके अन्तर में एक भयंकर तक्षक है ।
मैंने सोचा : मैंने कब ऋषि-अपमान किया ?
जो मुझको मिला परीक्षित जीवन-भक्षक है ?

मैं कितना हूँ सर्पाभिभूत, कुछ मत पूछो,
मैं लहराता ही रहता हूँ प्रत्येक घड़ी
औ' तक्षक मुझसे लिपटे बैठा है ऐसे
जैसे मैं हूँ चन्दन की कोई एक छड़ी ।

थक हारे बीन बजाकर, सावर पढ़-पढ़कर;
गारुड़ी अनेकों सर्प - मन्त्र - तत्त्वज्ञानी
पर, यह तक्षक है कि न टस से मस हुआ रंच,
उसको चालित न कर सका अभिमन्त्रित पानी ।

नय की परिभाषा बाँची और अनय की भी
दिन रात, बैठ एकासन, बड़े परिश्रम से;
जितना ही पढ़ा, बढ़ गयी उलझन उतनी ही
मन मुक्त नहीं हो सका विचारों के भ्रम से ।

स्थिर बैठ, रात को झिल-मिल तारों के नीचे,–
मैं लगा पूछने जब कि प्रश्न पर प्रश्न निरे,–
तब कहा किसी ने कि मत व्यर्थ में उलझ, अरे,
उलझन के बल क्या तव पूर्वज भव-जलधि तिरे ?

मत पूछ कि सम्मुख जो कुछ आये आने दे,
ले ले पल्ला पसार कर, वह मधु हो या कटु;
तू कैसे उसे ग्रहण करता है, बस, इससे –
निर्णय होगा – तू अकुशल है या है तू पटु ।

होती नभ से जीवन-दायिनी अमिय-वर्षा;
पर, यदि कृशानु की नदी बह उठे अम्बर से-
तब क्या तू यों कह उठेगा कि अन्याय हुआ ?
क्या सृष्टा से है प्रेम ? नहीं प्रलयंकर से ?

कट गया मोह का जाल, मिट गया भ्रम भारी,
जो तेरे सारे सपने चकनाचूर हुए;
जो अपने कहने-भर को ये हो गये अन्य
अच्छा है, जो कि निकट थे वे अब दूर हुए।

गड़ गया पग-थली में जो काँटा कोकड़ का
मैं बोल उठा : है दुष्ट स्वभाव युक्त काँटा।
पर, शूल बोल उट्ठा झुँझलाकर, ओ अन्धे,
निज चरण-धरण हित तू ने मुझको क्यों छाँटा ?

मैं पड़ा हुआ था, तू निकला उस पथ होकर,
औ' चरण-लीन करके मुझको तू ले आया,
अब खटक रहा हूँ तब तू क्यों रोता है, रे,
तू ही तो मुझको उस सूने पथ से लाया।

तू एकाकी था, मैं अब तेरा संगी हूँ
तू जहाँ जायगा वहीं रहूँगा तेरे संग,
तू लँगड़ाता है, तो लँगड़ा ले, किन्तु मित्र,–
मुझसे ही तो है निपट कण्टकित तव अंग-अंग।

है बात ठीक यह मम पग-तल-गत कण्टक की;
है मेरा दोष कि मैंने पाँव धरा उस पर;
पर, यदि उसमें सुमनोचित गुण होते तो क्यों–
वह मुझे सालता रहता यों भीतर घुसकर ?

मैं स्वयं बन गया हूँ शूली उसको लेकर,
शूली भी ऐसा जैसे हो कोई बबूल,
है कुसुम-व्याज से फूल रहे मुझ पर इतने—
ये नोंकदार, छेदन-समर्थ अनगिनत शूल !

यों शूल-युक्त, यों अहि-आलिंगित है जीवन;
पर, सुमन, सुधा का है स्वभाव मेरा, निश्चय;
निश्चय ही होंगे कण्टक परिणत सुमनों में,
बरसेगा अमृत और होगा अहि-विष का क्षय ।

मैं अमृत-पुत्र, मैं सुधा-सुवन, मैं सुमन-जात,
यह गरल और ये शूल छद्म छल-छाया है;
मैं सदानन्दमय, मैं चिन्मय, मैं ईश-वृत्ति
वेदना वृन्द तो भ्रम है, केवल माया है ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
३० जून, १९५५

■

करुणा-घन

झर-झर-झर बरसे करुणा-घन;
सर-सर-सर सिहरे तृण-तरु-तन;
झर-झर-झर बरसे करुणा-घन !

नाद-निरत, अति ध्वनित गगन-मन;
अवनि मृदंग-घोर सुन उन्मन;
हरित भरित नित चिन्मय चेतन;
सिहर-सिहर हरषे मृण्मय कण;
झर-झर-झर बरसे करुणा-घन;
सर-सर-सर सिहरे तृण-तरु-तन।

सन-सन-सनन समीरण-रिंगण,
झींगुर-झंकृति किंकिणि-सिंजन;
करवन-उपवन-राजि प्रमन्थन,
हहरा हर-हर-हहर-प्रभंजन,
झर-झर-झर बरसे करुणा-घन;
सर-सर-सर सिहरे तृण-तरु-तन।

तरणि-ज्वालमय धरणि-काल-क्षण
शान्त, तृप्त पाकर घन-तर्पण;
ले अम्बर का अर्घ्य-समर्पण—
थर-थर-थर वसुधा-हिय आंगण
कम्पित भू-प्रांगण;
झर-झर-झर बरसे करुणा-घन;
सर-सर-सर सिहरे तृण-तरु-तन।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ जुलाई १९५५, रात्रि २.५५

■

हे ज्योतिर्मय

अपनी दीप्ति-किरण से कर दो जग-मग इस धरणी का आँगन
हे ज्योतिर्मय, निज द्युति-स्मिति से कर दो सस्मित जन-गण-आनन।

यह वसुधा, यह धीर धरित्री, यह वराह-उद्धृता, नग-धृता,–
अचला, विश्वम्भरा, रसा यह, अर्णव-वसनोर्मि-आवृता,–
सुमन-पर्ण-तृण-राजि-संयुता, रत्न-पण्डिता, यत्न-संस्कृता,–
आज ध्वंस-उन्मुखी बन रही मानव की लिप्सा के कारण;
हे ज्योतिर्मय, तव द्युति-कर से हो जन-मन-घन-ध्वान्त-निवारण।

निज विनाश रत, उद्धत, मतिहत, योगभ्रष्ट यह वामन मानव,–
अहंकार-मज्जित, निर्लज्जित, बना रहा है, निज को दानव;
अहंकार-कर्दम-निमग्न, यह नग्न बन रहा है अति दानव
उन्नत बुद्धि अधोनत निष्ठा, तब, इसका हो क्यों न पराभव ?
तुम मंगलमय इस जगती पर करो अवतरित नन्दन कानन;
हे ज्योतिर्मय, निज आभा से चमका दो धरणी का आँगन।

भारत-भूमि तो सदा रही है प्यारी क्रीड़ा-स्थली तुम्हारी;
सदा भेजते रहे यहाँ तुम अपने तेज-अंश-अवतारी;
वर दो : इस स्वाधीन देश के हम आबाल वृद्ध नर-नारी,–
तव विश्व-भर रूप निहारें, कहें नित्य उसका आराधन;
हे ज्योतिर्मय, विश्व-नाश का तिमिर हरो, चमके वसुधांगन।

५ विण्डसर प्लेस, नयी दिल्ली
८ अगस्त, १९५५

■

नौका-निर्वाण

यह रात मौन-व्रत धारे,
ओढ़े यह चादर काली,
लक्षावधि झिलमिल आँखें
क्यों दिखा रही मतवाली?

अन्तरतर का अँधियारा
यह फैल पड़ा भूतल में,
सब ओर यही है छाया –
वन-उपवन में, जल-थल में।

कैसे बन गया अँधेरा
मेरा वह रूप उजेला ?
कैसे लुट गया अचानक
मेरे प्रकाश का मेला ?

क्या तुम सुनना चाहोगे ?
वह तो है एक कहानी;
जग सुनके हँस देता है,
उलझी-सी बात बिरानी।

गिनता रहता हूँ तारे,
सूनी कुटिया रोती है;
ये तारे हैं अंगारे
या थाल-भरे मोती हैं ?

मोती की सुध आते ही
सोती पीड़ा जगती है;
ग्रीवा की माल तुम्हारी
हिय में डुलने लगती है।

आके बयार धीरे से
थपकी दे लगी सुलाने;
उस निशि की मधुरस्मृति को
हलके-से लगी भुलाने।

पर नींद हो गयी बैरिन,
नैनों को छोड़ सिधारी;
यह रात, बिरात हुई है,
आँखें क्या करें बिचारी ?

धीरे-धीरे सब बातें
जग-जगके आयीं आगे ;
विस्मृति ने नाता तोड़ा,
ये पुनः स्मरण सब जागे।

उस निशि की सुध आयी है,
जब शरद-चाँदनी छायी,
नभ को करके आलोकित
सरिता-तट पे मुसकायी।

मेरी टूटी-सी नैया
गंगा के नीले जल में
डुलती थी, थिरक रही थी,
कम्पित होती पल-पल में।

तुमको बिठलाके हिय में
पूनो का चाँद निहारूँ;
लहरों पे राज करूँ मैं,
तुम पे सब सरबस वारूँ ।

यह सोच-सोचकर नौका
हिय में हुलसी डुलती थी ;
उस दुग्ध-फेन रजनी में
मन की मिश्री घुलती थी ।

कितने उल्लास भरे थे,
आशाएँ हिय में कितनी ;
अनुमान नहीं था, तुममें
होगी निष्ठुरता इतनी !

मैं ड्योढ़ी पे जा बोला—
सरकार, नाव डुलती है !
तुम बोल उठे—पागल की
क्षण में आँखें खुलती हैं !

उफ़्! कैसी निष्ठुरता थी!
क्या अरमानों का वध था!
उन वचनों में, हे निर्दय,
कितना पीड़ाकर मद था!

वह शरद-पूर्णिमा मेरी
सूनी ही रही अभागी ;
उस रात लगा जो झटका,
हिय भी हो चला विरागी।

अब शीतल जल के तल में
मेरी तरणी सोती है;
तट पे, यह भग्ना वंशी,
उसकी पीड़ा रोती है।

इस रात, अचानक, कैसे,
सुध उस निशि की हो आयी ?
निष्ठुरा पुनः स्मृति मेरी
क्यों उसे खींच ले आयी ?

■

दोलाचल वृत्ति

ओ अभिशप्त, की न तूने ही यह याचना अलख चरणों में :
'देव, नेह मेरे प्रति उनका गरल बना दो, दुखद क्षणों में,
उनका नव अनुराग सलौना बन जाये विरक्ति की छाया,
वरद, नेह को घृणा बना दो, मुझे बना दो निपट पराया;
इस सनेह-वरदान-भार को, बोलो, कैसे सहन करूँ मैं ?
इस बलिष्ठ, पर, कम्पित कर में यह धन कैसे ग्रहण करूँ मैं ?'

अरे अभागे यही प्रार्थना उट्ठी थी तव अन्तरतर से,
नभ-गंगा-सी यही याचना-धार बही थी हिय अम्बर से,
अलख चरण तक गयी धार बह और हुए वे पद प्रक्षालित
अथवा तव याचना हो गयी 'एवमस्तु' वर से प्रतिपालित,
लो, उनके मन-वचन-कर्म से छलकी घृणा आज तेरे प्रति,
घोर विरति में अब परिणत है उनके अमल-नेह की संस्कृति।

क्या सूझा था तुझे ? जनम में, एक बार वह नेह मिला था,
एक. बार ही तो जीवन में पीतम तुझे सदेह मिला था;
फिर भी तो तू घबराकर यों चीख़ उठा 'हे देव, नहीं यह,'
ज़रा बोल क्यों थी दाहकता ? क्यों थी वह घबराहट दु:सह ?
पद निक्षेप एक दिशि में, फिर, झिझक, और फिर चलने का मन ?
यह कैसी अटपटी बात ? यह कैसा मन्थर आत्म-प्रवंचन ?

ओ अजान, मनु-वंशज के तुम अति अथाह हिय-सिन्धु सलौने,
कैसे तेरी गहराई में पैठें ? सब मानव हैं बौने;
हृदय-उदधि में घोर विरोधी-भाव-वीचि, विक्षोभ मचा है,
इसके अर्राटे ने अपना एक अलग संसार रचा है
कुकृति, सुकृति, स्वीकृति, अस्वीकृति,
सद-सद्गति, रति, विरति भयंकर
इस विडम्बना ही में अब तक उलझा रहा सनेह निरन्तर।

पिय का नेह मिला, हिय हुलसा, ललचाया, दौड़ा फिर झिझका,
फिर कुछ आतुर हुआ, और फिर कुछ अकुलाया, कुछ-कुछ हिचका,
मधुरस में यह कँकरीलापन ! है कुछ ऐसा भाग मनुज का,
वर में भी अभिशाप देखना, शेवा है इस देवानुज का
मन:प्रसार कणों में भी है आत्म ग्लानि की सुप्त व्यथा कुछ,
नेह प्राप्ति में भी रहती है अस्वीकृति की अकथ कथा कुछ।

ये औचित्यानौचित्यों के किसने रच डाले हैं बन्धन ?
ज्ञान-भाव यह कैसा जो यों कहता है कि थमें हिय-स्पन्दन ?
यह सदसद्विवेक का भीषण शाप मिला रे द्विपद पशु तुझे,
और विवेक शून्य अंगारे मिले, बुझाये भी न जो बुझें;
आग जलाती है, विवेक यह रो-रोकर वर्जित करता है,
और अवश अनुताप-दु:ख से यह मानव-जीवन भरता है।

अब, जब उनके रोम-रोम में उदासीनता, घृणा छा गयी,
अब, जब उनके मृदु नयनों में कटु, विरक्ति-भावना आ गयी,
तब तू यों लालायित होकर मना रहा है क्यों यह मन में :
कि इस दुखी जीवन से तो कुछ सुख शायद मिल जाय निधन में !
अब, जब तव प्यासे लोचन ये उन चरणों में अड़ जाते हैं,
तब, क्या देखा नहीं कि, उनके माथे पर बल पड़ जाते हैं ?

तेरा दिल भी आने-जाने वाला एक हिंडोला है, नर,
बड़ी होशियारी है तुझमें, फिर भी तू कुछ भोला है, नर,
क्षणिक ज्ञान के क्षणिक जोश में माँग चुका है विरति-दान तू,
अब लो उन्हें असह्य हो उठा तव अवलोकन, सत्य मान तू;
अब क्या फिर भी ललक-ललककर माँगेगा उनका सनेह तू
अरे क्या रखा है इसमें अब ? बना नेह अपना विदेह तू ।

देव बता दो तुम्हीं कि कैसे रोकूँ यह उन्मत्ताकर्षण ?
संयम अग्नि-कुण्ड में कैसे 'स्वाहा' कह छोड़ूँ हिय-घर्षण ?
मेरा अग्नि-कुण्ड है केवल पावकहीन राख की ढेरी,
और सुनो, स्वाहा कहने की इतनी ताव नहीं है मेरी;
खिंचता ही जाता हूँ बरबस, किन्तु, हाय, फिर पछताता हूँ;
'तथा करोमि नियुक्तोऽस्मि यथा' — यही कथन मैं सच पाता हूँ !

क्यों यह दिया राग-रस इतना ? क्यों यह चंचलपन दे डाला ?
क्यों त्रिगुणों को सूत्रबद्ध कर पहिना दी आकर्षण माला ?
इतने पर भी तुम कर लेते यदि सन्तोष, न था कुछ भी डर,
पर विवेक शृंखला डालकर नर को बना दिया है वानर;
अब देखो यह कैसे-कैसे नाच नाचता है निशि वासर,
इसके पद-विन्यास कँप रहे विरुद्धाचरण गति से थर-थर।

भीख माँगता हूँ, याचक हूँ, बल दो, हे, बल दो, हे बल दो,
मन्थन थम जाये, सेन्द्रियता विजिता हो, यह वर अविकल दो,
लीला की प्रियता की भी तो मर्यादा है, कुछ सीमा है,
फिर भी मुझे नचाने का यह तव उत्साह न क्यों धीमा है ?
हिय में षण्ढ विराग भरा है, है अनुताप, किन्तु है निष्क्रिय,
अब तो समय आ गया है तुम कर दो इसको सक्रिय, हे प्रिय।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
जुलाई, १९३६

■

उड़ चला

उड़ चला इस सान्ध्य नभ में,
मन-विहग तज निज बसेरा;
क्यों चला ? किस दिशि चला ?
किसने उसे यों आज टेरा ?

क्यों हुए सहसा स्फुरित, अति,
शिथिल, संश्लथ पंख उसके ?
क्या हुए हैं उदित नभ में,
चन्द्रमा अकलंक उसके ?
विकल आतुर-सा उड़ा है
मन - विहंगम आज मेरा ?

शून्य का आतुर निमन्त्रण,
आज उसको मिल गया है;
क्षितिज की विस्तीर्णता का,
पवन - अंचल हिल गया है

प्राण पंछी ने गगन में
ललक कौतूहल बिखेरा ।

स्वनित उड्डीयन ध्वनित - गति –
जनित अनहद नाद से यह
दिग्दिगन्ताकाश वक्षस्थल,
रहा है गूँज अहरह;

ऊर्ध्व गति ने ध्यान-मग्ना –
गीत-यति को आन घेरा ।
उड़ चला इस सान्ध्य-नभ में,
मन - विहग तज निज बसेरा ।

■

सिरजन की ललकारें मेरी !

धधक रहा है सब भूमण्डल,
भूधर खौल रहे निशि-वासर,
सखे, आज शोलों की बारिश
नभ से होती है झर-झर-झर;

घन-गर्जन से भी प्रचण्डतर
शतघ्नियों का गर्जन भीषण, –
घर्षण करता है मानव-हिय;
जग में मचा और संघर्षण;

नर ही स्वयं बना है नर के
रक्त-मांस का प्यासा भक्षक;
आज पुष्प - से मानव-हिय में
आ बैठा है कोई तक्षक ।

रक्त-भूमि बन गयी हाय, यह
पयस्विनी वसुधा मानव की;
शुक कपोत कोकिला कूजिता
कहाँ गयी वीथी माधव की ?

आज उठ रही है चिल्लाहट
नभ में त्राहि ! त्राहि !! के रव की,
स्वर्ग-भूमि हो गयी, सखे यह
मज्जास्थली घृणित रौरव की;

नर के नारकीय भावों ने
जगती में ऐसा खुल खेला –
कि यह विश्व बन गया निमिष में
एक भयानक मरघट-मेला !

जहाँ दौड़ते थे पहले नर
जीवन - दान मृतों को देने,
वहीं आज बढ़ते हैं वे ही
जीवित के प्राणों को लेने;

दारुण द्वेष दृगों में छाया,
मारण भरा किचकिचाहट में;
करुण, दया, स्नेह, वत्सलता,
कहाँ रही मानव के घट में ?

नाश – शकट अपने चक्रों से
चूर-चूर करता है जन को,
हिंसा की व्यालिनी उगलती
है विष, फैलाये निज फन को।

निविड़ और तिमिराच्छादित घन
निशि में नर तज तज अपने घर –
बने निशाचर, रेंग रहे हैं,
पेटों के बल झुका-झुका सर;
हैं बन्दूक़ – कारतूसों से,
किरचों – बमगोलों से, सज्जित,
उनकी कर्त्तव्यता – नाश है,
उनके हिय हैं रक्त-निमज्जित;
घनी रात कीचड़ धरती पर
नभ से गिरती मूसलधारें–
फिर भी रेंग रही हैं, देखो
द्विपद जन्तु की कई क़तारें !

वह देखो, खन्दक में सिकुड़ी–
सिकुड़ाई बैठी है पल्टन;
धरती माता की छाती पर
मृत्यु उगलती है मशीनगन;
दिग्-दिगन्तको कँपा रहा है
तोपों के गोलों का गर्जन,
सखे, खन्दकों में होता है
मानवता का पूर्ण विसर्जन।

तोपें धायँ-धायँ करती हैं
मानव हाय, हाय, करता है;
रणचण्डी के भरे लबालब
खप्पर से लोहू झरता है!

क्षण-क्षण में आकाश-बाण वे
तिमिर हटाते छूट रहे हैं;
थल को शोणित-पंकिल करते
बम के गोले फूट रहे हैं।

लो, मासूम नौजवानों के
छिन में चिथड़े उड़ जाते हैं;
लग जाते हैं ढेर शवों के
गीदड़ भी न उन्हें खाते हैं।

ख़ून-नरों का यही क़ीमती
ख़ून फैलता है धरती पर;
वही बना देता है कीचड़
धरती की मिट्टी में सनकर!

पंख लगाये, चीर कलेजा
नभ का, करती घर्घर-घर्घर—
वायुयान मिस गुर्राती वह
आयी मौत नरों के सर पर;

एक घृणा से देख रहा है
ऊपर से नीचे को सत्वर;
और दूसरा भीति-त्रस्त हो,
देख रहा नीचे से ऊपर;

यन्त्रारूढ़ हुए हैं दोनों;
दोनों भाई-भाई जूझे;
फूट गयी दोनों के हिय की
अपने हित की क्योंकर सूझे?

बरसी आग, ज़हर भी बरसा,
गोले बरसे, सन-सन करते,
अरे मृत्यु को नभ से भू तक
छिन भी लगा न हाय, उतरते!

मार-काट के सभी वलवले—
पल-भर में काफ़ूर हो गये;
लिये भीति, विद्वेष हिये में
ख़न्दक़वाले वीर सो गये;

इतने ही में गगनविहारी
भी खा गये चोट गोले की
भू पर गिरे, उड़ गयी चिन्दी—
चिन्दी उनके भी चोले की

पर कब रुकी रक्त की लिप्सा?
बढ़ती गयी बुझायी जितनी
प्राण स्तब्ध हैं देख-देखकर
जग में चढ़ा-ऊपरी इतनी;

युद्ध-भूमि की आग फैलती
आती है गाँवों-नगरों तक,
ध्वस्त हो रहे हैं शहरों के
गगनबिचुम्बित उन्नत मस्तक;

इतनी सदियों के सिरजन का
हुआ जा रहा नाश क्षणों में
रे नर, क्या तू ने सोचा है,
क्या रस है इन गृह्य रणों में ?

वे प्रस्वेद - कणों से सिंचित
खेत लहलहाते प्रियदर्शन,—
हुए नेस्तनाबूद क्षणों में
जब यह हुआ अग्नि का वर्षण;

ग्राम्य शान्ति-सर की लहरें वे,
वह अलबेली जीवन-सरणी,—
लोहित सी हो गयी आज क्यों ?
कहाँ गयी वह जन-मनहरणी ?

हिंसा की लपटों से झुलसी
नर की चिर-निर्माणवृत्ति सब
क्षार हो रही है देखो तो
भूत-दया, चिर-नेह, सुकृति, अब।

गाँव सभी वीरान हो रहे,
खेत हो रहे मरघट सारे,
उपजाने वाले निर्माता
बनते हैं नाशक हत्यारे,

यह कैसा है पट-परिवर्त्तन ?
यह कैसा स्वरूप-परिवर्त्तन ?
कौन पतित प्रेरणा जगी जो,
नर करता यों नाशक नर्तन ?

लुप्त हो चुका ग्रामीणों का
वह अलमस्त तराना मनहर,
अब तो उसकी जगह सुनाई
देती है चीत्कार भयंकर;

गाँवों-नगरों की गलियों में
लगे ढेर लाशों के कितने।
धूल - धूसरित हुए, हो रहे
हैं प्रासाद भव्य थे जितने;

बही नालियों में पानी की
जगह उष्ण शोणित की धारा,
नर, नारी, बालक, बूढ़ों को
भी न तनिक भी मिला सहारा;

मानव ने अपनापन खोया
उसने अपनायी दानवता,
भीषण संघर्षण में पड़कर
चकनाचूर हुई मानवता।

वे देखो माँएँ भयत्रस्ता,
लिये गोद में भावी मानव
जूझ रही हैं उसे बचाने,
उनसे, जो आये हैं दानव;

बालक लिये स्तनों को मुख में
फैलाये अपने विशुद्ध दृग,—
देख रहे हैं स्तब्ध-चकित-से,
ज्यों आखेटक को घायल मृग;

बच्चे कटे, ख़ून से उनके
हुआ जननियों का प्रक्षालन;
यों मानव ने किया कड़ककर
अपनी वत्सलता का ज्ञापन;

माँओं के जाये नर-रूपी
चण्ड राक्षसों ने आगे बढ़
छेद दिये स्तन, और दूध की
जगह ख़ूनकी धार चली कढ़!

काटे गये वही स्तन जो थे
करते मानवता का लालन,
ख़ूब किया मानव-दानव ने
पुण्य मातृ-ऋण का प्रतिपालन।

आज क्रुद्ध मातृत्व दे रहा
है अभिशाप हमें निशि-वासर,—
कैसे प्रायश्चित्त करेगा
मानव, जो है हिंसक कायर?

काटी माँएँ, छेदे उनने
कोमल बालक संगीनों पर,
बूढ़ों के भी टुकड़े करके
बने लोग भारी वीरेश्वर;

श्वेत केशयुत छिन्न मस्तकों
को निज बूटों से ठुकराकर,—
जग में किया प्रदर्शित कायर
मानव ने वार्धक्य समादर!

नैतिकता के सोपानों से
खटखट झटपट उतरा है नर,
और लात से ठेल गिरा दी
उसने स्वर्ग-निसैनी सत्वर;

बैठ वायुयानों पर अपने
वह बरसाता है ऐसे बम,
कि झट ग्राम-नगरों में भीषण
दावानल जल उठता इक दम;

मन्दिर, मसजिद, मठ, गिरिजाघर
रुचिर सदन जल उठते धू-धू;
लपटें आसमान को उठ-उठ
कर उठती हैं हा-हा-हू-हू!

सदियों की संचित संस्कृतियाँ
भस्म-रूप हो जातीं क्षण में,
निर्दय मानव ही मानव को
मिला रहा है रज के कण में!

यह कैसी विक्षिप्तता अरे?
यह कैसा उन्माद भयंकर?
जला रहे हम अपना ही घर?
काट रहे हैं अपना ही सर!

कौन छिन्नमस्ता-प्रवृत्ति यह
जाग उठी मानव हिय-भीतर?
कि जो आत्महत्या का भीषण
पाप ले रहे हम अपने सर;

क्यों देता है दाह अन्य को
यह नर स्वयं कष्ट में पड़कर ?
क्या मिल जाता है इसे, सखे,
अपने ही प्रियजन से लड़कर ?

कौन वड़ा उद्देश्य सामने ?
क्या है लक्ष्य दृगों में इनके ?
अरे, यही न कि मारें-काटें
निज स्वजनों को ही गिन-गिनके ?

इतना घृणित ध्येय ! पर उसके
प्राप्ति-अर्थ यह कठिन तपस्या ?
यह कैसे हो सका सुसम्भव ?
बड़ी विकट है यही समस्या ।

यह अज्ञान भयंकर नर का,
ये निम्नगा वृत्तियाँ उसकी,
यही वजह है कि जो जल रही
जगती जैसे ढेरी भुस की।

हाय वना जग हिंसा-पूजक,
मज़ा आ गया है कुछ ऐसा—
सोच नहीं पाता है किंचित्
कि परिणाम निकलेगा कैसा ?

शोणित-तर्पण में ही उसको,
ऐसा कुछ आह्लाद मिल रहा ?—
कि वह रक्त की धाराओं में
उतराता-डूबता बह रहा;

कोई उससे नर कहता है :
हिंसावृत्ति बुरी है, भाई,
तो वह कह देता है : तुम हो
प्रगति-विरोधी, जन-दुखदाई !

हिंसा में विश्वास निरन्तर—
यही प्रगति का है क्या लक्षण ?
प्रगतिशील हिंसा के बल क्या
कर पायेंगे जन-गण-रक्षण ?

तलवारें यदि तुम बोओगे
तो तलवारें ही उपजेंगी,
सर्वनाश कर देंगी जग का
अयुत युगों तक वे दुख देंगी;

है लोकोक्ति पुरानी यद्यपि
फिर भी है सत्यता-विमण्डित;
'जो तलवार चलायेंगे वे
तलवारों से होंगे खण्डित' !

वे कहते हैं : 'हम हिंसा के
लिए नहीं हिंसा के हामी;
हम तो जन-गण उद्धारण के
हेतु बने हिंसक निष्कामी !

आज देख लो, हम हिंसा के
बल लाये हैं नवयुग जग में;
आज प्रगति क्रीड़ा करती है
वीर रूसियों के डग-डग में;

है आदन्त शस्त्र-सज्जित जग;
तुम हो कौन ? कहाँ से आये ?
इस गत आश अहिंसा का तुम
क्या बेवक़्त सँदेसा लाये !

हटो सामने से तुम वरना
टुकड़े-टुकड़े हो जाओगे;
व्यर्थ बरबराओ मत, वरना
हाथ प्राण से धो जाओगे;

अरे, अहिंसा का इस जग में
कौन काम ? है कुटी धर्म वह;
रक्तपान-रत शोषक जग में;
हिंसा ही है परम कर्म यह;

आज शस्त्र-आयुध-मय जग के
अति कराल दंष्ट्रों के नीचे,–
मानव-मुक्ति दबी, न खिंचेगी;
अरे अहिंस्र, तुम्हारे खींचे !

है सिद्धान्त आदि से प्रचलित
नीति-शास्त्र का बड़ा पुरातन;
अन्तिम लक्ष्य, कार्य-साधन को,
सदा बना देता है पावन;

मानवता के इस शोषण का
उन्मूलन है ध्येय हमारा
मानव मुक्ति प्राप्त करना ही
प्रेय हमारा, श्रेय हमारा;

हम बम के गन-पिस्तौलों के
वाहक हैं, संचालक भी हैं,
हम हिंसक विप्लवकारी हैं;
हम जनगण प्रतिपालक भी हैं।

हम क्यों हैं हिंसा-विश्वासी ?
क्या हम हैं ख़ूँख़्वार जानवर ?
हम क्यों असि-धारण करके यों
चले खेलने आज प्राण पर ?

हम क्यों हैं, घुटनों-घुटनों तक,
लोहू की नदियों में तैरे ?
क्यों ? हमने शोणित का यों यह
तिलक लगाया साँझ-सवेरे ?

क्या हम ख़ूनी हैं ऐ शिक्षक,
मुँह न चिढ़ाओ आज हमारा ?
हैं उपदेश तुम्हारे कोरे;
हमने भी है तत्त्व विचारा।

जग के अनाचार का मन्शा
है यदि यही कि ख़ून बहे नित,
तो हम कहते हैं : हममें है
रक्त - स्राव - सामर्थ्य अपरिमित;

हमें नहीं परवाह ज़रा भी,
हम भी हैं तैयार सुसज्जित;
हैं ध्रुव चरण हमारे सन्तत,
हिय में है विश्वास अनिंगित;

हम शोणित-वैतरणी का भी
करने को सन्तरण खड़े हैं
लगी हुई है इन प्राणों की
बाज़ी, हम तो जुटे पड़े हैं।

हिंसा और अहिंसा की यह
तत्त्व-दीपिका मत समझाओ,
तुम छोड़ो यह नाद व्यर्थ का,
चलो, चलें संग, तुम-हम आओ;

इस हिंसक साम्राज्यवाद के
बड़े-बड़े तानाशाहों की –
गरज रही हैं भीषण तोपें,
क्या बिसात है वाँ आहों की ?

गर मानवता रोती है तो
रोये; क्या परवाह उन्हें है ?
तुम हो कौन खेत की मूली ?
कौन तुम्हारी आह सुने है ?

हमसे तो तुम खूब कहोगे;
ज़रा कहो उनसे भी जाकर,
ज़रा देख लो क्या होता है,
उन्हें अहिंसावाद सुनाकर ?

वे ये साधुपने की बातें,
सुनकर मुँह फेरेंगे अपना;
या फिर अट्टहास सुन उनका
होगा भंग तुम्हारा सपना;

पूर्ण शान्ति-सन्देश ज़रा भी
आज नहीं सुनने का यह जग;
हिंसामय है जन-शोणित-कण;
हिंसामय उनकी नस रग-रग;

ज़रा देर तुम ख़ुद अपना ही
हृदय चीर करके गर देखो,
कुछ तटस्थतामय वैज्ञानिक
गति से तुम निरखो अपने को

तो तुम देखोगे कि अहिंसा
निपट पराजयवाद मात्र है :
यह तव नैतिक पात्र हिरण्मय
केवल इक मृत्तिका पात्र है;

आज अहिंसा तुम कहते हो,
इसीलिए न कि विजित हुए हो ?
सूझी यह विधि, क्योंकि पराजय–
वाद-पंक में निहित हुए हो।

सचमुच कहना, यदि तुम होते
इस विशाल से गृह के स्वामी –
तब भी इसी अहिंसा के क्या
तुम सचमुच बनते अनुगामी ?

तब तो राजदण्ड धारण कर
तुमको हिंसक बनना पड़ता;
तुम आँखें निकालते जग की,
गर वह तुमसे आकर लड़ता;

किन्तु पराजित हो, बस इससे
आज अनुत्तरदायी हो तुम,
अत: अहिंसा की मदिरा के
आज बने मधु-पायी हो तुम;

आँखें खोल ज़रा तो देखो,
यह नर क्या है इसे विचारो,
फिर तुम यहाँ अहिंसा साधो;
तब तुम पूर्ण शान्ति-व्रत धारो;

नर क्या है ? केवल कुछ आदिम
प्रबल भावनाओं की ढेरी,
है नर की रुझान युग-युग से
निम्न - वासनाओं की चेरी;

शोणित औ' मज्जा से लथपथ
है नर के नख, चरण और रद;
नर क्या है ? सोचो नर तो है —
काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, मद।

इसी वासना-पुंज जीव को
क्या तुम देव बनाने आये ?
आज इसी के लिए कहीं क्या
तुम यह शान्ति-सँदेसा लाये ?

मानव सदा रहेगा मानव,
है प्रयास सब व्यर्थ तुम्हारा,
नहीं समझ पायेगा कोई,
है दुरूह-सा अर्थ तुम्हारा;

क्यों अरण्य-रोदन करते हो ?
व्यर्थ न अश्रु बहाओ अपने;
होंगे ढेर वक़्त आने पर
तव जीवन भर के सब सपने।

एक महा मानव जगती में
उन्निद्रित-सा ध्यान लगाये,—
श्रवण कर रहा था यह सब कुछ
बड़े जतन से कान लगाये;

सुनकर इन सब उद्‌गारों को
तड़प उठा उसका अन्तस्तल,
और हो गया निमिष-मात्र को
कुछ विचलित-सा वह चिर अविचल;

अपने अज्ञानी जन-गण के
प्रति उसने कुछ ऐसे ताका,
मानो लोक की संचित
करुणा ने नयनों से झाँका।

फिर सागर—गम्भीर गिरा से
उच्चारित कीं वचनावलियाँ—
अथवा घृणामयी जगती को
अर्पित कीं सनेह अंजलियाँ :

'मानव, तुम तार्किक हो, लेकिन
तर्क नहीं निस्सीम अपरिमित,
उसकी भी सीमाएँ हैं, पर,
उनसे शायद तुम न सुपरिचित;

मत अवलम्बित रहो तर्क पर
तर्क-सूत्र का कौन सहारा,
कहीं न हेत्वाभासों में ही
उलझ जाय यह जीवन सारा।

अरे, विहग – अवलोकन के मिस
उट्ठो ज़रा सतह से ऊपर,
अपने डैने फैलाकर कुछ,
नापो भूधर, सागर, अम्बर,

एक दृष्टि में मानवता को
देखो, उसकी कुगति निहारो;
आज हमारी विकट समस्या
क्या है, इसको ज़रा विचारो;

यदि तुम गहरे में पैठो तो
देखोगे कि प्रश्न है भारी,
केवल शोषण–उन्मूलन ही
नहीं समस्या एक हमारी;

माना तुम दलितोद्धारक हो,
माना तुम हिंसक निष्कामी,
पर क्या तुम जन-उद्धारण-हित
आज बने हिंसा के हामी ?

हिंसा से जन-मोक्ष मिलेगा ?
इतनी सुलभ मुक्ति मानव की ?
तब तो भाई बड़ी सुलभ है
बन्धन-खण्डन-विधि इस भव की;

क्या है मुक्ति ? ज़रा तो सोचो,
अर्थ-दास्य ही क्या इक बन्धन?
अरे, रूस में भी तो अब तक
उठता है मानव का क्रन्दन !

संस्कृति की पूर्णता कहाँ है ?
क्या है चरम सभ्यता नर की ?
भौतिक सम्पन्नता मात्र ही
शोभा नहीं मनुज के घर की;

मनोविकार - दमन ही केवल
माप-दण्ड है चिर - संस्कृति का;
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, भय
शाश्वत रिपुदल है संसृति का,

जब तक अवश रहेंगे ये रिपु
तब तक कहाँ नवल युग जग में ?
बन्धन ही बन्धन उलझेंगे
इस मानवता के पग-पग में।

निशिवासर मदनुष्ठानों के
लिये निरन्तर तन्मय खपना,
वर को सत्य सन्ध करने के
लिए कर्म-धूनी में तपना;

यही परम पुरुषार्थ सनातन,
है बस यही कर्म श्रेयस्कर;
अपने बन्धन से विमोक्ष निज,
इसी तरह पा सकता है नर;

बुद्धि-विलासी हुआ जीव यह,
रुका सहज नैतिक विकास-क्रम
बढ़कर मस्तिष्क ने हृदय के
आगे फैलाया है सम्भ्रम;

अर्थ-दास्य से मुक्ति-मात्र क्या
फैला सकती है सुख जग में ?
जब कि अर्थ एषणा घुसी है
इस मानवता की रग-रग में ?

जन-शोषण-विनाश-क्रम केवल
नहीं बहिस्साधनावलम्बित;
है सर्वथा असम्भव जब तक
अन्तस्तल भी हो न अकम्पित;

इस आन्तरिक शुद्धि का तुमने
क्या उपाय सोचा है ? बोलो ?
अपने क्रान्तिवाद को लेकर
सत्य-तुला पर तो कुछ तौलो;

यह क्रान्ति है कि तुम करोगे,
हिंसा से हिंसा का मर्दन ?
क्रान्तिवाद क्या यही कि घहरे
इधर-उधर तोपों का गर्जन ?

सोचो तो यह क्रान्ति कौन-सा
पावन नवल सँदेसा लायी ?
नभ का वक्षस्थल तो यों ही
सदियों से कम्पित है भाई;

उसी 'कण्टकेनैव कण्टकम्'
को फिरसे तुम दुहराते हो,
घावों को गहरा करते हो,
उन्हें कहाँ तुम सुहराते हो ?

अरे मत कहो कि यह अहिंसा
निष्प्रभ कुटी-धर्म है कोरा,
इसे समष्टि रूप देने में
मैंने निज को है झकझोरा;

मेरी सत्य अहिंसा में है
गति, उद्यम, बल, ओज, निराला;
मैं हूँ महाक्रान्तदर्शी नर,
मेरी क्रान्ति निपट विकराला;

शोणित-पायी इस जग भर को
देता हूँ मैं अमृत-पात्र यह,
रूढ़िवादियों को ललकारा
मैंने देकर नया शास्त्र यह;

मेरे हिय-मन्थन से निकला
यह रस रुचिर पुरातन चिर नव;
आज नये अधिकरणों में मैं
जग को देता हूँ यह आसव;

कहता हूँ जब तक न बनेगा
यह नर नारायण का प्रतिनिधि,
तब तक व्यर्थ सिद्ध होगी यह
जगन्मोक्षकारी सब गति-विधि;

कितने वरदानों को हमने
भ्रष्ट किया, क्या कभी विचारा ?
कितनी विधियाँ हम ले डूबे ?
साक्षी है इतिहास हमारा;

जब तक वैयक्तिक-सामाजिक
आचरणों में भेद रहेगा—
जब तक व्यष्टि - समष्टि धर्म का
स्रोत अलग़ से यहाँ वहेगा,—

अरे सत्य-शान्ति की सरणि जब
तक न विश्व-व्यापिनी बनेगी,—
जब तक न यह नदी छोटी, जग—
प्लावक मन्दाकिनी बनेगी,—

जब तक बुद्धि और नैतिक बल
गलबहियाँ डाले न चलेंगे,—
तब तक ईति-भीतिके दानव
मानवता को सतत खलेंगे।

शोणित-मय युद्ध-प्रवृत्ति का
यह नैतिक पर्याय महाबल, —
आज रक्त के प्यासे जग के
सम्मुख रखता हूँ मैं अविचल;

है ब्रह्मास्त्र अहिंसा मेरी
तेजपुंज बलशाली, गतिमय
ऊर्ध्वगामिनी, क्लेशहारिणी,
वरदायिनी बनाती निर्भय;

तुम जन-शोषण-उन्मूलक हो ?
मैं कब हूँ शोषण का पोषक ?
पर तुम शोषक के नाशक हो,
मैं शोषण-भावों का शोषक;

तुम सामाजिक परिवर्त्तन के
ही केवल सन्तत विश्वासी
पर मैं सामाजिक-वैयक्तिक
परिवर्तन का हूँ अभ्यासी

कहता हूँ सामाजिक ढाँचा
बदलो, उसमें हो परिवर्त्तन,
किन्तु साथ ही व्यक्ति-भावना
में भी हो नव जागृति-नर्तन;

यदि न ऊर्ध्वगामिनी बनेंगी
वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ सारी,
तो सामाजिक परिवर्त्तन की
होने लग - जायेगी ख्वारी।

केवल बाह्य उपकरण के ही
नहीं बदलने के नर-नारी,
उन्हें न कर पायेगी जाग्रत
यह हिंसा-विधि सतत तुम्हारी,

इसीलिए मम प्रबल अहिंसा-
तत्त्व तुम्हारे सम्मुख आया,
जिससे मानव एकरूप हो
भूले अपना और पराया;

अन्तर्राष्ट्रीयता असम्भव
जब तक मन में खूँख़्वारी है,
सामाजिक कल्याण न होगा
जब तक हिंसा हत्यारी है;

हिंसा में विचार-मन्थन का
समय नहीं, अभ्यास नहीं है,
हिंसा में सान्तता भरी है,
वाँ, अनन्त अवकाश नहीं है;

बिना सदाशय-मय प्रणोदना
के न समुन्नत होगा मानव,
कैसे हिंसा से हो सकता
पराभूत जन-हिय का दानव ?

हिंसा से वह और भड़क कर
प्रतिहिंसक बन तन जायेगा;
बिना शान्ति के कैसे उसका
हिय-परिवर्त्तन आ पायेगा ?

निश्चय मानव - मुक्ति दबी है
विकराली डाढ़ों के नीचे,
पर वे डाढ़ें दबी हुई हैं
लिप्सा के हाड़ों के नीचे

जब तक लिप्सा के जबड़ों की
हड्डी नहीं बदलती है, नर,–
शोषण - डाढ़ों से मानवता
तब तक नहीं निकलती है, नर;

तुम कहते हो! डाढ़ तोड़ना
ही है केवल ध्येय हमारा;
मैं कहता हूँ! लिप्सा जबड़ों
का परिवर्तन श्रेय हमारा

नीति-शास्त्र को न दो दुहाई
कि शुभ ध्येय है साधन-पावन,
ध्येय वही हो जाता है शुभ
जिसमें जब रम जावे जन-मन;
इधर क्रान्तिकारी कहते हैं
अपने लक्ष्यों को जन-रंजन;
उधर घोर तानाशाहों ने
कहा स्वलक्ष्यों को दुख-भंजन;
दोनों निज-निज लक्ष्यों की ही
पावनता के अतुलित बल पर
निज पाशविक कार्यशैली को
बतलाते रहते हैं शुचितर;

अन्तिम लक्ष्य बना देता है
पतित साधनों को भी पावन?
यह सिद्धान्त निपट मिथ्या है,
न लें सहारा इसका जग-जन;
जो साधन नर के शोणित से
लथपथ, वे कब हैं श्रेयस्कर?
आओ, जग-जन, आज त्याग दें
यह सिद्धान्त, कुरूप, घृणाकर;

हिंसक विप्लवकारी होना
है विप्लव का अन्तिम तर्पण;
विप्लव में नवरस होता है;
हिंसा है पौराणिक चर्वण

मत समझो मैं चिढ़ा रहा हूँ
यह कहकर मुँह आज तुम्हारा;
मत समझो मैं समझ रहा हूँ
तुमको पापी या हत्यारा;
तुम हो प्रबल लोक-संग्राहक,
तुम प्रचण्ड उद्‌बोधनकारी,
तुमने दी हैं मानव के हित
रक्तांजलियाँ न्यारी - न्यारी
तुम तो मम समानधर्मा हो,
उग्र सरफ़रोशों की टोली,
तुम कब झिझके ? हाँ, तुमने कब
कायरता की बोली बोली ?

तुम महान् स्वप्नों के द्रष्टा,
तुम प्राणों के वीर खिलाड़ी,
तुमने अपने हुंकारों से
शोषकगण की छाती फाड़ी;
इसीलिए तुमसे कहता हूँ
सुन लो वीर बाँकुरे भाई,
आज साधनों की अशुद्धता,
देखो, हमें कहाँ ले आई ?

हिंसा की शब्दावलियों का
लिये सहारा क्यों बढ़ते हो ?
अरे शस्त्र-सज्जित होकर क्यों
मनुज-मोक्ष के हित लड़ते हो ?

जग का अनाचार ख़ूनी है,
हम क्यों बनें ख़ून के प्यासे ?
यदि जग रोता जाये तो क्या
हम भी होंगे यहाँ रुआँसे ?

अरे, हमें तो शान्ति-सौख्य का
देना है वरदान नरों को,
ध्वस्त नहीं, निर्मित करना है,
हम को गाँबों को, नगरों को;

आज ख़ून का नहीं अमिय का
वर्षण करने यहाँ पधारो,
आओ, इस झगड़े के नीचे
अहो, वीर, यह जगत उबारो;

तानाशाहों की तोपों को
ख़ूब गरज लेने दो मन-भर—
हम भी तो तोपों का चारा
बने खड़े हैं अडिग चरण धर;

क्या इन तोपों के गर्जन का
है जवाब तोपों का गर्जन ?
नहीं, बन्धु, इसका जवाब है
सन्निष्ठों का प्राण - विसर्जन;

इसीलिए भीषण तोपों के
गर्जन की न करो तैयारी
भूल - भुलैया में पड़कर मत
दिखलाओ अपनी लाचारी

क्या कहते हो कि मैं सुनाऊँ
तानाशाहों को स्वर अपना ?
ख़ूब जानता हूँ न सुनेंगे
वे मुझ एकाकी का सपना;

पर, तुम क्यों यों उपालम्भ यह
मुझे दे रहे हो सहधर्मी ?
मैं तो जग को आज बनाने
निकला हूँ अपना सहकर्मी;

विनिर्मुक्त सन्देश क्लेशहर
सुनें जिन्हें सुनना हो जी-भर,
और उपेक्षा करें वे जिन्हें
कँपा रहा हो भव-भय थर-थर;

मेरा स्वप्न उपेक्षाओं से
नहीं टूट सकता है यों ही,
जगन्मोक्ष की यह आकांक्षा
कभी छूट सकती है यों ही ?

आज तुम्हें भी मेरी आहें
जँचती है बेकार, असम्भव ?
पर, विकराल क्रान्तदर्शी मैं,
मैं क्यों सुनूँ उपेक्षा की रव ?

मेरी जड़ें गहन भावी के
गर्भ देश लौं पैठी हैं, नर,
मैं वह नहीं उगाता है जो
सरसों को कर - सम्पुट में भर;

मेरी चिर - मानिनी अहिंसा
नहीं पराजयवाद - जन्य यह;
कहाँ अहिंसा सर्वविजयिनी,
कहाँ पराजय अति जघन्य यह !

सबसे बड़ी आत्मजय जग में,
उसका यह प्रसाद दुखहारी,
इसे पराजयवाद समझकर
ठुकराते हो विप्लवकारी ?

सोने को समझा है माटी
तुमने बिना परीक्षा के ही ?
कोई बात कही जाती है
यों ही बिना समीक्षा के ही ?

अगर अहिंसा का सामाजिक
सदुपयोग है विजित - वाद ही, —
तो फिर सत्य, न्याय, संयम का
सदाचरण होगा प्रमाद ही;

तब तो हिय की सकल मधुरिमा
क्षीण - शक्तता का लक्षण है,
और शक्ति का रूप भयंकर
दुराचरण ही दुराचरण है;

कैसा है यह तर्क ज़रा तो
सोचो - समझो अपने मन में,
मानो जीवन - तत्त्व भरा है
चरम पाशविकता - गर्जन में ?

अरे, क्या कहा ? हिंसामय है
जनगण के शोणित के कण-कण ?
यदि जग हिंसामय होता तो
कैसे होता उसका पोषण ?

अन्य प्राणियों-सा यह नर भी
लुप्त हो गया होता कब का,
रंच पता भी कहीं न होता
जन संस्कृति का औ, हम सबका;

हृद्गत स्नेह अहिंसा के बल,
बन्धु, जी सका है अब तक नर,
जीवन - धारण किये हुए है
सर्वविनाशों से भी घिर कर;

हिंसा और अहिंसा दोनों
प्रकृति-सिद्ध गुण हैं मानव के,
विष, मधु, दोनों ही निकले हैं
मन्थन-सार हृदय-अर्णव के;

एक राक्षसी क्रीड़ा है तो
दूजा है देवत्व दिवाकर;
एक निम्न गति प्रेरक है तो
बना अन्य सोपान ऊर्ध्वचर;

हमें खींचना है मानव को
ज़ोर लगा नीचे से ऊपर,
क्योंकि ऊर्ध्व गति में ही पाता
यह नर निज स्वरूप चिर-सुन्दर;

मत पूछो, मुझ से क्या करता
यदि मैं होता राजदण्ड-धर,
यदि ऐसा होता तो शायद
नये चमकते चन्द्र-दिवाकर;

यदि निज गृह का स्वामी होता
तो ये सारे आयुध जग के,–
कुण्ठित – से दिखलाई देते
कण्टक हट जाते जग - मग के;

यदि ऐसा होता तो होता
इस जग का विश्वास और ही,
तब निश्शस्त्रीकरण सभा का
बन जाता इतिहास और ही

मेरा वह सपना है जिसको
मैंने देखा बड़े जतन से,
जिसे देखने की चेष्टा में
लगा रहा प्राणों के पण से;

रुधिर - विनाश - मृत्यु - मण्डित इस
हिंसा - प्रेरित जगतीतल में,–
मेरी यह ललकार गूँजती
है इस घृणामयी हलचल में :

मानव अपने को पहचानो,
सुवन नहीं तुम हिंसा-लालित
मधुर अहिंसा के पय से तुम
हो आचरण शीर्ष प्रक्षालित;

मैं हूँ कहाँ ? बन्धु, मैं तो हूँ
खड़ा हुआ ज्वाला पर्वत पर,
जिसके गर्भ देश में स्फोटक
द्रव्य पिघलकर करते घर्घर;

भाफ, धुआँ है लपटें भी हैं
मँडराती है आग भयानक,
कौन जानता है ? क्षण में ही
हो जाये विस्फोट अचानक;

क्षण में ही बन सकती संसृति
भस्मीभूत राख की ढेरी
प्रलय - क्षिप्त वसुधा है; लेकिन
सिरजन की ललकारें मेरी !

इस आग्नेय शिखरपर संस्थित
अडिग अहर्निश हूँ प्रयत्नरत :
कर दूँगा शुचि स्फटिक शिला में
इस ज्वाला भूधर को परिणत;

ख़तरा है, भय है, कि कहीं यह
भड़क न उठे आग अन्तर की,
किन्तु क्रान्तदर्शी ने कब की
चिन्ता असफलता के डर की ?

असफलताएँ तो आयी हैं,
फिर भी प्रगति हुई है जग की,
रही सदा से ही जन-सेवा
क्रीड़ा-केलि क्रुद्ध पन्नग की।

यों वचनों को उद्गीरित कर
हुआ महामानव प्रशान्त कुछ,
और हुआ जग को भासित यों
मानो आया है निशान्त कुछ;

ध्रुव विश्वास, अडिग निष्ठा यह,
अविचल मार्ग-क्रमण निरन्तर,
शुद्ध-बुद्ध तत्त्वार्थ निरूपण,
एक रूप बाहर-अभ्यन्तर;

मैत्री, दया और करुणा से
आप्लावित है जीवन सारा,
निश्चय ही नवजीवन देगी
उसके शुभ विचार की धारा;

सखे, कौन यह आत्मजयी है ?
अरे कौन यह पुण्य महा नर ?
अपने एक-एक ध्रुव डग में
नाप रहा जो सागर-अम्बर ?

जिसके उदधि-गभीर वचन में
यह नवीन सन्देश समाया,—
है वह कौन लोक का वासी ?
इस डगरी में कैसे आया ?

इस शोणित लिप्सा से त्रस्ता
जगती को वरदान दिया है;
ज़रा सुनो, उसकी वाणी ने
कैसा नर-कल्याण किया है;

मृण्मय बने हिरण्मय छिन में
उसके पावन परस मात्र से
मृत-प्राय भी अमृत हो उठे
केवल उसके दरस-मात्र से;

वे आजानु भुजाएँ उसकी,
ले अंजलियों में प्रसादकण,—
आज कर रही हैं जगती में,
शान्ति, अहिंसा, ऋत का वितरण;

भर कर शुभ वरदान दृगों में,
शिर पर ले अभिशाप जगत का,
मुसकाता है खड़ा, भरे निज
हिय में अडिगपना पर्वत का;

इस यथार्थवादी जग-मग में
विचर रहा आदर्श लिये वह,
परिपाटी को तोड़ चला है
नवल विचार-विमर्श लिये वह,

इस हिंसा की गत-अनुगतिकी
प्रबल श्रृंखला को खण्डित कर,—
नयी प्रणाली चला रहा है
वह सुकर्म योगी पण्डितवर;

एक क़रिश्मा-सा होता है
जग-जन की आँखों के आगे
सनकी उसे कहो या कुछ पर,
भाग आज जगती के आगे;

लुप्त हो गयी है इस जग में
अरे स्वप्न-दर्शन की क्षमता,
निपट वास्तविकता - वादी में,
कहाँ लोम-हर्षण-मय ममता ?

उल्का बरसानेवालों में
कहाँ अमिय - वर्षण की क्षमता
रुधिर - लोलुपों में कब आयी
नव विचार - संघर्षण - समता ?

आज नवल संघर्षण का यह
इसने मार्ग बताया बेढब,—
अपने शस्त्र फेंक दे, रे, जग,
अनुभूत आया विप्लव अब;

मानव की विचार-धारा में
आयी नूतन महाक्रान्ति यह,
जगन्मोक्ष-दायिनी बनेगी
सत्य-अहिंसा-पूर्ण शान्ति यह;

सखे, आज इस महापुरुष ने
देखा है कुछ ऐसा सपना,
कि सब भेद मिट गया; हो गया
एकाकार पराया अपना;

आज उड़ा ले ख़ूब मज़ह्का
जग चाहे उसकी बातों का,
पर, उसके ही कर से होगा
पूर्ण नाश जग की रातों का;

जग-जन के शंका-मेघों से
आवृत है उसका विचार-रवि,
नहीं देख पायी है जग ने
उसकी शुद्ध, ज्वलन्त ज्योति छवि

फिर भी निबिड़ गहन तम-भंजन —
कर किरणें आ ही जाती हैं,
और एक उल्लास-प्रेरणा
नर-हिय में छा ही जाती है,

हट जाते हैं ज़रा देर को
जब सन्देहों के दल बादल, —
तब होता है ज्ञान कि चिरपद
पा सकता है मानव दुर्बल,

उसके नयनों में सपना है;
कर में हैं वरदान अनेकों,
अपनेपन को होम - होम कर
पाया है उसने अपने को,

यम - नियमों के नागपाश से
बाँध विराग मेरु, धीरज धर
हिय समुद्र - मन्थन कर, लाया
वह यह अमृत शुद्ध, शुचि, भयहर;

एक लँगोटी के बल उसने
किया दिग्विजय जगतीतल में;
नव्य मार्ग - निर्माण किया है
शोणित सिंचित इस दलदल में;

देकर अपने दाँत कर लिया
दुर्दान्तों को भी अपने वश,
एक, दो, नहीं, अरे किये हैं
अपने वश सैन्धव ये दश - दश;

निज सीमित पंजर में उसने
किया बद्ध निःसीमा को भी,
शान्त देह में भी देही वह
हुआ अनन्त टोह का लोभी;

उसका जीवन सदा सत्य के
शुद्ध प्रयोगों की शाला है,
जग टटोलता है अपना पथ,
उसके कर में उजियाला है;

अपनी विषमय फुफकारों से
जग ने अपना दीप बुझाया,
और काटने दौड़ा उसको
जिसने उसे सुपन्थ सुझाया;

आज अँधेरे में जग अटका,
अपने ही जंगल में भटका;
मार्ग-भ्रष्ट होते ही उसको
लगा खूब झटके पर झटका,

ऋषि कहता है : मार्ग इधर है,
मेरे कर में है उजियाला;
जग कहता है : पागल तेरे
उजियाले में है अँधियाला;

वह है एक चुनौती जग को;
वह है एक प्रखर नैतिक बल;
वह है इक ललकार घोर-मय;
वह है एक शंकरी हलचल;

पोथा-पण्डित नहीं क्योंकि वह
स्वयं विचारों का दाता है;
वह क्यों चले पुराने पथ पर ?
वह नवयुग का निर्माता है ?

उसने आज अन्ध जग-जन को
दिये दान में सुन्दर लोचन,
जिससे वह कर सके वास्तविक
तथ्यों का विशुद्ध अवलोकन;

धन्य हुई है वसुधा वृद्धा,
मानवता भी धन्य हुई है;
उसके विप्लवमय प्रसाद से
भय - भावना नगण्य हुई है;

हम मिट्टी के पुतले भी बढ़
बढ़ लड़ गढ़ चढ़ने दौड़े हैं,
क्या ही फूँके प्राण कि हमने
सदियों के वन्धन तोड़े हैं;

आज उठी अश्रुत स्वर - लहरी
प्राची जगती के अम्बर में,
एक नवल उल्लास-वीचि है
उमड़ी यहाँ चराचर-भर में !!

■

बोल, अरे, दो पग के प्राणी

कब तक प्यार किये जायेगा,
बोल, अरे दो पग के प्राणी ?
क्षण-भर की स्थिति है जगती में
पल-भर की है यहाँ जवानी;
मत कर, रे, क्षण-भंगुरता में
तू आरोपित चिर अशेषता,
क्या स्थिरता ? जब यहाँ बह रहा
पल-पल काल नदी का पानी,

यह विस्तृत दिग्देश अमित-सा,
महाकाश यह परम अगम-सा,
चपल समय-नद यह अनन्त-सा,
यह विकराल काल निर्मम-सा,
ये दिक्-काल-तत्त्व लगते हैं
जो कि सनातन, परम चिरन्तन,
ये भी तो हैं अन्तवन्त ही;
है आनन्त्य एक मति-भ्रम-सा।

निपट शून्य से उठ आती है
हूक-भरी जो स्मृति अनजानी,
जो मथ देती है अन्तरतर,
जो करती हिय पानी-पानी,—
उसी सजल स्मृति से चूती हैं
क्या आनन्त्य-सुरस की बूँदें ?
यह भ्रम है ! रे मानव, तूने
क्यों अनन्तता की हठ ठानी ?

सुनकर यह ललकार तर्क की
हो दयार्द्र मानव मुसकाया
और अनेक युगों के सपने
वह निज नयनों में भर लाया,
कब बाँधी दिक्-काल-परिधि ने
मानव की उड़ान अलबेली ?
भावार्णव का थाह, कहो तो,
तर्क-वादिता ने कब पाया ?

जगती की क्षण-भंगुरता में
यदि न रहे आनन्त्य चिरन्तन,—
यदि न रहे निमिषों की गति में
नित्य सनातनता का कम्पन,—
तो इस सृति-मय सकल विश्व का
तिरोधान पल में हो जाये !
अरे नित्यता ही करती है
इस अनित्यता का गति-रंजन।

यह, जो है चल, चपल, अनस्थिर,

यह जो है अतिशय क्षण-भंगुर

यह सब है अनन्तता का ही

किंचित परिवर्त्तित नव अंकुर !

यदि न रहे आनन्त्य सनातन,

तो फिर कहाँ रहे भंगुरता ?

यदि न सरल पथ की स्थिति हो, तो,

कैसे कल्पित हो पथ वन्धुर ?

जग की गमन-शीलता भी क्या

विन स्थिरता के बुद्धि-गम्य है ?

और सतत 'परिवर्त्तन' में भी

क्या न 'नित्य' की छटा रम्य है ?

बिना नित्यता के सम्भव है

क्या अनित्यता का दिग्दर्शन ?

अरे तर्क, तव मूढ़-वादिता

क्या किंचित भी यहाँ क्षम्य है ?

किसका साहस है कि कर सके

मेरा स्नेह काल-दिक्-सीमित ?

कौन वाँधने आ सकता है

उसे जो कि है सदा असीमित ?

नित्य, सनातन, सदा शाश्वता

है मेरे हिय की रस-धारा,

और मदिर लोचन मम पिय

का चिर प्रसाद है अमित, अपरिमित

जिन कोमल भुज-वल्लरियों ने
बाँध मुझे चल, चपल क्षणों में,–
निमिषों को अनन्तता दी थी
अमिय भरा था रक्त-कणों में,
वे भुज-लतिकाएँ जगती से
लुप्त हुई हैं। पर, इससे क्या ?
अरे, हो गयी है अनन्तता
समाविष्ट इन प्राण-पणों में।

वह पीयूष-दान साजन का
वह रिम-झिम-रिम मधु-रस-वर्षण,–
वह उन्मादक नयन-निमन्त्रण
वह दृग्-निःसृत चिर आत्मार्पण,–
कौन कहेगा इन्हें कि ये हैं
केवल अचिर राग क्षण-भंगुर ?
होता है जिनकी स्मृति ही से
सन्तत रोम-रोम का हर्षण।

मम सनेह औ' मेरे प्रियतम
कब थे अन्तवन्त, बोलो तो ?
क्या न सुने वे स्वर जिनसे हैं
गुंजित दिग्-दिगन्त, बोलो तो ?
गहन राग-रस-निर्झरिणी में
तृण बन बही क्षणिकता चंचल;
क्या न हृदय की अमल भावना
है शाश्वत, अनन्त, बोलो तो ?

१३ बी० फ़ीरोज़शाह रोड, नयी दिल्ली
२९ मार्च, १९४७

यह रहस्य-उद्‌घाटन-रत जन

यह रहस्य-उद्‌घाटन-रत मन,
यह असफल जन, यह संश्लथ तन,
हिय में यह अम्बर-विहरण-रण
ये टूटे उड्डीयन-साधन।

पंख नोच पटका मानव को
किसी खिलाड़ी ने धरती पर,
पर, होती रहती है उसके
अन्तर में पंखों की फर-फर;
पृथिवी माता ने पहनायी
उसे बेड़ियाँ आकर्षण की,
और, किसी ने सुलगा दी है
हिय में चिनगी संघर्षण की
परवश है, पर चाह रहा है
यह करना रहस्य-उद्‌घाटन,
यह आकुल मन, यह अति लघु जन,
पंख हीन यह, यह संश्लथ तन !

निगड़-बद्ध मानव के युग पद,
पाश-बद्ध मानव के युग भुज,
और सतत आक्रान्त किये हैं
उसे एक अभिशाप-ताप-रुज,
जिसे मेदिनी ने जकड़ा है,
तुच्छ समझता जिसे प्रभंजन,
और नियति ने डाल दिये हैं,
जिसके रोम-रोम में बन्धन,—

उसी द्विपद को, नील गगन ने
भेजा है उड्डीन-निमन्त्रण।
गूँज रही है उसके हिय में
पंखों की सन-सन-सन-सन-सन!!

मानव रहा न जाने कितने
युग-युग लौं सोया-सोया-सा;
क्या हिसाब कितने युग से वह
विचर रहा खोया-खोया-सा?
किन्तु नींद में भी तो उसने
देखे उड़ने के ही सपने!
औ' सन्तत विचरण में भी वह
रहा खोजता डैने अपने!
नहीं पा सका है अब तक भी
अपने पंख, और अपनापन,
यह रहस्य - उद्घाटन-रत मन,
यह असफल जन, यह संश्लथ तन!

क्या जाने कितनी लम्बी है
उसकी यात्रा की पगडण्डी?
क्या जाने कितना कर आया
मार्ग-क्रमण अब तक यह दण्डी?
नित देशाटन, सतत परिव्रजन,
सन्तत चलन, दिग्भ्रमण क्षण-क्षण,
सतत अतन्द्रित निमिष-गणन यह,
यह दिक्-काल-संकलन क्षण-क्षण,

यही रहा है मानव का क्रम,
यही नियति का है रेखांकन !
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन
कर-कर भ्रमण हुआ संश्लथ तन।

पीछे मुड़कर कौन निहारे—
कितनी दूर आ चुका मानव ?
करता है स्वीकार गणित भी—
इस दिशि अपना पूर्ण पराभव !
आगे की भी क्या गिनती हो,
जहाँ सकुचते हैं मन्वन्तर ?
जहाँ ब्रह्म - दिन भी छोटे हैं,
लघु हैं द्युति-वर्षों के अन्तर।
इस महान् दिक्-कालार्णव में
मानव करता सतत सन्तरण,
यह रहस्य-उद्घाटन - रत मन,
यह असफल जन, यह संश्लथ तन।

मानव की झोली में संचित
हैं कितने ही कंकड़ - पत्थर,
जो कुछ मिला पन्थ में, उसने,
वह सब उठा लिया है सत्वर,
यह सब संचित बोझ युगों का
टाँगे वह अपनी लकुटी पर,
झुका भार से चला जा रहा
नाप - नाप पथ - लीक निरन्तर !

इतने पर भी गूँज रहे हैं
हिय में 'नेति-नेति' के ही स्वन।
यह रहस्य - उद्घाटन-रत जन
सुन-सुन होता क्षण-क्षण उन्मन !!

मानव ने विसृष्टि लीला लख
पूछा निज से 'का सा ? कोऽहं ?
मानव अपने अन्तरतर में
निरख कह उठा : 'साऽहं ! सोऽहं !'
इस 'कोऽहं ! सोऽहं !' की अब तक
रार मची है अन्तस्तल में,
नेति और इति जूझ रही हैं
मानव के इस हृदय विकल में !
यह रण व्यक्त कर रहे उसके
रोम-रोम, शोणित के कण-कण।
है रहस्य - उद्घाटन - रत मन,
यद्यपि है संश्लथ मानव तन !

जगत्-रूप हृदयंगम करने
कहाँ-कहाँ दौड़ायी निज मति !
कितनी प्रखर साधना उसकी !
अति प्रचण्ड विज्ञान-ज्ञान-रति
एक-एक कर दूर हटाये
प्रकृति-नर्त्तकी के अन्तर-पट;
किन्तु अभी तक, इतने पर भी
मिटा न रंच यवनिका-संकट !

परदे में हो रही प्रकृति की
नृत्य चलित पौंजन की झन-झन !
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन
सुन-सुन होता क्षण-क्षण उन्मन !!

लीलामयी प्रकृति मानव से
खेल रही है आँख-मिचौनी,
औ' मानव है अपिहित लोचन,
जड़गुण-बद्ध, स्तब्ध, अति मौनी !
ऐसा खेल, कि रहता ही है
सन्तत दाँव इसी मानव पर,
मानव के शिर पर है मण्डित
जिज्ञासा - अभिशाप भयंकर,
कहाँ जाय ? किस दिशि यह झाँके ?
ढूँढ़े कहाँ ? किसे यह क्षण-क्षण ?
यह रहस्य - उद्घाटन - रत मन,
यह असफल जन, यह संश्लथ तन !

कभी कुहुक आयी अम्बर से
'ढूँढ़ो !' यों बोलो सब उडुगण;
मानव ने उद्ग्रीवी होकर
उधर उठाये अपने लोचन;
इतने में : 'ढूँढ़ो ढूँढ़ो' के
आये स्वर पाताल अतल से
मानव ने घबड़ाकर मोड़े
अपने युग दृग चकित अबल-से;

किन्तु उसी क्षण दिशि-दिशि गूँजा
'ढूँढ़ो - ढूँढ़ो' का यह गुंजन
किधर निहारे ? किसको ढूँढ़े,
यह बौराया - सा जन उन्मन ?

बाहर तो 'ढूँढ़ो - ढूँढ़ो' - की
सब दिशि यह गुंजार भरी है;
पर भीतर भी यही महाध्वनि
मन्थन शील, अपार भरी है;
लखो; चतुर्दिक् वह पागल-सा
आकुल मानव डोल रहा है;
अपने युग-युग के यत्नों को
निज दृग-जल में घोल रहा है,
उसे दिखाई पड़ा सभी दिशि
अपने हिय का सन्तत कम्पन ;
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
भ्रमित हुआ है, है संश्लथ तन ।

यह गभीर सृजनार्णव दुस्तर,
परम अगम, फेनिल, चिरपंकिल !
लहराते जिसके अन्तर में,
नित्य, सनातन प्रश्न - तिर्मिगिल !!
'कुत आयाता इयं विसृष्टिः' ?
'क इह प्रवोचत् ? अहो वेद कः ।'
'अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्,
अंग वेद यदि वा न वेद सः ?'

अपना मुख फैलाये आये
सम्मुख ये चिर प्रश्न पुरातन !
यह रहस्य – उद्‌घाटन – रत जन,
है संश्लथ तन, है अतिउन्मन !

यों आयी वन अतिथि, मनुज के
हिय में, यह विदंशिनी पीड़ा,
यों मानव अपने को भूला,
भूल गया वह अपनी ईड़ा !

चिदानन्द मय अपनी सत्ता
उसने अपने – से बिसरायी,
प्रश्नों की उलझन में पड़कर
अपनी विपदा और बढ़ायी;

किन्तु अँजा है मानव-दृग में
ऊहापोह व्यथा का अंजन,
अतः रहस्योद्‌घाटन - रत जन,
है उत्सुक, यद्यपि संश्लथ तन।

मानव की जिज्ञासा की है
साक्षी स्वयं प्रकृति कल्याणी;
युग - युग से हुंकारें करता
चला आ रहा है यह प्राणी !

ये भीषण - दिक् - काल - अरर उस
ध्वनि - ध्मात से चिर कम्पित है
लख मानव के यत्न निरन्तर
प्रखर प्रभाकर भी स्तम्भित है।

देख-देखकर इस वामन को
अमित चकित है नभ-तारक-गण;
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन
चला जा रहा है संश्लथ तन ।

अम्बर काँपा, अवनी काँपी,
काँप उठे नभ के सब तारे,
इस मानव की 'न-इति ! न-इति !' सुन
सभी लोक - लोकान्तर हारे;
काल कँपा, आकाश कँप उठा
सुन-सुन इसकी 'न-इति' हठीली,
सब ने देखा : है मानव की
ग्रीवा उन्नत, यदपि लचीली !
इतिहासों के पन्ने भी हैं
मानव का कर रहे संस्मरण
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन
चला जा रहा है संश्लथ तन ।

कोटि-कोटि ज्योतिर्वर्षों तक
फैला है विस्तार मनुज का,
कहाँ-कहाँ तक पहुँच चुका है
अति तनु मन इस द्विपद-द्विभुज का ।।
विस्तृत है इसकी लीला लघु
विद्युन्मणि से ब्रह्माण्डों तक;
इसके महाकाव्य की गाथा
पहुँची है अगणित काण्डों तक !

किन्तु पता क्या कितने गहरे
और करेगा यह अवगाहन ?
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
यह अति उन्मन, यह संश्लथ तन ।

अमित ज्ञान-भाण्डार, युगों के
यत्नों से, संचित कर पाया,
यह मानव निज रिक्त कोश को
नाना रत्नों से भर लाया;
जहाँ सभी दिशि इस अग-जग के
स्फुरणों में था केवल सम्भ्रम,
जहाँ अन्ध व्यस्तता मात्र थी,
वहाँ लखा इसने कारण-क्रम !
निरलंकृता प्रकृति को इसने
पहनाये नियमों के कंकण !
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
फिर भी फिरता है नित उन्मन;

किन्तु पैठ गहरे जो झाँका
तो नियमितता हुई तिरोहित;
केवल दैवायत्त भावना
होने लगी पुनः आरोहित;
अंशु - स्फुरणकारी पदार्थ कुछ
जग में मानव ने देखा है,
जिसे दीप्ति-सक्रिय तत्त्वों की
श्रेणी में उसने लेखा है;

होता रहता इन तत्त्वों के
अणुओं का नित संहृति-भेदन !
जिसे निहार पूछ उठता है
'क्यों? क्यों??' इस जन का उन्मन मन !

जिसे कराल काल मेटेगा,
अहो कौन-सा अणुविशेष वह ?
क्यों संहृति-भेदन होता है ?
क्यों होता है अणु अशेष वह ?
इन प्रश्नों का नहीं दे सका
उत्तर यह मानव विज्ञानी;
यादृच्छिक अणु - भेदन - लीला
अब तक नहीं किसीने जानी;
कहो, क्यों न अकुलाये मानव
देख-देख यह पटावरण घन?
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
पंख हीन यह, यह संश्लथ तन !

मानव ने विद्युन्मणियों को
देखा नयनों में अचरज - भर,
मानो विश्व आ गया सम्मुख
अपना मूर्त्त रूप ही तजकर;
ज्योति-किरण तो थी तरंगमय,
अब, घनत्व भी हुआ तरंगी !
मानो ऋण-विद्युन्मणियाँ ये
बना रहीं ब्रह्माण्ड अनंगी !

लुप्त हो रहे हैं क्या जग से
मूर्त्त-अमूर्त्त-रूप के वन्धन !
पूछ रहा है यों आकुल-सा,
यह रहस्य उद्घाटन - रत जन !

असन्तोष है इस मानव को
सारे जग के इस सपने से;
औ' जग की क्या करे शिकायत ?
असन्तुष्ट है वह अपने से ;
वह आया है करने इतने
ब्रह्माण्डों का तत्त्व-निरीक्षण,
किन्तु मिले हैं निपट अधूरे
उसे इन्द्रियों के ये लक्षण;
इतने क्षुद्र, असंगत इतने
ये विज्ञान - ज्ञान के साधन !
तब, फिर क्यों न हृदय में खीझे
यह रहस्य उद्घाटन - रत जन !

श्रोत्र, चक्षु, रसना, स्पर्शन, मन,
घ्राण, इन्हीं के वल यह मानव—
सुलझा रहा उलझनें जग की,
खोज रहा है अचरज नव-नव !
किन्तु साथ ही, नयी समस्या
मानव उपजाता जाता है;
एक प्रश्न सुलझा कि दूसरा,
उसके सन्निधान आता है;

साँझ, सवेरे, रहती ही है
सम्मुख एक पहेली नूतन,
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
उलझन में उलझा है प्रतिक्षण !

जाना है जग-रूप, मनुज ने,
इन लघु - इन्द्रिय - उपकरणों से;
कार्य और कारण की लड़ियाँ
उसने गूँथी हैं स्मरणों से,
पर, यथार्थता क्या है ?
यह जो है केवल इन्द्रिय-संवेदन ??
पूर्वोत्तर का घटना - क्रम ही
है क्या कारण - कार्य - विवेचन ?
ये प्रश्नावलियाँ सदियों से
करती हैं मानव - हिय - मन्थन;
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
यह संश्लथ तन, यह नित उन्मन !

ये इन्द्रियाँ कभी क्या देंगी
हमको यथार्थता का परिचय ?
नयनों से देखा है जिसको
है क्या वही वास्तविक निश्चय ?
प्रकृति विलोकी जब आँखों से,
तब, क्या देखी ? केवल झाईं !
तब अवलोकी इक छल - छाया !
देखी बस केवल परछाईं !

दृश्य सत्य है, तो सपना भी
है यथार्थ का पूर्ण प्रकेतन ?
यों विचार कर रहा युगों से
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन;

नयनों ने घनत्व देखा था,
नयनों ने तारल्य निहारा,
पर, मानव के गहन ज्ञान ने
यह सब भेद मिटाया सारा,
अब देखा कि जगत् है केवल
धन औ' ऋण विद्युत्कणिका-मय;
औ', विद्युन्मणियाँ भी ऐसी
जिनका कठिन वास्तविक परिचय;
ऐसी मणियाँ, होता रहता
जिनका प्लवन बिना ही कारण;
तब फिर कारण-कार्य-तर्क का
जन-हिय से हो क्यों न निवारण !

यों इन्द्रियगण की परिगणना,
यों मन का घटना-संश्लेषण,
हिय को जँचे अधूरे ये सब,
ये जग के सब रूप-विशेषण !
किन्तु क्या करे ? थककर बैठे
क्या यह मानव हिय-हारा-सा ?
अपनी भौतिकता को कैसे
करे क्रमित यह बेचारा - सा

भूत ग्रस्त है जो, वह कैसे
भौतिकता का करे उत्क्रमण ?
यह रहस्य - उद्‌घाटन-रत जन,
सोच रहा है यों अपने मन !

क्या है स्रोत ज्ञान का ? पूछा
यों जब मानव ने अपने से —
तो आयी इक ध्वनि कि ज्ञान है
केवल इन्द्रिय के कँपने से !
बोल उठा भौतिक विज्ञानी :
हैं इन्द्रियाँ ज्ञान के साधन,
इनके बिना कहो कैसे हो
मानव का यह ज्ञानाराधन ?
मानव ने अपने स्वरूप के
सुने तर्कमय ये सब प्रवचन,
किन्तु तत्त्व - उद्‌घाटन - रत जन
पा न सका सन्तोष - शान्ति-धन

क्या हैं वे इन्द्रियाँ कि जिन ने
दिया ज्ञान-भाण्डार अतुल यह ?
या वे हैं केवल साधन ही ?
यों बोला मानव आकुल यह !
कहो, इन्द्रियों से ही केवल
ज्ञान - नोदना कैसे जागी ?
केवल यह उपकरण - समुच्चय
कैसे बना ज्ञान - अनुरागी ?

क्या विज्ञान - ज्ञान का दाता
है केवल इन्द्रिय संवेदन ?
पूछ रहा है आज अथक - सा
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन !

आदि मनुज ने लपट देखकर,
अग्नि बनायी सदन - लालिता !
वह थी कौन प्रेरणा जिसने
कहा : करो तुम वह्नि पालिता !

आदि मनुज ने पशुगण देखे,
उन्हें बनाया निज अनुगामी !
वह क्या थी प्रेरणा कि जिसने
कहा : बनो तुम इनके स्वामी ?

यह, जो आदि प्रेरणा हिय में
है यह भी क्या इन्द्रिय - स्पन्दन ?
अथवा यह है शक्ति अभौतिक ?
पूछ रहा है यों जन उन्मन !

अपने को उपकरण - समुच्चय
कैसे माने मानव प्राणी ?
जब कि विचार और चिन्तन की
उसने पायी अमर निशानी !

मनुज कर रहा है घोषित यों :
अरे, नहीं हूँ भूत संघ मैं !
मैं हूँ सांग, उपकरण संयुत,
पर फिर भी हूँ नित अनंग, मैं !

इसी नित्य प्राप्तव्य ध्येय की
ओर जा रहा है यह लघु जन,
यह रहस्य-उद्घाटन - रत मन,
पंखहीन यह यह संश्लथ तन !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
५ दिसम्बर, १९४३

■

नास्तिक का आधार

जब लहराता बहा समीरण, सर में उठी तरंग;
जब संस्मृति बयार डोली, तब हिय में उठी उमंग;
रवि-किरणों से नभ में चमका, इन्द्र धनुष का रूप;
प्रिय, तव स्मिति-द्युति से चमकी मम स्नेह-कल्पना-चंग !

हरित, नील, लोहित, नारंगी, श्याम, पीत सुर-चाप;
त्यों मम नेह-चंग पर चमकी तव रंगों की छाप;
ख़ूब उड़ाओ इसे, प्राण-धन, अपने अम्बर बीच;
तव क्रीड़नक बने, – इसकी है यह अभिलाष अमाप !

तव आधार रहे, तो फिर क्या विपदाओं की बात ?
तुम अनुकूल रहो विपदाओं की तब कौन बिसात ?
कुछ न बिगाड़ सकेगी मेरा अति प्रतिकूल वयार;
मैं हँसते-हँसते सह लूँगा झंझा के आघात !

प्रिय, मैं जानूँ हूँ, है अति ही दुर्वह मेरा भार,
पर, अब तो मैं आन पड़ा हूँ विवश तुम्हारे द्वार;
आस्तिक कहते हैं : उनका है हरि के हाथ निवाह;
मैं नास्तिक कहता हूँ : मेरा भी है कुछ आधार !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१ मई, १९४४

■

यथार्थवादी

मुझे लग रहा है यह मेरा जीवन विफल महान्,
फटा-फटा-सा मुझे लग रहा निज अस्तित्व - वितान;
सभी ओर से जुट आयीं हैं असफलताएँ आज
कहाँ गया वह सृजन-परिश्रम ? कहाँ नवल निर्माण ?

अपना, अथवा अन्य जनों का हो न सका उत्थान,
निपट अहैतुक रहा समूचा जीवन - कर्म - विधान;
कुछ अपना, कुछ निखिल राष्ट्र का, ऐसा घूमा चक्र,
कि न आ सका विहँसता, मेरे नभ में रजत विहान !

स्वार्थ, परार्थ, रहे हैं दोनों ही अब तक अप्राप्त,
और इधर होनेको आया मम दिनमान समाप्त;
बढ़ता जाता है असफलता का यह अन्धःकार;
क्यों न फटे हिय, जब रह जाये अवाप्तव्य अनवाप्त ?

मत कहो कि है निपट पराजय-वादी मम विश्वास;
मत कहो कि नैराश्य-वाद मय हैं मेरे निःश्वास;
तुम आलोचकगण, क्या जानो विजय-पराजय-वाद ?
मैं यथार्थवादी कर्मठ ! हूँ फिर भी आज उदास !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ अप्रैल, १९४४

■

तुम हो ?

तुम हो ? सब कहते हैं : तुम हो,
निःसंशय तुम हो, तुम हो।
सुनता हूँ तुम मायापति हो,
प्रकृति भाल के कुंकुम हो।
क्या हो ? कैसे हो ? कितने हो,
रमे कहाँ ? कुछ तो बोलो ?
मन-फाँसी संशय-गाँसी की
ये ग्रन्थियाँ तनिक खोलो।
अपलक अलख झलक-रेखा की अति
बाँकी झाँकी तुम हो।
प्रकृति - बधूटी के सुहाग के
सुनता हूँ, तुम कुंकुम हो।

यम-नियमों के संचालक हो;
उनके प्रतिपालक तुम हो,
सुनता आता हूँ निशाचरी
माया के घालक तुम हो,

कर्म - अकर्म - विकर्म - विधाता,
फलदाता हो बड़े खरे
सब के हो, सब में हो, फिर भी
रहते सब से सदा परे,
सब कहते हैं जगत् - सूत्र के
चालक मायावी तुम हो,
सुनता हूँ तुम प्रकृति-वधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो।

अहंकार, मन, वुद्धि, चित्त से
सत, रज, तम से, रहो परे,–
अनल, वायु, जल, भूमि, गगन के
स्वामी त्रिगुणातीत अरे,–
जटिल अष्टधा प्रकृति-नियति से
भिन्न तुम्हें सब कहते हैं;
यों तद्गत मन से ये कविगण
तुमको भजते रहते हैं;
तुम्हीं वता दो तो तुम क्या हो ?
सब जन कहते हैं तुम हो।
सुनता हूँ तुम मायापति हो
प्रकृति-भाल के कुंकुम हो।

वुद्धि-गम्य तुम नहीं, तुम्हें फिर
कैसे कोई जान सके ?
कैसे भौतिकता मय पुतला
यह तुमको पहचान सके ?

लिपटा है अस्तित्व तुम्हारा
शंकाओं के अंचल में,
छटा तुम्हारी कहाँ दिखाई
देती नियति - दृगंचल में ?
फिर भी सब गुरुजन कहते हैं
तुम हो, तुम हो, हाँ, तुम हो !
सुनता हूँ तुम प्रकृति - वधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो।

कैसे जानूँ ! क्यों कर जानूँ ?
क्या जानूँ ? तुम हो कि नहीं ?
कुछ प्रतीति होती हिय में यदि
तुम दिख जाते कहीं कहीं !
तर्क, वितर्क, वितण्डाओं में
तुम सहसा कब मिलते हो ?
शत-शत युग की अचल शिला हो
तुम सहसा कब हिलते हो ?
कहते हैं, अविचल भूधर - से
अटल जगद्धर बल तुम हो
सुनता हूँ, तुम प्रकृति - नटी के
चिर सुहाग के कुंकुम हो।

तुम हो, या कि नहीं ? यह निश्चय
करना एक बखेड़ा है;
यह है भूल - भुलैया, इसका
मारग टेढ़ा - मेढ़ा है;

क्या जानूँ तुम क्या हो ? तुम तो
भानमती के थैला हो !
कैसे कोई तुमको बूझे ?
तुम तो एक पहेला हो।
क्या जानूँ तुम हो कि नहीं हो,
कहते हैं तुम हो, तुम हो
यह भी एक कहावत है; तुम
प्रकृति - भाल के कुंकुम हो।

रंग-बिरंगे चित्र तुम्हारे,
बेढंगी नामावलियाँ !
तुम प्रकाश के पुंज, तुम्हारी
अँधियाली श्यामा गलियाँ !
बड़े सच्चिदानन्द बने हो,
जग में निरानन्द छाया,
यहाँ अचिन्तन व्याप्त हो रहा,
फैली है मिथ्या माया;
फिर भी सब तोते-से रटते
जाते हैं : तुम हो, तुम हो
सुनता हूँ तुम प्रकृति-बधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो !

कहते हैं कि तुम्हारे तप का
है परिणाम विश्व सारा,
कहते हैं, बह रही तुम्हारे
रयि - प्राणों की यह धारा;

अहो तपोधन ! अपने तप का
देखो तो परिणाम ज़रा,
देखो तो क्या-क्या रंग लायी
विद्या अपरा और परा :
इस पंकिल थल की किलकिल में,
कहते हैं, तुम हो—तुम हो,
सुनता हूँ तुम प्रकृति - बधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो।

अहो सच्चिदानन्द ! क्षोभ यह
क्यों छाया है इस जग में ?
अहो सत्यसंकल्प ! असत् यह
फैल रहा क्यों जग-मग में ?
रग-रग में क्यों असत्, अचिन्तन,
निरानन्द की है पीड़ा ?
दिखा रही क्यों पाप-वासना,
अपनी कटुता की क्रीड़ा ?
है यह जटिल दुरूह असंगति;
इसकी जड़ में क्या तुम हो ?
क्या तुम ही ठगिनी माया के
चिर सुहाग के कुंकुम हो ?

पतन-भाव क्यों प्रकृति - नटी की
नासा का आभरण हुआ ?
बोलो तो काम - वासना का
क्यों सहसा जागरण हुआ ?

सुभग तुम्हारे विश्व - दीप में
कैसे जगी पाप – बाती ?
बोलो, हिय - युद्धस्थल में क्यों
खड़ी सदिच्छा अकुलाती ?
यह अनाथिनी पुण्य - भावना
क्या इसके स्वामी तुम हो ?
क्या इस सतत विरहिणी के तुम
चिर सुहाग के कुंकुम हो !

पाप - पुण्य का समर – तुम्हारा
नख़रा एक निराला है !
क्या ही अदा – कहीं अँधियाला
और कहीं उजियाला है !
क्या सदसत् का चिर संघर्षण
रुचिर तुम्हारी लीला है ?
अहो तुम्हारी यह लीला तो
कुटिला है, दुःशीला है !
सकल विरोधाभासों में भी
क्या केवल तुम ही तुम हो ?
क्या सचमुच तुम प्रकृति - बधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो ?

कैसे कहूँ कि तुम हो ? – हिय में
होती नैक प्रतीति नहीं !
नीति - निपुण के तपोराज में
होती सदा अनीति कहीं ?

रीति नयी मैं देख रहा हूँ
पूत तपोद्भव तव जग में !
देखो मँडराता रहता है
मलिन भाव अभिनव जग में,
इस पर भी किसका साहस है
जो यह कह दे ! हाँ तुम हो ?
कौन कहेगा कि तुम प्रकृति के
चिर सुहाग के कुंकुम हो ?

पाप - पुण्य के ये अवगुण - गुण
बन्धन किसकी कृतियाँ हैं ?
दुखित हृदय की शान्ति निकन्दन
कैसी ये संस्मृतियाँ हैं ?
किसने अकलंकित - सकलंकित
मर्यादा - रेखा खींची ?
यह विष बेल, कहो, किसने, हिय
आँगन में बोयी - सींची ?
पाप-भाव की आदि प्रेरणा
के प्रेरक भी क्या तुम हो ?
फिर भी क्या तुम प्रकृति - वधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो ?

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इन
रिपुओं का संघात बली –
कहते हैं, निशि दिन हिय में यह
करता है आघात छली !

किन्तु कहो इन षड् रिपुओं का
उत्पादक है कौन हठो ?
कौन मनाता रहता है इन
षड़यन्त्रों की जन्म-छठी ?
इन सन्तानों के भी प्रजनक
अहो जगत्पति, क्या तुम हो ?
सच कहना क्या इसी तरह तुम
प्रकृति-बधू के कुंकुम हो ?

गुरुजन कहते हैं कि रज-तम से
प्रकटे हैं ये षड् बैरी,
री माया, यह विकट बखेड़ा
क्या सब तेरा ही है री ?
त्रिगुणात्मिका प्रकृति का सृष्टा
क्या कोई है या कि नहीं ?
क्या यह भी है एक स्वयं-भू
जिसका अन्त न आदि कहीं ?
एक स्वयं-भू बनी प्रकृति यह
दूजे स्वयंभूत तुम हो,
फिर कैसे कह दूँ कि तुम्हीं तो
प्रकृति-भाल के कुंकुम हो ?

सकल वस्तुओं के अणु-अणु में
संकर्षण होता रहता,
प्रकृति-पुरुष में यहाँ सदा यह
संघर्षण होता रहता;

इस ब्रह्माण्ड अनन्तवन्त में,
सकल लोक - लोकान्तर में, —
क्या द्विछत्र शासन फैला है
अखिल विश्व में ? अम्बर में ?
यदि दोनों का राज यहाँ है,
तब, कैसे तुम ही तुम हो ?
प्रकृति नटी के चिर सुहाग के
फिर कैसे तुम कुंकुम हो ?

सतत विरोधाभासों का यह
भाव जगत् में फैल रहा,
शून्य हृदय में जग भर लाया
विफल ज्ञान का मैल महा,
तैल रहा ही नहीं दीप में,
हे प्रकाश के पुंज सुनो !
क्रीड़ा कहाँ करोगे, है यह
अँधियारी सब कुंज, सुनो;
रंच विरुद्ध भावना को तुम
समझा दो कैसे तुम हो ?
अहो, बुद्धि-वैधव्य मिटा दो
तुम सुहाग के कुंकुम हो !

हे सम्पूर्ण ! तुम्हारे जग में
अपूर्णोत्क्रमण प्रकट हुआ
पूर्ण-भार वहनार्थ गढ़ा है
तुमने टूटा शकट मुआ;

टूटी गाड़ी ढचर-ढचर-खड़
भड़-गड़-बड़-भड़-भड़ करती;
दचके लगते, ऊबड़-खाबड़
है जग-मग की यह धरती
इस अपूर्ण निःसाधनता में
छटा दिखाते क्या तुम हो ?
असम्पूर्ण उत्क्रान्ति वधू के
क्या तुम रंजित कुंकुम हो ?

नहीं, नहीं यह है विडम्बना,
बस केवल तुम ही तुम हो;
पापों के दुर्बल छल-वल तुम,
पुण्यों के वल भी तुम हो;
विषय-वासना, पुण्य कामना;
इनमें भी तुम ही तुम हो;
अजव अटपटे रूप धरे हो;
वहु मुख, बहुरंगी तुम हो;
तुम यह भी हो, तुम वह भी हो,
इधर-उधर तुम ही तुम हो
प्रकृति तुम्हारी है, तुम उसके
चिर सुहाग के कुंकुम हो !

असम्पूर्णता पदस्खलनता
सभी तुम्हारी रूप बनी
यह ठगिनी छलना आयी है
हिय छलने को वनी-ठनी,

यह अधर्म, यह काम-राग,
यह विधि-निषेध, है तव लीला।
अहो सत्य-शिव-सुन्दर ! तव गति
विचर रही चिन्तन शीला;
रजत बालुका के कण-कण में
सभी ओर, तुम ही तुम हो
प्रकृति बधूटी के मस्तक के
चिर सुहाग के कुंकुम हो !

जीव-जगत् की यह अनन्तता—
क्रीड़ा एक तुम्हारी है
जल - थल - वायु - गगनचारो सब
तव आतप - चिनगारी है।
अहो हुताशन-पुंज ! तुम्हारा
इक स्फुलिंग ब्रह्माण्ड बना
तुम्हीं मृत्तिका, कुम्भकार तुम,
विश्व तुम्हारा भाण्ड बना;
अलग-थलग नग, अपलक टक तुम
अलख झलक-झाँकी तुम हो,
समझा हूँ, तुम प्रकृति-बधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो !

किन्तु हृदय विश्वास शून्य है—
क्या ही अजब तमाशा है;
अन्तस्तल में उलझ रही यह
आशा और निराशा है !

संशय-निश्चय जूझ रहे हैं,
अविश्वास - विश्वास लड़े !
त्वमसि-नासि त्वम्, अस्ति, नास्ति के
मचे यहाँ हिय में झगड़े !
यह संशय प्रवृत्ति हिय-मन्थन
क्यों करती है यदि तुम हो ?
तुम कैसे ठगिनी माया के
चिर सुहाग के कुंकुम हो ?

बड़ी दुरूह समस्या है यह,
इसको कैसे सुलझाऊँ ?
निज मन-मीन, 'अस्ति' - रस-बंसी
में मैं कैसे उलझाऊँ ?
यह श्यामल संसार-अतल-जल—
उदधि - वीचि - विक्षुब्ध यहाँ
प्रबल तरंग-वासना में मन—
शफरी उलझी लुब्ध यहाँ !
यह ऐसा क्यों, यदि अनादि मन—
मीन-पीन बेधक तुम हो !
बतलाओ तुम प्रकृति-बधू के
कैसे रंजित कुंकुम हो ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१८ फ़रवरी, १९३१

■

सुन्दर

ओ सौन्दर्य-उपासक, तुमने
सुन्दर का स्वरूप क्या जाना ?
मधुर, मंजु, सुकुमार, मृदुल ही
को क्या तुमने सुन्दर माना ?

क्यों देते हो चिर सुन्दर को
इतने छोटे सीमा - बन्धन ?
कठिन, कराल, ज्वलन्त, प्रखर भी
है सौन्दर्य - प्रकेत चिरन्तन !

कल-कल, टल-मल, सर-सर, मर्मर,
यही नहीं सुन्दर की वाणी,
इन्द्र-वज्र-ध्वनि भी है उसकी
गहर गभीर गिरा कल्याणी !

क्या सुन्दर बोला है तुमसे
अब तक केवल विहँस-विहँस कर ?
क्या तुमने देखा है उसका
केवल मंजुल रूप हृदय - हर ?

क्या तुमने न लखा है अब तक
सुन्दर का विकराल स्वयंवर ?
क्या न निरख पाये हो अब तक
उसका उग्र रूप प्रलयंकर ?

लो, तब तो है अभी तुम्हारी
सुन्दर की साधना अधूरी !
नहीं कर सके हो तुम अब तक
सुन्दर की उपासना पूरी !

अरे, सुमन ही क्या ? सुन्दर के
तो हैं ये पाहन भी पाहुन !
गर्जन भी है वहाँ ! नहीं है
केवल मधुपों की ही गुन-गुन !

मत समझो मलयानिल ही है
उसका शीतोच्छ्वास भला - सा;
अनलानिल भी नित्य उच्छ्वसित
करती ही है उसकी नासा,

फूलों पर ही नहीं, कण्टकों
पर भी है सुन्दर का नर्तन;
सुखद, दुखद, यह तो है केवल
उसका क्षणिक रूप परिवर्त्तन !

है जीवन के एक हाथ में
मधुर जीवनामृत का प्याला,
और, दूसरे कर में उसके
है कटु मरण - हलाहल - हाला !

एक आँख से निकल रही है
सर्व दहन की वह्नि अपारा,
और दूसरी से बहती है
नित्य करुण जल - मुक्ता - धारा !

चिर सुन्दर के किस स्वरूप का,
कहो, करोगे तुम अभिनन्दन ?
सदा रहेगा क्या सीमित ही
तव पूजन, अर्चन, अभिनन्दन ?

ललित, चारु, लघु, कोमल, तनु पर
हिय न्यौछावर करने वालो,
मधुर, मधुर, सुकुमार गीत के
तुम मनहर स्वर भरने वालो,

नहीं हुई है पूर्ण तुम्हारी
सुन्दर की अर्चना अलौकिक;
चिर सुन्दर का स्तवन तुम्हारा
रहा अभी तक केवल मौखिक;

जब तक उसकी वह कराल छबि
कर न सकोगे मन से स्वीकृत;
तब तक नहीं हो सकोगे तुम
सुन्दर के द्वारा अंगीकृत।

ओज, तेज, विक्रम, बल, दृढ़ता,
महानाश - क्षमता - निर्ममता,–
अडिग धीरता, कुलिश कठिनता,
भीम शक्तिमत्ता, चित् - समता,–

नित अपराजित सहन - शीलता,
नित्य अकम्पित नवल सृजन - रति
नित बाधा - भूधर उत्पाटन,
नित्य क्रान्ति-कृति, नित अबाध गति,

ऐसा है सौन्दर्य समुच्चय,
ऐसा है वह सुन्दर प्रियवर,
ऐसा है वह जीवन - रंजन,
ऐसी है उसकी छबि हिय - हर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१८ जून, १९४४

■

सूना सब संसार हुआ है

यों अनुभव होता है मानो सूना सब संसार हुआ है,
ऐसा लगता है मानो यह जीवन दूभर भार हुआ है !

देख रहा हूँ मैं उन्मन-सा, आज रात, निश्चल ध्रुवतारा,
और गगन - मण्डल में मैंने यह सप्तर्षि - समूह निहारा;
देखी उधर कृत्तिका, देखा बिद्ध मृगशिरा का नज़्ज़ारा;
देख भ्रमित नभ पूछू हूँ मैं : क्यों यह सब व्यापार हुआ है ?
यों अनुभव होता है मानो सूना सब संसार हुआ है;

गगन विलोका, इकटक अपलक, झुक-झुक यह धरती भी देखी,
भूधर देखे, नदियाँ देखीं, ताल - तलैयाँ भी अनुलेखी;
जीवन देखा विकसित होते; और मरण - लीला भी पेखी;
पर, कुछ समझा नहीं, कदाचित्, मुझको बुद्धि-विकार हुआ है !

मानव को अवलोका जग में, उगते, बढ़ते-झरते दिन-दिन;
यों जीवन की क्रीड़ा देखी, और मरण भी देखा छिन-छिन;
कालबली का कलन निहारा, जाते देखे पल, छिन, गिन-गिन,
यह सब देख, हृदय में अगणित प्रश्नों का संचार हुआ है;
यों अनुभव होता है मानो सूना सब संसार हुआ है।

मानव क्यों आया पृथिवी पर ? याँ से कहाँ चला जाता है ?
किस-किस का इससे नाता है ? इसका किस-किस से नाता है ?
जाने वाला गया ? या कि जो जाता है वह फिर आता है ?
इस उधेड़-बुन में ही पड़कर मन सम्भ्रम-आगार हुआ है;
यों अनुभव होता है मानो सूना सब संसार हुआ है।

यदि सब क्षण-भंगुर ही है तो अमर-भावना है क्यों प्रिय में ?
अगर अचिरता है, तो उठती अमृत-तान क्यों मन-इन्द्रिय में ?
मानव क्यों अनन्तता का ही आरोपण करता निज प्रिय में ?
इसी प्रश्न-मन्थन से मम मन विचलित बारम्बार हुआ है;
यों अनुभव होता है मानो सूना सब संसार हुआ है ?

■

राजेश्वर मानव

"छोड़ो मार्ग, हटो सम्मुख से,
भय - श्रद्धा से काँपो थर-थर,
देखो, यहाँ पधार रहे हैं
निखिल सृष्टि के ये राजेश्वर,
नत मस्तक हो इनके आगे
कहो कि हम सब सेवक-गण हैं !
लख अवतार आपका हे प्रभु,
धन्य विश्व के रज कण-कण हैं" !!
सम्बोधित कर सब अग जग को
महाकाश वाणी यों आयी,
और प्रकृति ने अति अचरज से
इधर-उधर आँखें दौड़ायीं।

यह कैसा आदेश अलख का ?
उनकी यह क्या अम्बर-वाणी ?
आये यहाँ कौन राजेश्वर ?
यों कह रही प्रकृति कल्याणी ।

अनिल, अनल, आकाश, विश्व सब,
सब ब्राह्माण्ड हिये अचरज भर,
पूछ रहे हैं आतुर होकर;
आये यहाँ कौन राजेश्वर ?

इतने में लख पड़ा कहीं पर
डग-मग गति दो पग का प्राणी,
कुछ उन्नत शिर, फिर अवनत शिर
झटपट, अस्फुट जिसकी वाणी ।

प्रकृति हँसी ब्रह्माण्ड हँस पड़े,
हँसे सभी दिक् - पाल भयंकर,
धरा हँसी, अम्बर भी विहँसा,
विहँसे देश - काल प्रलयंकर !

एक साथ सब पूछ उठे यों :
अरे यही है क्या राजेश्वर !
यह दुर्बल तन, निपट निबल मन,
यह मानव, यह जन्तु निम्नतर ?

और जगत् की जड़ सत्ता ने
उस मानव का किया निरादर,
अलख - गगन - वाणी बिसराकर,
लगा घूमने सकल चराचर ।

सूर्य, चन्द्र, तारागण, सब ने
मिलकर उसकी हँसी उड़ायी;
पर, मानव ने झटका देकर
जड़ता से निज बाँह छुड़ायी;

अचरज भरे, टिमटिमाते - से
उसने खोले अपने लोचन,
जल, थल, अनिल, अनल अम्बर का
उसने किया सभय अवलोकन;

अम्बर चुम्बी भूधर देखे,
देखे उसने बीहड़ जंगल;
त्रास भर गया उर अन्तर में
मन में जागा भाव अमंगल;

उसने चारों ओर निहारो
दुर्दमनीया कठिन विषमता,
उसने देखी निज अक्षमता;
लखी प्रकृति की निर्मम क्षमता,

उसने गहरी एक साँस ली;
द्विपद हुआ कुछ भौंचक्का-सा;
लखकर अपने को एकाकी,
उसे लगा गहरा धक्का-सा !

पर अस्फुट, अस्पष्ट, अलख-सी
हिय में एक प्रेरणा जागी;
निस्सहाय मानव की हिय-रति
निज सम, बोधन कृति में पागी।

मानव जीवित है अब तक भी
यह क्या महदाश्चर्य नहीं है ?
बली, भूधराकार भयंकर, पूर्व जन्तु
क्या आज कहीं है ?

उनके अस्थि-पंजरों के कुछ
अश्मीभूत चिह्न मिलते हैं;
लख विकराला कृतियाँ जिनकी,
दर्शक-गण के दिल हिलते हैं।

हुए लुप्त ऐसे भी जिनकी
श्वासों में खिचते थे हाथी;
पर, बच रहा द्विपद, जिसका था
तब कोई न सँगाती - साथी।

मिले सहस्र-पाद जल-थल-चर,
मिटे मेरुतनधारी तमचर;
बड़े-बड़े पंखों वाले वे
मिटे भयंकर सभी गगन-चर।

किन्तु बचा लाया अपने को,
किसी तरह अति दुर्बल यह नर;
यह नर, जिसे मारने मानो
तुले हुए थे सकल चराचर !

अब तक निगल न पायी इसको
सर्वनाश की गहरी खनिका;
इसके आगे नाच थकी है
क्रोध - भरी संसृति की गणिका।

मानव ने जब निज दृग खोले
तब उनसे किसने झाँका था ?
बैठ नयन-वातायन में तब
किसने इस जग को आँका था ?

वह भय था ? या वह अचरज था ?
अथवा क्या वह उत्सुकता थी ?
वह थी ज्ञान-पिपासा क्या कुछ ?
या वह बेसुध भावुकता थी ?

कुछ कहते हैं वह अचरज था ?
कुछ कहते हैं वह तो भय था !
हम कहते हैं वह विकार-पति
कोई तत्त्व चेतना - मय था !

ऐसा तत्त्व, झलकती रहती
जिसमें महिमा चिर चेतन की;
ऐसा तत्त्व कि जिसके वश हैं
सकल क्रियाएँ संवेदन की;

वह, जो प्रकृति छटा-उद्दीपन
अपने में अंकित करता है,
ऐसा तत्त्व कि शीत-उष्ण से
जो निज को शंकित करता है;

जिसमें बाह्य प्रभावों को नित
धारण करने की क्षमता है,
वही तत्त्व झाँका था दृग से
जिसकी कहीं नहीं समता है।

प्रकृति विलोकी थी यदि नर ने
नयनों में केवल भय भरकर,
तो फिर उसके मन में कैसे
जागा अन्वेषण संशय - हर ?

भय वश मानव कहो कभी क्या
हो उठता है यों लीलोत्सुक ?
भीति ग्रस्त तो सदा रहेगा
गहन कन्दराओं में छिप-लुक !

और न केवल अचरज ही से
खुलती है उलझन सिरजन की ?
मानव-यात्रा में लगती हैं
पूर्ण शक्तियाँ मानव-मन की

टुकड़े-टुकड़े करके कोई
क्यों मानव को सदा निहारे ?
उसको क्यों यों काटे कोई –
बिन समझे औ' बिना बिचारे ?

मानव गठरी नहीं राग की,
नहीं विकारों का अनुगामी;
काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, मद,
अचरज, वह इन सब का स्वामी !

दिखने में जो इनका पुतला,
पर, वास्तव में जो निष्कामी,–
आया ले दीपक चेतन का,
वह अभिमानी, निपट अनामी !

उसने अपने इस दीपक से
सब नक्षत्र किये आलोकित;
उसने नदियाँ की कल्लोलित
उसने अर्णव किये विडोलित;

झंकृत किये सृजन वीणा के
तार-तार उसने निज कर से;
वह, कल-गानवती स्वर-गंगा,
लाया खींच नील अम्बर से;

उसने अवलोका इस जग को
अपने उच्च चेतना-स्तरसे;
गूँथ बना लाया नियमों की
माला वह निज अन्तरतर से,

पर, उसका प्रवास-पथ कितना
बीहड़ था, कितना बीहड़ है !
एक ओर लघु चेतन-दीपक,
इधर तिमिर का वैभव जड़ है;

जब एकाकी आदि मनुज ने
अपने चारों ओर निहारा;
तो दिखलाई दिया सभी दिशि
उसको निपट विकट अँधियारा;

एक ओर थे ऊँचे भूधर,
एक ओर थे गहरे सागर,
कहीं पड़े थे भारी अजगर,
कहीं दहाड़ रहे थे नाहर।

कहीं बरफ़ था, कहीं धूप थी,
कहीं भयानक आँधी पानी,
अनजाना-सा सारा जग था,
निखिल प्रकृति यह थी अनजानी;

ऐसे जग में कहो क्या करे
निपट निबल मानव एकाकी ?
जन बिन, शस्त्र हीन, निःसाधन,
कैसे विजय करे वसुधा की ?

मानव झिझक हटा कुछ पीछे,
मानव - हिय भय भरा भयंकर !
लेकिन उससे कहा किसी ने :
कि रे मनुज, तू है शिवशंकर !!

पीछे हटा, बढ़ा फिर आगे,
पाँव लड़खड़ाये रह - रहकर;
हिय धड़का, मिच गये नयन भी,
निकला खेद – स्वेद बह - बहकर;

किन्तु न रुकी चरण गति उसकी,
मानव सतत गया बढ़ता ही;
होने लगा ऊर्ध्व - पथ निर्मित,
मानव सतत गया चढ़ता ही;

प्रकृति मानिनी के घूँघट को
लगा खोलने धीरे - धीरे,
गहन अगम्या को यह मानव,
लाया ज्ञान सरोवर तीरे !

उसने लाँघे धीरे - धीरे
प्रस्तर – लौह – ताम्र मन्वन्तर,
हुई विस्तृता ज्ञान - मेखला,
विकसित हुआ बाह्य - अभ्यन्तर;

वना चुका है निखिल प्रकृति को
अपनी दासी, यह राजेश्वर,
किन्तु अभी तक कर न सका है
अपने वश अपना अन्तरतर!

पर, निश्चय ही यह मानव है:
राजेश्वर, अमिताभ, क्लेशहर!
जिस दिन निज को पा जायेगा,
उस दिन होगा यह सर्वेश्वर!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१४ सितम्बर, १९४३

■

भूल-भुलैया

इस भूल-भुलैया से कैसे
निकले मानव का भूला मन ?
हो रहा आज तो निष्फल-सा
उसका सब चिन्तन और मनन !
मानव की हर-हर पगडण्डी
बन गयी घूम-फिर कर चक्कर,
घानी का बैल बन गया है
फिर भी, वह कब बैठा थककर ?

ग़न्नाटे में है फँसा हुआ,
वह झुँझलाता-अकुलाता है ?
चक्कर में है वह बेचारा,
फिर भी चलता ही जाता है !

जिनने कि निकट से देखा, वे
बोले : जन ऊर्ध्वगमन-मय है,
यह शिल्प और विज्ञान अमित
उसकी उन्नति का परिचय है;
कुछ कहते हैं कि मनुज तो है
क्षुत्क्षाम अधोगामी प्राणी,
शुभ ऊर्ध्व गमन की बात, कहो,
इन मानव ने कब पहचानी
पर, हमको तो यों लगता है
जैसे कि मनुज है चक्कर में,
ऊपर, नीचे, नीचे, ऊपर,
वह फँसा इसी आडम्बर में !

उस उन्नत (?) मानव को देखो,
निरखो तो इस विज्ञानी को,
इस पण्डित को, इस ध्यानी को,
अवलोको इस अभिमानी को !
इसकी आँखों में देखोगे
तुम अति विकराल गुहा मानव।
इसकी त्यौरी में देखोगे
तुम विकट रक्तपायी दानव !

यदि मनुज आज वैसा ही है,
तो ऊर्ध्व-गमन है कहाँ, कहो ?
वह गुहा मनुज ही तो है जो
प्रासादों में है यहाँ, अहो ?

जग ने सोचा कि गुहा छोड़े
हो गये सहस्रों मन्वन्तर,
मानव इतना बढ़ आया है
बदला होगा कुछ अभ्यन्तर !
पर, बर्बरता औ' संस्कृति में;
जैसे, है बँधी एक डोरी;
मानो, रँग नहीं सका गहरी,
मानव अपनी चादर कोरी !
मानो, वह गुहा द्वार से चल,
फिर जा पहुँचा है आज वहीं,
जैसे, उन्नति का ऊर्ध्व पन्थ
वह ढूँढ़ सका है अभी नहीं !

मानवता ने सुलगायी है
निज बुद्धि-ज्वाल दुर्दान्त, चण्ड,
प्रज्वलित हो उठी है होली
हर-हर-हर-हर करती अखण्ड !
की बुद्धि मनुज ने अति विकसित,
पर, रहा हृदय रागानुरक्त,
फल भोगे, अब, जब किया आज
मानव ने जीवन यों विभक्त,

संस्कृत न हो सका हृदय-भाव;
कर लिया अमित बौद्धिक विकास,
तो आओ मेरे जबड़े में—
यों गरज उठा है सर्वनाश !

आ पहुँचा है जिस ठौर मनुज,
उस ठौर आज है सर्वनाश,
यदि, वह अपने हिय को मथ कर
कर ले न आज अपना विकास !
ये अंगारे, ये सब लपटें,
यह बुद्धि-प्रज्वलित वैश्वानर,
यह अति प्रचण्ड मस्तिष्क ज्वाल,
जो धधक रही है हहर-हहर
ये सब कर देंगी भस्मसात्
जीवित जन की ठठरियाँ आज
चेतो, अन्यथा रहेंगी बस
राखों की कुछ गठरियाँ आज !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३० जनवरी, १९४४

■

कस्त्वं ? कोऽहं ?

मानव, तेरा आरम्भ कहाँ ?
मानव, तेरी उद्‌भूति कहाँ ?
तेरे जीवन का स्रोत कहाँ ?
तेरी वह आदि प्रसूति कहाँ ?

तू कब जागा ? तू कब उट्ठा ?
जड़ से तू कब चैतन्य हुआ ?
जग के इन जंगम जीवों में
कब से तू, बोल, अनन्य हुआ ?

तेरी कैसी परिभाषा है ?
ओ द्विपद जीव, तू कौन अरे ?
कितने दिन से तू विचर रहा
है कैसे - कैसे रूप धरे ?

मैं मानव हूँ, मनु वंशज हूँ,
मैं क्या अपना इतिहास कहूँ ?
मैं अपने ही मुख से कैसे
निज उद्भव और विकास कहूँ ?

इतिहास बना मम भ्रू-विलास,
मन्वन्तर मेरे दास बने;
घटनाओं के क्रम तो मेरे
प्रतिबिम्बों के आभास बने।

मैं इतनी बड़ी कहानी हूँ
जिसका अथ है अज्ञात, सखे;
मैं आदि-अन्त से परे, यहाँ
अथ-इति की कौन बिसात, सखे ?

मेरी इक - इक धड़कन में हैं
संचित युग-युग की संस्कृतियाँ;
उच्छ्‌वास और निःश्वासों में
मण्डित अनादि की संस्मृतियाँ;

मेरी इन रोमावलियों में
सिहरन का एक रहस्य भरा;
मेरी तन्द्रा की घड़ियों में
नैष्कर्म्य-तत्त्व-आलस्य भरा;

हे जग, मैं एक पहेली हूँ!
क्या दूँ तुमको परिचय अपना ?
मैं द्रष्टा हूँ, मैं भोगी हूँ;
जड़ - जंगम है मेरा सपना!

आरम्भ ? अरे मेरे अथ का
इतिहास रहा अज्ञेय सदा,
मम प्रथम प्रात के भैरव-स्वर
हैं रहे अगम्य, अगेय सदा;

कोई न गा सका आदि-गीत,
कोई न भर सका गत स्वर वे;
कोई न रख सका याद, कि थे
कैसे नव-गायन निर्झर वे;

मैं आज जगाने बैठा हूँ
वह आदि प्रभाती स्वर-लहरी;
विस्तृत अतीत के सागर में
कल्पना पैठती है गहरी।

इस विस्तृत-से वक्षस्थल में
जिसको कहते आकाश महा, —
इस नीले-से गगनांगन में, —
था कभी नाचता नाश महा;

अंगारों का था खेल यहाँ,
शोलों की याँ इक बस्ती थी,
था धुआँधार का राज यहाँ,
लपटों ही की याँ हस्ती थी;

जिसको जड़-जंगम कहते हैं
उसका न पता था कहीं यहाँ,
जलचर, थलचर की कौन कहे ?
जल-थल भी तो थे नहीं यहाँ ।

उन सर्वभक्षिणी लपटों में
लिपटा था आविर्भाव स्वयं,
उस महानाश के नर्तन में
था विश्व-सृजन का चाव स्वयं;

प्रलयंकारी आग्नेय रास
था आदि रूप निर्माणों का
उस सर्व - दहन की लाली में
था तत्त्व निहित चिर-प्राणों का

पावक की दाहक होली की
गोदी में सृजन विहँसता था
संहारकारिणी लीला में
चिर-सुन्दर उद्भव बसता था ।

यह विश्व और यह रवि-मण्डल
था वैश्वानर का क्रोधानल,
इन लोक और लोकान्तर में
खद-बद करता था कोलाहल ;

आकारहीन था सौर-जगत्,
आकारहीन थी वसुन्धरा,
तारल्य और नीहारमयी
थी आदि सृष्टि की परम्परा।

उन तरल और आकार-रहित
द्रव्यों में गति थी चक्रमयी,
क्या किसी कुम्भकर्ता ने ही
दी थी जग को यह प्रगति नयी ?

ये प्रलय और उद्‌भव दोनों
थे बद्ध एक आलिंगन में,
थी बँधी सृजन की प्रगति धीर
उस महानाश के रिंगण में ;

आगे - आगे था महानाश,
पीछे - पीछे था भव-उद्भव ;
अथवा विनाश, उद्भव, दोनों
थे एकरूप मिश्रित, तद्भव ;

है अरे, कौन अज्ञानी वह
जो नाश, सृजन, को अलग कहे ?
तत्त्वार्थ-दीपिका बुद्धि व्यर्थ
विश्लेषण का क्यों भार सहे ?

था काल-ज्ञान से बहुत दूर
उस सर्वनाश का रास - रंग,
उस समय काल-अनुभव-कर्ता
मानव था अवगुण्ठित, अनंग ;

भावी, अतीत औ' वर्तमान
थे एक रूप औ' एक प्राण,
काल - त्रय के गुण-बन्धन से
था विनिर्मुक्त वह कालमान ;

वह महाकाल था आदि-रूप,
या था निर्मम सतश्री अकाल,
थे विश्व-सृजन में पूर्ण लीन
जिसकी ग्रीवा के तन्तुजाल

धू-धू करती उन लपटों से,
अंगारों से, ज्वालाओं से,–
धूमायित उन कुण्डलियों से,
प्रज्वलित अग्नि-मालाओं से,–

अपने को पूर्णावृत करके
बैठा था क्या कोई साजन ?–
जिसका कन्दुक था अग्निपुंज,
था महाशून्य जिसका आसन ?

क्या कोई लीलामय भी है
लोकान्तर जिसकी कृतियाँ हैं ?
ताराओं के ये चलन - कलन
किसकी लीला की सृतियाँ हैं ?

किसके अंगुलि - परिचालन में
रमते हैं उद्भव, नाश सदा ?
किसकी भ्रूभंगी का नाटक
है प्रलय, सृष्टि की यह विपदा ?

कोई इसका कर्त्ता भी है ?
या स्वयम्भूत है जगड्वाल ?
इसका निर्णय करते - करते
थक गयी तर्क की तीव्र चाल ;

कल्पना शिथिल, है बुद्धि थकित,
मति गति चकिता, विश्वास मूक,
कर्ता, कारण का तत्त्व कहो,
कोई कैसे जाने अचूक ?

इस जग की नाटक-शाला के
उस सूत्रधार का किसे पता ?
वह है भी, या कि नहीं भी है,
यह भी कोई कब सका बता ?

पर, मैं मानव कैसे आया ?
कब निकला मैं अंगारों से ?
कैसे मैं हुआ विभूषित इन
उपकरणों के शृंगारों से ?

इन दस इन्द्रिय के बन्धन से
मैं बँधा अहो किस क्षण, बोलो ?
कब हुए चलित, जीवित, गतियुत
मम अंगों के रजकण, बोलो ?

प्रज्वलित पुंज यह पिण्ड, जिसे
भूमण्डल का अभिधान मिला,—
जिसकी छाती पर आज सभी
जड़-जंगम को सुस्थान मिला,—

धीरे-धीरे रख चला ज्वलित
अंगारों को अन्तस्तल में;
आकार-रहित तारल्य हुआ
अति घनीभूत उस हलचल में

लपटों के बुझते - बुझते ही
छा गया वायु आवरण यहाँ,
पृथिवी हो गयी उदधि-वसना,
लहरें उट्ठीं मन हरण यहाँ।

जल की कल-कल ध्वनि में मानो
नवजीवन की रसधार वही,
उद्भिज का स्फोट-विकास हुआ,
जीवन-प्रेरणा पुकार रही;

तृण ने, विटपों ने उद्ग्रीवी
होकर जीवन - सन्देश दिया,
उरगों ने गतिमय होकर के
अपने सिर गति का क्लेश लिया;

फिर गगन - विहारी और कई
पगधारी की बारी आयी,
जलचर, थलचर, नभचर आये,
नर आये औ' नारी आयी।

मैं आ पहुँचा, हाँ आ पहुँचा;
पर मैं कैसे आ गया यहाँ ?
जड़ता के इन जंजालों में
चेतन कैसे छा गया यहाँ ?

पावक-प्रसूत इस भूतल पे, —
जिसमें जड़ता ही जड़ता है,
चंचल चेतन बोलो कैसे
विकसित होकर यों बढ़ता है ?

जड़, चेतन, ये हैं भिन्न या कि
अन्योन्याश्रित इनकी माया ?
क्या जड़, चेतन का भेद-भाव
है केवल सम्भ्रम की छाया ?

वे हैं कुछ, जो यों कहते हैं :
"जड़-चेतन में कुछ भेद नहीं;
क्या तत्त्व-समीक्षक कर पाये
इन दोनों में विच्छेद कहीं ?

जड़ में भी तो अति की गति है,
उसमें भी तो है शक्ति भरी;
कण - कण में विद्युद्वेग भरा
आकर्षण की अनुरक्ति भरी;

है शक्ति निरी उसमें भी तो
जिसको हम चेतन कहते हैं;
फिर भेद कहाँ जड़-चेतन में ?
इस भ्रम में हम क्यों रहते हैं ?

जीवन तो इक मादकता है;
यह अहंभाव है एक नशा;
चेतनता है भौतिक पदार्थ –
मिश्रण की रासायनिक दशा।

जड़-जंगम का यह भेद - भाव
है निपट अतार्किक, दोषपूर्ण,
भ्रम-युक्त द्वैत-दर्शन में कब
मिल सकता है सन्तोष पूर्ण ?

है शाश्वत सत्य पदार्थवाद,
अवशेष सभी भ्रम-ही-भ्रम है,
अप्रत्यक्षों का अन्वेषण
अविशुद्ध कल्पना का श्रम है।''

पर क्या भौतिक प्रत्यक्षवाद
दे सका तुष्टि मानव-मन को ?
इतने ही से मिल गयी शान्ति
क्या आतुर अन्वेषक जन को ?

कल्पना-क्षितिज के परे, दूर, –
इस परदे के भी आर-पार –
उड़ने की यह चटपटी लगी,
कब रुका पंख का सुविस्तार ?

डैने फैलाये चला हंस,
सन-सन ध्वनि अम्बर में छायी;
चिर अपराजिता 'नेति'-गति ने
भौतिक सीमा कब अपनायी ?

चेतनता का अभिव्यंजन है
जड़ता ही के उपकरणों में;
निश्चय ही जीवन लिपटा है
भौतिकता के आवरणों में;

पर केवल भौतिकता में ही
आबद्ध नहीं है जीव-भाव,
भौतिक पदार्थ से भिन्न रूप
बहता है चेतन सुरस-स्राव;

जड़ता विकास-गुण शून्य; किन्तु –
जीवन में वर्द्धन-शक्ति भरी;
जीवन में रस-परिपाक-शक्ति,
आत्मोत्पादन-अनुरक्ति भरी।

जड़ में विकास के भाव कहाँ ?
उत्पादन की क्षमता न वहाँ;
जठराग्निक्षिप्त आहारों की
वह सदृशीकृत पक्वता कहाँ ?

चेतन की ये विशेषताएँ
जड़ता में कब उद्भूत हुईं ?
तब क्यों कहते हो जड़ता से
यह चिर-चेतना प्रसूत हुई ?

चेतन आया इस जड़ - जग में
जड़ता को धन्य बनाने को,
अपनी अनंगता त्यागी है
उसने अंगी कहलाने को।

नर आया, –मैं मानव आया, –
कैसे आया ? कुछ याद नहीं;
पर ममागमन की घटना में
है रंचमात्र अपवाद नहीं;

सम्भवत: मैं निर्गुणता की
गुणमय होने की आह, सखे,
सम्भवत: हूँ एकाकी की
अनेक होने की चाह सखे;

निर्वाह हो रहा है मेरा
विक्षुब्ध सिन्धु की लहरों में,
मैं उतराता ही रहता हूँ
अह-निशि के आठों प्रहरों में।

निस्सीम प्रेरणा - लालित मैं;
मेरा विकास सीमान्त नहीं;
अक्षर-प्रणोदना का शिशु मैं,
नश्वरता से आक्रान्त नहीं;

मैं आदि-कल्पना का स्वरूप,
मेरी कल्पना विश्व सारा;
मम ज्ञान-रज्जुसे बँधा हुआ
है यह उजियाला - अँधियारा;

मैं अग्निपुंज का हूँ स्फुलिंग,
मुझ में भी पावक-क्षमता है;
जड़ता से हूँ मैं बद्ध, किन्तु
मुझ में जगपति की समता है।

मैं बन्धन में हूँ; किन्तु, अरे,
बन्धन मेरी ही कृतियाँ हैं,
ये बन्धन तो मुझ निर्गुण की
गुणयुत होने की स्मृतियाँ हैं;

मैं विनिर्मुक्त, जब उकताया
अपनी अबद्ध परिभाषा से,–
आकार-रहित मैं, जब मचला
साकार भाव की आशा से,–

बस तभी निरिन्द्रियता मेरी
प्रकटी नव सेन्द्रियता होकर,
मैंने ही इसे बनाया है
अपनी वह निर्गुणता खोकर।

अपने बन्धन का स्वामी मैं
अपने बन्धन का दास बना,
अपनी ही लीला-कृतियों का
मैं आज निरा उपहास बना;

मेरे नयनों के पानी का
कारण मम हास-विलास बना,
मेरे दिग्भ्रम का मूल स्रोत
मेरा ही शोणित-रास बना,–

मैं कभी रहा हूँगा विमुक्त
अब तो हूँ रज्जु-बद्ध प्राणी,
बन गया आज मैं तो अपने
इस नव-बन्धन का अभिमानी।

मैंने अपनी इन आँखों से
देखा अँधियाला-उजियाला,
देखी मरु की दोपहरी औ'
पावस की श्याम मेघमाला;

उत्थान और पतनों की सब
लीला देखी, संस्कृति देखी,
सपने देखे, जागृति देखी,
सम्भ्रम देखे, संसृति देखी;

देखे मैंने इन नयनों से
युग-युग के अपने खेल कई;
विप्लव की घटिकाएँ देखीं,
देखी हैं रेलमपेल कई;

मैंने अपने इन हाथों से
पाहन-युग में वन-विजय किया,
निर्माण किया, विध्वंस किया,
जग को सुख-दुख, नय-अनय दिया;

दुर्दान्त वन्य पशुओं को भी
मैंने गृह-पोषित, दान्त किया।
वल्गा, अंकुश, नाथों के बल
दुर्दमनीयों को शान्त किया।

भोजन-धान्यों का चयन किया,
यों मैंने अपना त्राण किया,
उटजों, भवनों, प्रासादों का
जगतीतल पे निर्माण किया।

मैं प्रकृति-विजय करने निकला,
ठोकर खायी, गिर पड़ा, उठा,
फिर बढ़ा और मेरे श्रम से
भौतिक उन्नति का साज जुटा;

भूमण्डल हुआ कमण्डल मम
मैंने जल-थल को नाप लिया,
मेरी आकांक्षा ने जग को
वरदान दिया, अभिशाप दिया;

हूँ बना आज मैं जग-विजयी,
आकाश-जयी, भूतल-विजयी,
मैं देश-जयी, मैं काल-जयी,
मैं वायु-जयी, जल-थल विजयी।

तब से अब तक मैंने कितने
साम्राज्य बनाये, ढेर किये;
है क्या गणना, मैंने कितने
ये सीधे-उलटे फेर किये ?

मानव को दास बनाकर मैं
जगती में शाहंशाह बना,
फिर प्रलयंकर विद्रोही बन
मैं मनुज-मोक्ष की चाह बना।

हिय तड़प उठा, बन गया पुंज
मैं तीव्र विरोधाभासों का,
मेरा आँगन बन गया मंच
नित नूतन ताण्डव रासों का;

चाहे मैं आज नागरिक हूँ
या हूँ अनागरिक वनवासी,
तब भी तो मैं अतृप्त ही हूँ,
प्यासा हूँ, मैं हूँ अभिलाषी;

मैं द्वन्द्वों का अभिव्यंजन हूँ,
मैं पुंजीभूत द्विधा-गति हूँ;
मैं प्रतिमा - भंजनकारी हूँ,
मैं भक्तिमयी नवधा रति हूँ;

मैं विद्या और अविद्या हूँ;
मैं श्रेय-प्रेय - सम्मिश्रण हूँ;
हूँ शान्ति-तरणिजा-धारा में
संकर्षण - संघर्षण - रण हूँ;

मुझमें सनेह का सौष्ठव है,
मुझमें विकार की परछाईं,
मेरी आँखें हैं जागरूक,
मेरी आँखें हैं अलसाईं;

उनमें लाली मादकता की,
उनमें चिरजागृति के जल-कण,
उनमें प्रमाद की निर्गति है,
उनमें अनुतापों की उलझन;

मेरे हिय में है प्यार भरा,
अभिसार भरा, मनुहार भरी,
रति भरी, दरस-लालसा भरी
औ' विकट विरति की रार भरी;

मैं सतत सनातन अन्वेषक,
मैं शाश्वत टोह - निरत प्राणी;
हूँ सर्वार्पण - साधना - लीन,
मैं यज्ञयुक्त, चिर बलिदानी;

अपने लम्बे यात्रा - पथ में –
थककर मैं बैठा हूँ न कभी,
चलता ही जाता हूँ प्रतिपल,
हैं यदपि शिथिल मम अंग सभी;

मेरे मग में धुँधलापन है,
धूमिल है मेरी दृष्टि रंच,
मेरे मस्तक से श्रमकण की
होती रहती है वृष्टि रंच ।

है लक्ष्य अलख, अस्पष्ट, किन्तु,
मेरे हिय बीच विराम नहीं,
अन्वेषण के अतिरिक्त मुझे
कुछ और यहाँ पर काम नहीं;

जिसको ढूँढ़ूँ हूँ वह क्या है,
इसका कुछ है आभास मुझे;
अपने पिय की है दरस-प्यास
ऐसी कि बुझाये भी न बुझे;

अपने मग में मैं चलता ही
जाता हूँ धीर चरण धर-धर;
हैं सहस्राब्दियाँ बीत चुकीं,
बीतेंगे अगणित मन्वन्तर ।

मम अवस्थान का छोर दूर,
मेरे पथ का विस्तार बड़ा;
मेरी प्रणोदना नित नूतन,
मेरा उत्सुक अभिसार बड़ा ।

अति दूर-दूर के बहुरंगी
चिर-संगी हैं मेरे सपने,
निश्चय अवगुण्ठन के भीतर
छिप बैठे हैं साजन अपने;

घूँघट को तनिक उठाने को
कितने युग से मैं इच्छुक हूँ;
अपनापन खो देने को मैं
देखो तो कितना उत्सुक हूँ ।

ये ललित भावनाएँ मेरी,
बलखाती हुई तरंगें ये –
क्षण-क्षण ऊपर को चढ़ती-सी
बहुरंग कल्पना चंगें ये –

जब मेरे लघु अन्तस्तल में
क्रम-क्रम से आविर्भूत हुईं,
तब मेरे नयनों के सम्मुख
इक नयी सृष्टि सम्भूत हुई।

मैंने जल-थल में, अम्बर में,
देखे हैं अगणित चित्र कई,
इन भावों ने दिखलायी हैं
ये कई सृष्टियाँ नयी-नयी।

मद, काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह
यह मत्सर, घृणा और करुणा,–
वात्सल्य, शान्ति, चिर नेह, लगन
मैत्री, श्रद्धा, लज्जा अरुणा, –

ये सब मेरे हिय - मन्दिर के
चिर-कम्पित-से हैं अधिवासी;
मेरे गति - उत्तेजक हैं ये,
फिर भी हैं मेरी गल-फाँसी;

ये मेरे यत्नों के प्रेरक
हैं मेरे दृढ़तम बन्धन ये;
हैं ये मेरे मन - सन्तापी,
फिर भी हैं मम हिय-नन्दन ये।

है अपनापन भी तो मुझमें
है अहंभावना की धारा,
रस-राग-समुच्चय ही से तो
व्यक्तित्व बना मेरा सारा;

हैं ऊर्ध्व गमन के अर्थ बने
सोपान रूप मम मनोराग,
पर अधःपतन - कारण बनते
ये विकृत रूप में जाग - जाग;

अपने ही हाथों स्वर्ग - नरक
रच लेता हूँ मैं जीवन में,
देवासुर का संग्राम नित्य
होता मम हृदय - रणाङ्गन में।

है निर्मित रौरव नरक किया,
मैंने भूतल में यहाँ - वहाँ;
उमड़े शोणित के उत्स कई
ज्यों ही मैं पहुँचा जहाँ-जहाँ।

असि और अग्नि से मैं खेला,
हो गयी रक्त-अम्बरा धरा;
बीभत्स श्मशान बना यह जग
जो किसी समय था हरा-भरा;

इस आँगन में है सुलग रही,
मेरी सुलगायी हुई चिता;
मम असि के घाट चढ़ी-उतरी
कंकालों की टोली विजिता।

मैंने ही आज वनाया है
अपना स्वरूप बीभत्स बड़ा,
मैं आग उगलता हूँ जग के
इस चतुष्पन्थ पर खड़ा-खड़ा।

निर्माण - तत्त्व ने आशा से
था मेरा आविष्कार किया;
पर मैंने तो अब तक जग को
केवल विनाश-उपहार दिया;

आगे, पीछे, दायें, बाँयें,
भट्ठियाँ नाश की धधक रहीं;
अंगारों के अम्बार लगे,
शोलों से लपटें भभक रहीं।

मैंने अपना अस्तित्व स्वयं
जकड़ा विनाश के बन्धन में,
चिर - हास - विलास डुबोया है
निज हाहाकारी क्रन्दन में;

प्रतिविम्ब रूप मेरे स्वरूप
हैं भाजन अत्याचारों के,
हो रहे यहाँ नाटक जग में
मेरे ही क्षुब्ध विहारों के;

पर आज अचानक ही मुझको
सुध आयी बन्धन - खण्डन की,
आतुरता मुझमें जाग उठी
यह निज श्रृंखला - विभंजन की

मैं डोल रहा उन्मेष-मत्त
जग में विप्लव - सन्देश लिये,
मैं आज फिर रहा जल-थल में
प्रलयंकर - शंकर - वेश किये;

मैं देवदूत, मैं अग्निदूत
हूँ मनःपूत चिर - वलिदानी,
नवजीवन का उन्नायक मैं
अंगारों की मेरी वाणी;

मम नासा - रन्ध्रों से निकली
मेरे निःश्वासों की ज्वाला;
मेरी वाणी में वज्रघोष,
मेरे नयनों में उजियाला।

मैं उग्र मुक्ति - सन्देश - दूत
कहता हूँ अपने जग जन से :
"ओ मृतको, उठो, खीर खाओ,
भूखे हो तुम अपने मन से;

ओ सिंहपूत, हैं खींच रहे
ये स्यार तुम्हारा कौर, अहो,
फैलाओ तो अपने पंजे,
मन मारे यों मत बैठ रहो;

तुम आज दहाड़ो, क्रुद्ध वीर,
कँप जाये वसुन्धरा सारी,
पर्वत शिखरें कँप जायें ये,
दहलें शृगाल अत्याचारी।

क्या कहा कि तुममें प्राण नहीं ?
मदहोशी है ? कुछ होश नहीं ?
क्यों कहते हो तुम यों कि रंच
तुममें जीवन का जोश नहीं ?

तुम तेज पुंज निर्धूम वह्नि,
तुम गहनशक्ति-भण्डार अहो,
केवल तव शोणित-सिंचन से
वसुधा है हेमागार अहो।

कड़का दो तुम अपनी बिजली,
दोहन-गढ़ होगा नष्ट, अरे,
सत्ता धारी हो जायेंगे
निज सिंहासन से भ्रष्ट, अरे।

बन गया तुम्हारा रक्त - रंग
सम्पन्नोंके दृग की लाली;
तव स्वेद - बिन्दुओं से पूरित
है उनकी मतवाली प्याली;

उनके षट्रसमय व्यंजन में
अभिव्यंजन है तव चिर-श्रम का;
उनका धन-बल तो है केवल
फल मात्र तुम्हारे सम्भ्रम का;

कब तक रहने की इच्छा है
इस धोखे में, कुछ बोलो तो;
अब तो उट्ठो, चेतो, जागो
कुछ हिलो और कुछ डोलो तो।

धरती पर बेतरतीबी से
तुम अब तक चलते आये हो,
बस इसी लिए तो तुम अब तक
टुकड़ों पर पलते आये हो;

हाँ, आज क़तारें बाँध चलो,
सम - तालयुक्त निर्बाध चलो,
दायें पर दायें, बायें पर—
बायें चरणों को साध चलो।

पद-निक्षेपों की धम् - धम् से
मेदिनी कँपा दो, थर्रा दो;
प्राचीन गगन के आँगन में
तुम नवल पताका फहरा दो।

क्यों जकड़ रखा है अपने को
इस जीर्ण पुरातन बन्धन में ?
ओ मानव, तुम गतिहीन हुए,
शैथिल्य भरा हिय-स्पन्दन में;

अब तो अपने में शक्ति भरो,
सामूहिक की अनुरक्ति भरो,
जड़ता का द्रुत संहार करो,
शंकर-विप्लव की भक्ति करो;

संगठित करोड़ों हाथों से
सत्ता - गढ़ को कर दो सपाट;
सम्राट् तुम्हारे चरण - दास
तुम हो अनेक, तुम हो विराट्;

जिनके हाथों में हल-बक्खर,
जिनके दृढ़ हाथों में धन है;
जिनके हाथों में हँसिया है
वे ही भूखे हैं, निर्धन हैं;

हे मानव, कब तक मेटोगे
यह निर्मम महाभयंकरता ?
बन रहा आज मानव, देखो,
मानव ही का भक्षण - कर्त्ता;

है स्वर्ग - राज्य स्थापित करना
मानव के इस लीला - स्थल में;
सुख - समता का विस्तार यहाँ
करना है इस जगतीतल में।

जग के उपवन में सुमन बने
हैं खिले बिन्दु तव शोणित के,
हीरक हारों में, ओ मानव,
तव युग-युग के श्रमकण झलके;

तुम दास बने उल्लास-हीन,
पैठे पृथिवी के अन्तर में;
खानों की बीभत्सता घृणित
भर लाये अपने पंजर में;

अब तो नीचे से उठो, वीर,
विचरो इस विस्तृत अम्बर में,
तुम पड़े रहोगे यों कब तक
इस गत-अनुगति-आडम्बर में ?

फिर से तुमको सन्देश मिला,
नाशों का, नव - निर्माणों का
तुम देखो तो, संहारों में
होता है उत्सव प्राणों का;

डमरू लेकर बन जाओ तो
प्रलयंकर शंकर रूप रंच,
यह नाश और नव - सृजनों की
हो लीला यहाँ अनूप रंच;

यह सृष्टि पुरानी पड़ी, बन्धु;
अब तुम रच डालो सृष्टि नई;
जिसमें उन्नतशिर हो विचरें
ये मुकुटहीन नतमाथ कई;

आता ही रहता है प्रतिपल
विप्लव का यह सन्देश महा;
जीवन के रक्त - रणांगन में
अवकाश कहाँ ? है क्लेश कहाँ ?

जूझो-जूझो, लड़ते जाओ,
गिरते जाओ, पड़ते जाओ,
नीचे गिर-गिरकर फिर सँभलो
फिर ऊपर को चढ़ते जाओ;

अन्यायों के आधारों को
भुज-बल से नष्ट-भ्रष्ट करो;
तुम नाश करो, नव-सृष्टि करो,
मानवता के सब कष्ट हरो;

क्यों चौंक रहे हो ? मत चौंको;
यह शंखनाद गम्भीर, धीर,
कम्पित करता है अन्तरिक्ष
घन-वायु-आवरण चीर-चीर;

घहराता है गुंजन नभ में,
हृदय-स्थल में उर-अन्तर में,
नव - यौवन का सन्देश आज
गूँजा मानव के घर - घर में

बाँहें फड़कीं, उत्साह नया
बल-हीनों का आलम्ब हुआ,
संहारों की प्रेरणा मिली,
निर्माणों का आरम्भ हुआ ।"

■

कार्य-कारण-शून्यता

मानव की प्रयोगशाला से आयी यह ध्वनि आज :—
क्यों है ऊहापोह तुम्हारी यह इतनी बिन काज ?
कार्य और कारण के पीछे पड़े हुए दिन-रात,
क्यों तुम क्षीण कर रहे हो यों अपने कोमल गात ?
जग है नित्य अहैतुक, इसमें रंच न युक्ति-प्रमाद,
यहाँ नहीं मिलने का तुमको कोई युक्ति-प्रसाद !

क्यों कहते हो कि हैं तर्कमय सिरजन के व्यापार ?
क्या हैं हेतु-वद्ध इस जग के नैसर्गिक व्यवहार ?
नहीं, बन्धु, हैं कहाँ तर्कयुत ये नैसर्गिक खेल ?
जग में फैली कहाँ कार्य औ' कारण की यह बेल ?
कार्य और कारण है केवल मन-हय की विक्रान्ति !
'पूर्व' और 'पश्चात्' 'पर', 'अपर', यह है हिय की भ्रान्ति!!

'तब' औ' 'अब' का काल-विभाजन है नितान्त ही भ्रान्त;
और, इसी कारण मानव-हिय हुआ भ्रान्ति-आक्रान्त;
'तब' 'अब' का यह भेद न हो तो कहाँ हेतु का भाव ?
कहाँ कार्य-कारण का झंझट ? कहाँ ? तर्क का चाव ?
इसी 'पर', 'अपर' के झूले में मनुज रहा है झूल !
अत: कार्य कारण का, हिय में, खटका है यह शूल;

यहाँ काकतालीय न्याय है; यहाँ घुणाक्षर न्याय;
अतः दिखाई दिया जगत् में हमें हेतु-व्यवसाय,
नहीं हेतु-मूलकता जग में, यों है हेत्वाभास;
यों भौतिक विज्ञान कर रहा तर्कों का उपहास !

जड़ विज्ञानी अपने कर में ले अणुवीक्षण यन्त्र,—
बोला : जग में नहीं हेतु का कोई शासन-तन्त्र !

यहाँ कार्य-कारण है केवल दृग्गत स्थूल विकार;
विद्युन्मय परमाणु - कणों में नहीं हेतु-विस्तार !
यह उत्प्लवन विद्युमणियों का यादृच्छिक है नित्य,
लो, कर दिया अहैतुकता ने कारण-वाद अनित्य !
है सविकल्प सदा अणु-संहति-भेदन का व्यापार
अंशु-स्फुरणकारी पदार्थ का है विचित्र व्यवहार;

हेतुवाद की जड़ें हिलाकर यह भौतिक विज्ञान,—
मिला रहा है आज धूल में तर्क-युक्ति का मान !
कहता है : ये विद्युन्मणियाँ कण हैं ! किन्तु तरंग ।
कहता है : ज्योतिष्किरणें हैं भौतिक, किन्तु अनंग !
कहता है : यह घनीभूत जग है तरंग उत्ताल !
किन्तु तर्क कहता है : मत यों फैलाओ भ्रम-जाल !

कहता है विज्ञान : नहीं है यह कोई भ्रम-जाल,
है निसर्ग की यह लीला ही युक्ति-हीन सब काल;
जो दिक्-काल कहे जाते हैं आदि अन्त से हीन,
वे भी हैं सीमान्त युक्त औ' वे भी होंगे क्षीण;
युक्त—वाद तव बोला : मेरे, हे भाई विज्ञान,
कहीं न कहीं तुम्हारे भीतर है भारी अज्ञान !

अणु-संहति-भेदन-कारण को यदि न सके तुम पेख,—
और पूर्ण हैतुकता को तुम यदि न सके हो देख,—
तो क्यों कहते हो कि जगत है हेतु-हीन-व्यापार ?
क्यों कहते हो कि है अकारण यह समस्त संसार ?

तुम्हीं कह रहे हो कि विश्व में हैं कुछ नियम अटूट,
तब क्यों पिला रहे हो हमको यह अयुक्ति की घूँट;

यदि विस्तृत ब्रह्माण्ड महत् में है नियमितता रंच,–
यदि है नियमों के स्तम्भों पर निखिल प्राकृतिक मंच,–
समीकरण सिद्धान्त गणित के यदि हैं सृष्ट्याधार,–
तो क्यों कहते हो कि हुआ है हेतु-वाद निस्सार ?
कहो कि नहीं पा सके हो तुम अब तक कारण-ज्ञान,
किन्तु न कहो अकारण जग को, करो न निज-अपमान !

है स्वीकार कि नहीं पा सका मानव अणु का भेद,
नहीं मिटा है अब तक उसका यह अन्वेषण खेद,
किन्तु मनुज की तार्किकता है अमित प्रेरणा पूर्ण,
वह तो इस विसृष्टि का दुर्गम गढ़ कर देगी चूर्ण।
तर्कवाद विन क्षण भर भी तो चल न सकेगा काम;
कारण-वाद-मार्ग पर ही जग चलता है अविराम।

अणुओं की, विद्युन्मणियों की, लीला अपरम्पार,
औ, खगोल दे रहा चुनौती हमको बारम्बार;
किन्तु युक्ति औ' तर्क, कहो तो, कब बैठे हियहार ?
अरब ख़रब लौं, अनाद्यन्त लौं, है इनका विस्तार।
आज जहाँ दिखलाई देती हेतु-शून्यता अन्ध
वहीं तर्क-रवि हमें दे रहा प्रखर ज्योति निर्बन्ध।

दिक् में काल, काल में दिक् को करके जटित सयत्न,
तुमने यह सापेक्ष्यवाद का दिया जगत को रत्न;
तर्कवाद है सदा तुम्हारा अनुग्रहीत महान,
शुद्ध सत्य शोधक हो तुम भी, हे भौतिक विज्ञान।

किन्तु तुम्हारे इस विवाद से असन्तुष्ट है तर्क;
मानो नहीं हुआ है तुमको पूर्ण सत्य - सम्पर्क !

कहते हो, है काल परिधिमय, वितति-वान है किन्तु;
तुम कहते हो, दिक् सीमित है, वर्द्धमान है किन्तु;
यदि है काल परिधिमय तो फिर उसके बाहर कौन ?
यदि दिक् है सीमित तो उसके बाहर किसका मौन ?
तर्क कह रहा है कि अगर है अन्तवन्त दिक्-काल,
तो फिर आदिवन्त भी होगी इनकी स्थिति विकराल ?

देश-काल के पहले क्या था ? कुछ तो कहो सुजान !
इनकी सीमा के बाहर का कुछ तो करो बखान।
वर्द्धमान दिक् की होती है किसमें वृद्धि महान् ?
और काल किससे वृद्धिगत होता, हे विद्वान् ?
मत कहना कि नहीं है किंचित् यहाँ तर्क का स्थान,
मत कहना कि वास्तविकता ही दिखलाता विज्ञान !

यों लगता है : कि है कहीं पर मानो कोई भ्रान्ति !
लगता है मानो आवश्यक है विचार में क्रान्ति !
संकल्पात्मक देश - काल को देकर भौतिक रूप,
मानो यह विज्ञान खोदता है नित अन्धा कूप,
किन्तु विचार मनुज का कहता है यों बारम्बार,—
निश्चय ही हट जायेगा यह घटाटोप अम्बार !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ जनवरी, १९४४

■

जीवन-प्रवाह

हहर-हहर-हर-हहर - हहर - हर,–
यह जीवन-नद उमड़ रहा है;
प्लावित कर दिक्-काल निखिल को
यह प्रवाह घन घोर बहा है;
पाकर यह प्रसाद चेतन का
सकल सृजन अति धन्य हुआ है;
यों जीवन के आरोपण से
जड़ ब्रह्माण्ड अनन्य हुआ है;
जड़ रूपिणी निरर्थकता में
यह सार्थकता चमक उठी है;
प्रखर चेतना की किरणों से
सृष्टि चमकती दमक उठी है।

क्या जानें, किस तुंग शैल की
अलख शिखर के अभ्यन्तर से,
उमड़ बह रहा है जीवन-नद
जाने कितने मन्वन्तर से!
शून्य, अरूप, अलख, निर्ध्वनि, जब
घन-ध्वनि-मय हो करके हहरा–
अदिक्, अकाल, चिरन्तन, चेतन, जब
जीवन-नद बनकर लहरा,
तब दिक्-काल बने उसे नद के
अति अमाप दो कूल-किनारे,
औ' अनेक बुद्बुद सम प्रकटे
जल-थल-नभ-चर न्यारे-न्यारे।

गहन, अलख उद्गम वाली यह
घहर रही है जीवन-सरिता,
राग-रंग आवर्त्तवती है;
है इसकी प्रवाह-गति त्वरिता;
मानव-हिय के प्रश्न अनेकों
इसके मकर बने बलशाली,
जीवन की दृढ़ता बन आयी
इस तटिनी की वहन-प्रणाली;
इसमें काम-क्रोध के वर्तुल,
गहरे-गहरे भँवर कुटिल हैं;
कोटि-कोटि उच्छ्वास-फेन से
ये दिक्-काल-कूल फेनिल हैं !

इसका घोर प्रवाह घोष यह
हास्य भरित, आक्रोश भरित है !
अयुत विरुद्ध भावनाओं का
अभिव्यंजन इसमें मुखरित है !!
संशय-कर्दम-पंकिल जल है;
द्वन्दों की उठ रहीं तरंगें;
मीन-सदृश कर उठीं केलि ये
रंग - बिरंगी हृदय - उमंगें;
असफल आकांक्षा की बूँदें
कूलों से टकराकर छहरीं,
किन्तु जा रही है बहती ही
यह जीवन की गंगा-लहरी !

कौन सिन्धु है जिसे भेंटने
आतुर होकर यह धायी है ?
अथवा, केवल यों ही क्या, यह
पन्थ भूल, जग में आयी है ?
क्या आबद्ध हो गयी है यह
इन दिक्-काल-तटों से यों ही ?
अहो, बही है यह सरिता क्या
यों ही निरुद्देश्य - ज्यों-त्यों ही ?
सोख जायगा क्या इसको यह
देश-काल का विकट मरुस्थल ?
क्या इसके प्रवाह की गाथा
होगी यों ही स्मृति-दृग-ओझल ?

क्या स्वभाव है इस सरिता का ?
क्या है यह चिर ऊर्ध्वगामिनी ?
अथवा इस अपगा की गति है
क्या सन्तत ही अधोगामिनी ?
किंवा, अधश्चोर्ध्व स्यन्दन का
क्या यह केवल भ्रम ही भ्रम है ?
यों प्रश्नों की झड़ी लगाना
क्या बिन काज, व्यर्थ का, श्रम है ?
पर, मानव, जीवन-प्रवाह लख,
कैसे बैठ रहे बिन बोले ?
बुद्धि-तुला दी है चेतन ने;
तो वह क्यों न स्वयं को तौले ?

कहते हैं : आनन्द मिटेगा
यदि निरखा जीवन गहरे से !
कहते हैं : गभीर दर्शन हित,
तुम न रुको ठहरे-ठहरे-से !!
कहते हैं : जीवन प्रवाह है;
बहे चलो अहर्निशि बिन सोचे;
कहते हैं : मत रुको रंच भी,
यदपि गहन चिन्तन हिय नोंचे !
यह शिक्षा अवश्य ही होगी
जग - जीवन - कल्याणकारिणी;
किन्तु सीख यह नहीं बन सकी
द्विपद मनुज की क्लेश-हारिणी !

कैसे मनुज रहे पत्थर - सा,
प्रश्नों की ऊबा - साँसी में ?
नियति स्वयं ही झुला रही है
उसको इस ठण्ढी फाँसी में !
उसको तो यह जिज्ञासा का
मिला शाप-वरदान चिरन्तन,
ऊहापोह बिना वह कैसे
पाये निज हिय-तोष निरंजन ?
मत दो यह उपदेश मनुज को
कि वह रहे जड़वत् होकर ही;
कि वह परम सुख प्राप्त करेगा
अपनी जड़ता को खोकर ही !

आदि अलख है; अन्त अलख है;
किन्तु मध्य भी क्या सुविदित है ?
जो है दृग्गोचर जीवन - क्रम,
वह भी तो अतिशय अपिहित है
किन्तु झलक जब-तब जो मिलती
उससे तो इतना निश्चित है
कि है अबाध गमन-भय जीवन
यदपि शृंखला से विजड़ित है !
हो सकती है दुग्ध - फेन - सी,
जीवन की मटमैली चादर;
उसे धूसरित देख करे क्यों
कोई उसका निपट निरादर ?

प्राणों में भर अमिता दृढ़ता
मनुज आज हुंकार रहा है;
मानो निज विस्मृत स्वरूप वह
स्मृति में पुनः उतार रहा है;
इस प्रवाह - आकर्षण में पड़,
मानो भूला था अपने को,
आतुर है वह कि अब मेट दे
इस परवशता के सपने को !
सहसा आज घनक उट्ठे हैं
नवल जागरण घण्ट घनन-घन !
देखो, खुलने वाले ही हैं
मानव के लोचन - वातायन !

जो अब तक बहता जाता था
अति परवश-सा, अथवा शव-सा;
निपट अकर्ण पोत-सा, तृण-सा,
अथवा तिमि-सा, या राघव-सा;
वही प्रवाही जन्तु आज तो
उभर रहा है बन विद्रोही;
जो वाहित था, वही हो रहा,
आज, ओघ - लहरी - आरोही!
इस जीवन प्रवाह की सृति भी
ग्रहण करेगी दिशा ईप्सिता,
मानव को न बहा पायेगी
इधर-उधर जीवन की सरिता!

यह जीवन की सरिता यद्यपि
लगती है निम्नगा निरन्तर,
किन्तु ऊर्ध्वगामिनी करेगा
इसको मानव का अभ्यन्तर;
धार बहेगी अब ऊपर को;
अधो - वहन - आभास मिटेगा;
उद्ग्रीवी होगा जीवन - क्रम;
विवश गमन का भास मिटेगा;
मानव अब हुंकार उठेगा;
मैं जगपति हूँ! मैं हूँ स्वामी!
मनोविकारों का न दास मैं;
मैं निज सत् स्वभाव अनुगामी!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१३ फ़रवरी, १९४४

■

मानव की क्या अन्तिम गति-विधि ?

क्या है नर का भाग्य जगत् में ?
क्या है उसकी अन्तिम गति-विधि ?
आवागमन-रेख ही से है
क्या चिरवेष्ठित उसकी सुपरिधि ?
लख निज को, लख इतर जनों को
उगते, बढ़ते औ' मुरझाते,–
लख घूर्णित गति-चक्र जगत् का,
ऐसे प्रश्न हिये - फुर आते;
क्या है कुछ उद्देश्य ? या, कि है
केवल निरुद्देश्य जग - सम्भ्रम ?
मानव का क्या काम यहाँ पर ?
निरुद्देश्य है क्या जीवन - क्रम ?

मैंने जब - जब पूछा 'क्या है ?'
तब - तब अनुध्वनि आयी 'क्या है' ?
मेरी ध्वनि लौटी बन प्रतिध्वनि;
यह अच्छी भौतिक विद्या है !
मेरी यह 'क्या है ? क्या है ?' सुन,
मानो जग मुँह चिढ़ा रहा है;
अम्बर यह, अज्ञात, अगम से,
मुझको मानो भिड़ा रहा है;
क्या है भवितव्यता मनुज की ?
उसका भी है क्या अपना पद ?
या उसका जीवन है केवल
दस पैने नख, तीस तीक्ष्ण रद ?

पीछे मुड़कर मैंने डाले
जन - यात्रा - पथ पर अपने चख;
उस पर अंकित मुझे मिले हैं
हिंसक पशुओं के पंजे, नख !
मैं निकला था हुलस ढूँढ़ने
मानव - चरण - चिह्न अंकित मग,
किन्तु मुझे मानव से ख़ाली
लगा अतीत युगों का भी जग !
मैंने लखा आज अपने को;
लखे पार्श्ववर्ती अपने जन,
मैंने अपने में, अन्यों में
लखे रक्त के प्यासे पशु गण;

मैंने देखा निज अन्तर में
पंजे फैलाये इक नाहर !
और निहारे कई भेड़िये
गुर्राते अपने से बाहर !
मैं हूँ कौन ? कौन हैं ये सब ?
सोच रहा हूँ मैं यों पल-पल,
है किनका समाज शोणित रत ?
किन - किन का यह कोलाहल ?
क्या मैं मानव हूँ ? या मैं हूँ
केवल कुछ उफ़ान की सन-सन ?
क्या मानव मानव है ? या हैं
वे सब घनीभूत उत्तेजन ?

कभी - कभी तो यों लगता है
कि है जगद् - व्यापार अहैतुक;
यह है इक जंजाल अकारण;
यह है एक बखेड़ा बेतुक;
यह जो चेतनता है जग में
वह भी है मरीचिका – झाँई !
यह जो जीवन लहराता है
वह भी है भ्रम की परछाँई;
नर का ज्ञान-भान है केवल
वानर – कर - करवाल भयंकर,
देखो आज उसी के कारण
फैला है प्रमाद प्रलयंकर !

कौन काम इस चेतनता का
चिर जड़-रज्जु-बद्ध इस जग में ?
है यह विश्व कालमय, दिङ्मय;
चेतन क्यों हो इसके मग में
देश – काल चेतना – शून्य हैं;
वे ही हैं ब्रह्माण्ड – विधाता;
ऐसे चिर निर्जीव विश्व से,
चेतनता का कैसा नाता ?
जड़ता है जिसके कण-कण में,
जड़ता जिसकी लहर – लहर में,
ऐसे जग चेतन आये, तो,
वह क्यों हो न खिन्न अन्तर में ?

जीवनार्थ परमावश्यक है
जहाँ उष्णता भी थोड़ी - सी,–
जहाँ प्रकृति चलती रहती है
चिन्मयता से मुँह मोड़ी - सी,–
ऐसे इस ब्रह्माण्ड - भाण्ड में,
जिसमें ठुसी भरी है जड़ता,–
यदि चेतन - कण आ जायें तो,
मन में है यह भाव उमड़ता,–
कि यह चेतना जगड्वाल में
निरी व्यर्थ, अप्रासंगिक है !
मानो प्रकृति कह रही इससे :
तुझे, चेतने, धिक है ! धिक है !!

आज यही नि:सार - भावना
उमड़ रही है अन्तरतर मे;
आज यही लहरें उठती हैं
प्रश्न - मथित मम मानस-सर में;
पर कोई कहता है चुपके :
'किन्तु......' और मैं जग जाता हूँ,
अपनी इति निश्चितता पर मैं
फिर विचारने लग जाता हूँ;
क्या यह चेतन निरा व्यर्थ है ?
क्या मानव आया है यों ही ?
ये विचार क्या वना न देंगे
नर को और विकट नर - द्रोही ?

मैं इस मानव को क्यों कोसूँ ?
मैं क्यों धिक्कारूँ जीवन को ?
मानव को उपमानव-सा लख,
मैं क्यों मारूँ अपने मन को ?
मानव ही ने पहनायी है
प्रकृति - नटी को नूतन साड़ी !
मानव ही उसके संग खेला;
ऐसा मानव कुशल खिलाड़ी !
मानव ही उसके दुरूहतम
अन्तस्तल में पैठा अचलित;
मानव ही ने उसें दिया है
नियमों का पाटम्बर सुललित !

चेतन बिन जो निपट अन्ध थी,
उसके हुए अनेकों लोचन;
चेतन संग हुआ गठ - बन्धन;
माथे जीवन - कुंकुम - रोचन !
हुई कुमारी जब परिणीता,
भागा दूर द्विधा का घनतम !
उन दोनों के सह - मन्थन का
मानव निकला फल सर्वोत्तम !
लख मानव की यह अपूर्णता
क्यों विराग मेरे हिय जागे ?
उसकी गति - इति नहीं हुई है;
वह तो और बढ़ेगा आगे ।

क्या आश्चर्य कि जन - यात्रा पथ
सिंह - व्याघ्र - नख से हैं अंकित ?
धीरे - धीरे ही होती है
आदिम हिंस्र वृत्ति अति - लंघित;
उस पथ को कुछ झुककर देखो,
तो पाओगे वे चरणांकन,
जिनको निरख हुलस उठते हैं,
जन गण लोचन, जन हिय-प्रांगण !
वे पद-चिह्न, कि काल - सलिल पर
चिर ध्रुव छाप कर गये अंकित,
वह मग - रेखा, जो कि करेगी
युग - युग लौं जन - मन निःशंकित,

मानव की क्या गति होगी ? यों
हिय में आज उठे क्यों शंका ?
सुनो - सुनो, बज रहा दूर पर
मानव की जय - जय का डंका !
फहर रही है विजय पताका,
घहर रहे हैं घण्टे घन - घन;
मानव - मुक्ति - आगमन का यह
श्रवण पड़ रहा गहर तुमुल स्वन,
मत निराश हो, ओ मानव तू,
मत निराश हो ओ हिय मेरे;
देख, दूर पर विहँस रहे हैं,
वे आदर्श प्राण प्रिय तेरे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ सितम्बर, १९४३

धधक उठो अब, ओ वैश्वानर

धक-धक धधक उठो, री ज्वाला,
हर-हर हहरो तुम, वैश्वानर !
अन्धकार का भार हरो यह;
छिटकाओ निज ज्योति अमाहर !!

यह एकाकी मानव बैठा
गहन गिरि - गुहा में खोया-सा,
नग्न शरीर, निबिड़, तिमिरावृत,
यह जागृत-सा, यह सोया-सा;

भीति ग्रस्त यह द्विपद, शूर्पणख,
यह अजान, यह लोमावृत तन,
अगम विजन-विचरण-रत यह जन,
मूढ़, क्षिप्त-विक्षिप्त भ्रमित मन,

यह अकुशलकर, यह अज्ञानी,
यह नर, जो लगता है वानर –
आज कर रहा है आवाहन:
धधक उठो तो, ओ वैश्वानर !

किच-किच, किट-किट, अगढ़, अनर्गल,
गड़-बड़, बर्बर जिसकी वाणी,
जिसके आदि शब्द का क्रम भी
है अचरज की एक कहानी,–

मानव वही कर उठा सहसा
आज प्रचण्ड अग्नि-आराधन !
वही अग्रसर आज हुआ है
करने को तम-हर दव-साधन !!

निपट निरग्नि आज निर्जन में
बोला : आओ ज्योति अमाहर,
धक-धक धधक उठो री ज्वाला,
हर-हर हहरो, ओ वैश्वानर !

यहाँ चतुर्दिक् अन्धकार है,
फैली अवास्तविक की माया,
यहाँ अपरिचित का संशय है,
यहाँ सभी दिशि है भय छाया,

दिन का गोला चमक-चमक कर
सदा साँझ को छुप जाता है,
और रात का वह गोला भी
रह - रह कभी - कभी आता है !

अन्धकार को देख मनुज का
हिय कँपने लगता है थर - थर,
औ' पुकारता है वह बरबस :
धधक उठो अब, ओ वैश्वानर !

मानव ने देखा कि तिमिर में
होती है गर्जना भयानक,
मानव ने देखा कि तिमिर में
होते हैं आक्रमण अचानक;

मानव ने देखा कि तिमिर में
परिचित भी बन गये अपरिचित;
मानव ने देखा कि तिमिर में
भय ही भय है भरा अपरिमित;

मानव ने सोचा कि कर सकूँ
यदि मैं स्ववश प्रकाश अमाहर,
तो भय भागे; ज्ञान जग उठे
यदि धधके प्रचण्ड वैश्वानर !

लखी शैल ज्वाला मानव ने,
जंगल में निरखी दव-ज्वाला,
मानव ने सोचा : सुलगाऊँ
कैसे यह ज्वाला विकराला ?

शक्ति - साधना की इस पहली
सीढ़ी पर चढ़ने को उत्सुक, —
मानव लगा सोचने अपने
पथ की पगडण्डी पर झुक-झुक !

अनल-मन्त्र - साधन करने को
उद्यत है यह मानव बर्बर,
वह मन में गुनगुना रहा है
धक - धक धधको ओ वैश्वानर !

रंच दृगों में अचरज भरके
प्रकृति निहारे इस प्राणी को,
विधि की अबल इस निशानी को,
डग-मग - पग - इस अज्ञानी को,

कितने भीम काय इससे भी
पहले आये हैं भूतल पर,
पर, किनने सोचा कि करेंगे
वे अधिकार प्रचण्ड अनल पर ?

किन्तु नितान्त नगण्य जन्तु यह
होने चला कृशानु - धनुर्धर !
और कह रहा है अन्तर में;
हर-हर हहरो, तुम, वैश्वानर !!

किसने सोची प्रकृति तत्त्व को
यों अपने वश में करने की ?
किसने सोची यों अन्तर में
अनिल-अनल-महिमा भरने की ?

यह है इसी द्विपद का साहस,
यह तो इसका ही जीवट है !!
अग्नि - वायु के वशीकरण का
तो इस प्राणी का ही हठ है !!

इसके इन कौतुक - यत्नों को
लगा देखने सकल चराचर
और उठी इसकी कण्ठ-ध्वनि :
धधक उठो अब, ओ वैश्वानर !

यों मानव ने अन्धकार में
ज्योति जगाने की सोची विधि,
मानव निबल चला यों करने
अपनी सीमित सत्ता अपरिधि !

हस्तांगुष्ठ, अँगुलियाँ इसकी
कौशल का नव सृजन कर चलीं,
अथवा जगती के घन, दुर्दम,
निविड़ तिमिर का हरण कर चली;

यह मानव ही था कि गुँजाये
जिसने 'कोऽहं ? कोऽहं' के स्वर
यह मानव ही था जो बोला :
धधक उठो अब, ओ वैश्वानर !

रिच्छ, व्याघ्र, अजगर-नाहर ने
कभी न पूछा 'कोऽहं ? कोऽहं ?'
मानव है जिसने यों पूछा;
औ' फिर बोला 'सोऽहं ! सोऽहं !!'

मानव ही के हिय में जागी
चाह अनल के आराधन की
मानव ही के हिय में जागी
चाह नग्नता-आच्छादन की !

निखिल सृष्टि जल रही दिगम्बर
मानव ने सोचा पाटम्बर !!
लख तम, मनुज पुकार उठा यों :
धधको, धधको, ओ वैश्वानर !

इसने पत्थर से पत्थर को
खाकर रगड़ चमकते देखा,
इसने घर्षण से जंगल को
जलते और दमकते देखा;

मानव लगा सोचने मन में :
आग छिपी है क्या घर्पण में ?
क्या घर्षण ही से पाऊँगा
चिर भय-हरण अग्नि-दर्शन मैं ?

अरणी से अरणी मथकर वह
बोला : प्रकटो, ओ चिरतम-हर !
अन्धकार का भार हरो यह,
हर-हर हहरो, ओ वैश्वानर !

सोचो कितना मुदमंगलमय,
सुन्दर होगा वह पावन क्षण ?
जिस क्षण मानव के द्वयकर से
छिटके होंगे रजत अनल-कण ?

वह था प्रथम प्रयत्न मनुज का
नियति प्रकृति के स्ववश-करण का
वह क्षण था अज्ञेय पन्थ में
नर के सर्वप्रथम विचरण का;

प्रकृति-बधू के चीर-हरण का
वह शुभ क्षण था भयहर, मनहर,
वह क्षण था, जब मानव बोला :
जागो ! जागो ! ओ वैश्वानर !

फैलीं चिनगारियाँ चमक कर,
ऊँची लपटें उठीं लपककर,
जगने पायी प्रचुर अग्नि-निधि
उमड़ी ज्वाल लाल भक-भक कर;

पूर्ण हुई मानव साधक की
तिमिर-विजय-साधना भीति-हर;
जन का निशा-विजय-यात्रा-पथ
हुआ चमत्कृत औ' प्रशस्ततर !

भय भागा, सन्देह मिट गया,
पथ में चमकी ज्योति अमाहर;
धक-धक धधक उठीं ज्वालाएँ !
हर - हर हहर उठे वैश्वानर !

तब से अब तक पार कर चुका
यह मानव इतने मन्वन्तर,
अवगुण्ठन - आवरण प्रकृति के
हरण किये इसने अति श्रमकर

वैश्वानर को अपने वशकर
इसने खोजे तत्त्व प्रकृति के
बड़ी दूर लौं पैठ चुका यह
गहन गर्भ में इस संसृति के

पर न अभी तक बुझ पायी है
इसकी शाश्वत टोह - पिपासा
जितना ही गहरा यह पैठा,
उतनी बढ़ी 'और' की आशा।

अरे, तृप्ति तो है गति बाधक, तो फिर, प्यास जगे तो जागे !
सर्व व्यापिनी प्यास छोड़कर, मानव, कहो, किधर को भागे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२८ सितम्बर, १९४३

■

धरती के पूत

तुम पृथिवी के सुवन, अरे तुम ओ मृत्तिका-प्रसूत निरे,
तुम खेतों खलिहानों के सुत, तुम धरती के पूत निरे,
घास और कड़वी-सँग गँवव-काल बिताने वाले, ओ,
तुम हो मक्का, ज्वार, चनों के संग-संग सम्भूत निरे।

ओ ग्रामीण आन पहुँचे हो, आज ग्राम की छाया में
फिर भी नागरता का छिलका लिपट रहा है काया में!
रँगे स्यार-से तुम जँचते हो इस आडम्बर-हीन गृहे,
वनो प्रकृत नर, रहो न हठ कर कृत्रिमता की माया में।

यहीं चरम दारिद्रय, दैन्य में जीवन उगा और फूला,
यहीं परिस्थितियाँ घिर आयीं, दुख मूला अति प्रतिकूला;
यहीं हुआ कुछ-कुछ विकसित नित मानस दिङ्मण्डल सारा,
ओ नगर देहाती, तुमने यहीं बहुत सीखा, भूला।

याँ बीते शैशव के सपने, झिल-मिल-सी स्मृति शेष रही,
बीती हैं कौमार्य-काल की सब घड़ियाँ अवशेष यहीं;
यौवन का आगमन हुआ है इन्हीं द्रुमों की छाया में,
आज कहाँ हैं वे सब बातें? रहा न उनका लेश कहीं।

आज साँझ को गोरज बेला, चिर परिचिता पहाड़ी ये,
खूब चढ़े तुम गिरते-पड़ते चोटी निरी उघाड़ी ये,
उखड़ी साँस, हृदय-गति धड़की, चरण कँपे, नासा फूली;
लो, अधेड़पन चढ़ आया है नित्य नवीन खिलाड़ी ये।

इस झुट-पुटे समय में देखो, मन गहरे में डूब रहा,
अन्यमनस्क - भावना आयी, हिय उलझा-सा ऊब रहा;
खिंचे जा रहे हो ज़ोरों से, तुम पीछे को बरबस - से !
सन्ध्या की श्यामल घड़ियों में यह मज़ाक़ भी ख़ूब रहा !

क्यों है यह इतना आकर्षण, उन संचित संस्मरणों में ?
क्यों है मादकता संस्कृति के झंकृत चरणाभरणों में ?
मद है, मोहकता है, रस है और ज़बर्दस्ती भी है,
पूरी तानाशाही ही है स्मरण - राज्य - उपकरणों में।

कौन बताये तुम्हें कि क्यों है मादकता घड़ियों में ?
तनिक कहो मादकता क्यों है करुणा गीत की कड़ियों में ?
अपनों की सुध करके क्यों यों प्राण टूटने लगते हैं ?
उनकी याद कहो क्यों आती पावस ऋतु की झड़ियों में ?

स्मृति - आकर्षण - तत्त्व - निदर्शन क्या जाने नवीन ज्ञानी ?
वे तो बस ऐसे क्षण, भर-भर लाते हैं दृग् में पानी,
इतना वे अवश्य कहते हैं; जीवन है स्मृति - पुंज निरा;
स्मृति में निज साक्षात्कार ही अनुभव करते हैं प्राणी।

आत्म - रूप - दर्शन में सुख है, मृदु आकर्षण लीला है,
और विगत जीवन - संस्मृति भी स्वात्म - प्रदर्शन - शीला है;
दर्पण में निज बिम्ब देखकर यदि हम सब खिंच जाते हैं,
तो फिर संस्मृति तो स्वभावतः नर-हिय-हर्षण-शीला है।

वह आयी, देखो आयी है वह तन्वी संस्मृति रानी —
गत जीवन-घटनाओंके मृदु नूपुर पहने कल्याणी,
वन-शृगाल; मत शोर मचा, तू सुनने दे झंकार अरे,
गेह प्रवासी, गेह विनाशी उत्सुक हैं नवीन ज्ञानी, —

ठहर, अरी ओ वर्तमान की नव - सन्देश - पवन - दूती, —
यों दहाड़ती-सी मत वह तू, कर न शोर हा - हा - हूति,
संस्मृति के नूपुर की झन - खन अन्तरिक्ष में गूँज रही
तू मन - सन करती न डोल री, दोनों श्रवणों को छूती !

एक - एक घटना जीवन की, याद आ रही रह - रह के
इन्हीं ग्राम - गलियों में, मौजी, तुम कितने भटके, वहके !
नव विकास की प्रथम वेदना यहीं हुई अनुभूत तुम्हें,
यहीं तुम्हारे भाव - विहंगम पहले - पहल ज़रा चहके

वह नंगे पैरों नित रहना, वह निःसाधनता सारी,
अपर्याप्त वे वस्त्र तुम्हारे वह दारिद्रय कष्टकारी;
ये तो बचपन के साथी हैं, अब तक साथ निभाते हैं,
अति दारिद्रय-दैन्य - पीड़ा के तुम हो शूल - मुकुट - धारी।

तुम गुदड़ी के लाल ? नहीं, पर हो गुदड़ी के बाल सखे,
उस दरिद्रता में दुख पाके तुम हो गये निहाल सखे,
दुख पाया, अरमान मर मिटे, बहुत सहा, भोगा इतना !
पर इस सकरुण हिय को पाकर तुम हो माला-माल सखे।

■

आये नूपुर के स्वन झन-झन

आये नूपुर के स्वन झन-झन
खिंच गये प्राण भर गये श्रवण,
आये नूपुर के स्वन झन-झन !

हो उठा तरंगित सुख-समीर,
काँपा अम्बर का वक्ष धीर,
आयी श्रवणों में उत्कण्ठा
जग गयी जगत् की बिसुध पीर
जब ध्वनि आयी रुन झुनन-झुनन, जब गूँजा मादक नूपुर स्वन !

भर गया दिशाओं में सपना !
जग भूला अहं भाव अपना !
मृण्मय भी बना परम तन्मय !
झंकृति - गुंजार - वितान तना !
स्वर भर लहराया मलय पवन ! आये नूपुर के स्वन झन-झन !

कोऽहं की तान पुरानी मम,
अब तक थी अनुत्तरित विभ्रम,
पर अब नूपुर - गुंजारों में !
मिल गया समुद सोऽहं का सम !
हमने पाया कुछ आश्वासन; आये नूपुर के स्वन झन-झन !

हिय का यह हा-हा कार निरा,–
जिससे यह जीवन आज घिरा,–
क्यों अब न शान्त, उपरमित बने ?
मन अब क्यों डोले फिरा-फिरा ?
जब कान पड़ी यह ध्वनि नूतन, आये नूपुर के स्वन झन-झन !

सब पूछें हैं झन-झन क्या है ?
जग पूछे है यह स्वन क्या है ?
हम शब्द-मूढ़ क्या बतलायें ?
प्रिय का यह चपल गमन क्या है ?
हो सकता है यह अल्हड़पन, आये नूपुर के स्वन झन-झन !

झन-झन — श्रवणागत अनिल-लहर
झन-झन — यह अनहद-नाद गहर,
झन-झन — ये ध्वनि-सुरधुनी-भँवर,
झन-झन-झन — अमर प्रणय-अक्षर;
झन-झन-झन गूँजा हिय-आँगन; आये नूपुर के स्वन झन-झन।

ध्वनि धाराएँ रिम-झिम बरसीं,
दश दिशि गुंजारमयी सरसीं;
ध्वनि सुनी; किन्तु झाँकी न मिली
प्यासी दृग कनिकाएँ तरसीं;
वे अलख; अलख उनके सुचरण; आये नूपुर के स्वन झन-झन।

दायें - बायें; आगे - पीछे, —
बाहर, भीतर, ऊपर, नीचे, —
सब ओर सुनी गुंजार वही,
ध्वनि ने जल-थल अम्बर सींचे;
अनमने प्राण, मन नाद-मगन; आये नूपुर के स्वन झन-झन !

आये अग को करते जग वे
अपगा को देते गति-पग वे,
चंचलता का पल्ला पकड़े,—
आये धीमे धरते डग वे;
हुलसा सिरजन; गूँजा कण-कण, आये नूपुर के स्वन झन-झन !

धरती नाची; नाचा अम्बर,
तारक-माला नाची सत्वर;
ता-थइ, ता-थइ कर नाच उठे,
अनगिनत सौर-मण्डल थर-थर;
उनने जब किया चरण-नर्तन; आये नूपुर के स्वन झन-झन !

कुछ धुआँ और कुछ द्रव्य-तरल,
उसमें भर गति का चपल-गरल,—
रच डाला यह सिरजन-प्रपंच,
गो वे बनते हैं बहुत सरल !
गूँजा नितान्त निस्तब्ध - गगन, आये नूपुर के स्वर झन - झन !

था मौन किसी क्षण यह प्रपंच,
आभास नाद का था न रंच,
पर किसने मुखरित कर डाला,—
निस्तब्ध सृष्टि का रंग - मंच ?
है अनु-गुंजित किंकिणि शिंजन, ये हैं नूपुर के स्वन झन - झन !

उल्लास भरे, उन्माद भरे,—
मद भरे और अवसाद भरे,—
हम आज पूछते हैं : उनसे,—
कोई किस तरह विवाद करे,
जब नूपुर बोलें झनन-झनन, हो उठें प्राण-मन, जब उन्मन ?

देखा टटोल हमने अन्तर,
खोजा हमने बाहर - भीतर,
यूँ ही टटोलते बीते हैं,
ना जाने कितने मन्वन्तर;
पर मिटी न मन की यह तड़पन, हम खोज रहे हैं नूपुर-स्वन ।

युग-युग पहले, जिस दिन, जिस क्षण,
पाये हमने सुकुमार – श्रवण,
उस दिन, उस क्षण ही से हम तो,
सुनते आये हैं, यह गुंजन,
पर मिले न पिय के पदाभरण, यद्यपि सुनते हैं स्वन झन-झन !

परदा ही है मंजूर अगर,–
करना ही है दिल-चूर अगर,–
तो छिपे रहो नूपुर वाले,
भटकाओ हमको डगर-डगर !
तुम लुक-छिप बैठ रहो बन-ठन, ठुनकाओ नूपुर स्वन झन-झन !

अपनी हस्ती ही आज बनी,
परदे की यह दीवार घनी,
पर, इस हस्ती ही से हमने,
पायी यह श्रवण-शक्ति इतनी,
हो हमें मुबारक अपनापन, जो श्रवण कर सके नूपुर-स्वन ।

तुम 'और' और हम 'और' रहें,
तुम उस दिशि, हम इस ओर रहें,
तुम छुप छुमकाओ नूपुर; हम,–
श्रोताओं में सिर-मौर रहें ।
ध्वनि ही कर लेंगे आलिंगन, तुम आने दो नूपुर के स्वन ।

कैसे होंगे वे आभूषण ?
कैसे होंगे वे पदाभरण ?
हम आज सोचते हैं मन में,–
कैसे होंगे वे हृदय-हरण :
जिनसे ध्वनि-भरित-गगन-प्रांगण, जिनकी ध्वनि आती है खन-खन ।

निशिपति की रजताभा लेकर,
उसमें घन-द्रव्य-भाव भर-भर,
कौशल ने स्वयं गढ़े हैं वे;–
ब्रह्माण्डाकृति नूपुर हिय - हर,
जो देते हैं जग को जीवन, है ध्वनि जिनकी त्रग-ताप-हरण ।

उन आभरणों में गुँथी पड़ी,
दिन-मणि-किरणों की रजत-लड़ी;
जो चरणांगुलियों में उलझी —
झिलमिल होती है घड़ी - घड़ी !
ज्यों ही कुछ डोले चारु-चरण, आयो नूपुर की ध्वनि झन-झन !

सातों स्वर, मुक्ता-कण बन-बन,
भर गये नूपुरों में तत्क्षण,
नूपुर, नूपुर तो रहे, किन्तु,
वे हुए परम संगीत - सदन,
हो चला सप्त-स्वर का मन्थन, जब आये नूपुर स्वन झन-झन !

रवि - शशि की चाँदी के नूपुर —
दिशि-दिशि गुंजित हैं मधुर-मधुर,
मुखरित संसृति की गली - गली,
गुंजरित हमारा अन्तःपुर;
हम सतत-मगन, सुन नाद गहन : आये नूपुर के स्वन झन-झन !

ध्वनि सुनी कान, स्मृति जाग उठी,
मानो विराग को त्याग उठी,
जैसे कुछ सहसा याद पड़ा,
स्मृति ले नव-नव अनुराग उठी।
टूटे मानो माया बन्धन, जब आये नूपुर स्वन झन - झन !

सदियों की क्या गिनती वाँ' पे —
मन्वन्तर खड़े जहाँ काँपें !
ध्वनि सुन, जब स्मृति जागे अतीत,
तब शतसंवत्सर क्या नापें ?
होते युगान्त के सुसंस्करण, जब आते हैं नूपुर के स्वन।

सोयी-सी प्रीति पुरानी वह –
विस्मृत, अतीत नादानी यह –
छिन-भर में ही उठ आती है –
करती हिय पानी-पानी वह;
ध्वनि है कि कान का विगति-कलन ? आये नूपुर के स्वन झन-झन !

ये स्वर अनादि, ये स्वर अनन्त,
यह कल निनाद निर्झर अनन्त,
यह देश काल सीमान्त हीन,
गुंजन मन - हरण अनाद्यवन्त !
करते त्रिकाल गति का खण्डन, आये नूपुर के स्वन झन-झन !

अपने प्रिय के ये पदाभरण,–
अपने प्रिय के सुकुमार चरण,–
अपने प्रिय की अटपटी चाल,–
उनका यह मादक अभिव्यंजन,–
है इन श्रवणों का वशीकरण, – आये नूपुर के स्वन झन-झन !

अन्तस्तल में इक हूक उठी,
पद-रति यह अवश अचूक लुटी ।
दर्शन उत्सुकता उमड़ पड़ी,
निर्निमिष बन गयी नयन-पुटी ।
गूँजे नूपुर के स्वन जिस क्षण, जब आयी नूतन झन, झन, झन ।

वे चिर नवीन, वे चिर नूतन,
वे सतत सनातन, सुपुरातन,–
न जाने कितने युग से वे,–
करते आये हैं मन-मन्थन ।
है कितना शेष हृदय-घर्षण, कब तक आवेंगे स्वन झन-झन ?

कब तक? जब तक हम अलग-अलग,
अपने पिय से हैं विलग-विलग,
तब तक, जब तक ध्रुव गतिविहीन—
हैं चरण, शिथिल डगमग-डगमग
जब तक न करें पिय हमें वरण, तब तक आवेंगे स्वन झन-झन।

जब सप्तपदी पूरी होगी,
जब लुप्त द्वैत दूरी होगी,
जब पिय गलबहियाँ डालेंगे
जब उनकी मंजूरी होगी
तब हम बन उनके नूपुर स्वन, गूँजेंगे झन-झन झनन-झनन!

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२१ मार्च, १९३०

■

यह है द्वापर, यह है द्वापर

यह है द्वापर, यह है द्वापर;
कलियुग इसे कौन कहता है? यह है दुश्चिन्ताओं का घर!
यह है द्वापर, यह है द्वापर!

यहाँ गरजते हैं संशयगण, मुखरित हैं सन्देह भयंकर;
विचिकित्सा ठग रही हृदय को; हुई जन-गणों की मति संकर;
लुटी अटल विश्वास-सम्पदा, छूटा निःश्रेयस पथ-शंकर;
चंचल प्रश्नावलियाँ उभरीं करने ध्रुव का सतत निरादर;
यह है द्वापर, यह है द्वापर!

प्रज्ञा प्रमथित, चलित चेतना, बुद्धि चकित, मति भ्रमित निरन्तर,
मन कम्पनमय उन्मन-उन्मन, शंका क्रान्त सकल बहिरन्तर;
ऐसे क्षण कलियुग-द्वापर में किमि कोई बतलाये अन्तर ?
दुविधाओं की यह अनीनिका चढ़ आयी है शंख-नाद कर !
यह है द्वापर, यह है द्वापर !

तुम छेत्ता भव - भय - संशय के, पार्थ सारथी तुम करुणाकर,
धीर चरण धरते, तम हरते, क्यों न पधारो आज कृपा कर ?
देखो तो बहिरंग विकल है, सन्देहाकुल है अन्तरतर,
ऊषा को सुहाग देते तुम आ जाओ, ओ जग के तमहर;
यह है द्वापर, यह है द्वापर;

ग्वाल, बाल, गोपी - गायों को कोई कहीं ले गया है हर,
गोकुल उजड़ा, लुप्त हो चुका गुल्म लताओं का भी मर्मर !
थका - थका - सा आज लग रहा कालिन्दी का गहर घहर-स्वर ।
आ देखो तो वृन्दावन की दशा आज तुम, ओ नटनागर;
यह है द्वापर, यह है द्वापर !

आओ, नैक बजाओ मुरली, फूँको पांचजन्य फिर स्वर भर,
फिर जागृति का नाद गुँजा दो; काँप उठे चेतनता थर - थर;
फिर से श्रवणों में नित गूँजे तव मुरली, तव शंख मोहहर;
सिरजो नये ग्वाल, नव गोपी, नव गोकुल, नव भारत प्रियवर;
यह है द्वापर, यह है द्वापर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२४ अगस्त, १९४३

■

है निज वश तन, पूर्ण स्ववश मन !

यह परवश तन, यह परवश मन;
इस पिंजर, इस बन्धन में फँस पंछी तड़प रहा है क्षण-क्षण;
यह परवश तन, यह परवश मन ।

वह 'पर' कौन कि जिसके वश हैं जीवन के सब कर्म अनूठे ?
वह 'पर' कौन, किये हैं जिसने जन के सभी कर्म-फल जूठे !
अरे कौन वह जिसके कारण हम अपनेपन ही से रूठे,
वह 'पर' कौन लगाया जिसने जीवन में यह दव, यह ईंधन ?
यह परवश तन, यह परवश मन !

बोले सभी तत्त्वदर्शीगण कि यह सभी है इन्द्रिय - पीड़ा,
कुछ बोले; यह तो है केवल मन-मातंग मत्त की क्रीड़ा !
यदि यह है तो कहो क्यों बनी इनकी क्रीड़ा जन की व्रीड़ा ?
मन, इन्द्रिय के बीच फँसा है क्यों यह द्विपद बिचारा लघु जन ?
यह परवश तन, यह परवश मन,

क्षण-भर में ही हो जाते हैं क्षार-क्षार दृढ़ निश्चय सारे,
इक आँधी-सी जब उठती है, उड़ते हैं तिनके बेचारे;
जाने क्यों फिरने लगते हैं सकल मनोरथ मारे-मारे !
और, पूछ उठता है मानव : यह क्या क्रम ? यह कैसा नर्तन ?
यह परवश तन, यह परवश मन ?

कई बरस-गाँठें जीवन की डोरी में लग चुकीं अभी तक,
बीत चलीं बरसों पर बरसें; भेज चुका आवाहन अन्तक;
कुछ उतार आ चला नशे का, तन भी चला रंच कुछ-कुछ थक
किन्तु आज तक भी होती ही रहती है जीवन में झन-झन !
यह परवश तन, यह परवश मन !

यह कैसी दुबिधा जीवन में ? यह कैसा संकेत भयानक ?
नर को नारायण करने का क्या है यही अनोखा बानक ?
या नारायणता भ्रम ही है ? होता यह सन्देह अचानक,
मन - इन्द्रिय के बीच फँसा यह नर कैसे होगा नारायण ?
यह परवश तन, यह परवश मन !

मन औ' इन्द्रिय गण तो जड़ हैं; उनमें चेतनता कब झाँकी ?
वे तब चले जब कि जीवन ने उनमें स्फुरण शक्ति निज आँकी !
पर, अब आकर खड़ी हो गयी सम्मुख एक पहेली बाँकी :
क्या, जन का जीवन है केवल मन-इन्द्रिय का सतत तुमुल रण ?
यह परवश तन, यह परवश मन !

यह जीवन ही है जो अह निशि, गिर-गिरकर फिर-फिर बढ़ता है,
यह जीवन ही है जो सन्तत नीचे से ऊपर चढ़ता है,
यह जीवन है जो कि हारकर फिर उठता है, फिर लड़ता है
मिट्टी में मिलकर भी ऊपर उठने को करता है कम्पन,
यदपि विवश है जन-गण-तन-मन !

इन्द्रिय नहीं, स्वयं जीवन ही अपनी खींच-तान करता है,
मन की क्या बिसात ? जीवन ही गिरकर फिर उड़ान भरता है,
स्वयं इन्द्रियों में फँसता है, उनका सतत ध्यान धरता है;
हो आकण्ठ निमग्न पंक में वही स्वयं करता है क्रन्दन,
यह परवश तन, यह परवश मन !

संयम हो न सके तब भी हम क्यों समझें कि व्यर्थ है नियमन ?
आत्म-दमन ही से पाया है नर ने पूर्ण महा मानव-मन !
जन-गण की सभ्यता-सम्पदा संयम का ही है शुभ लक्षण;
तब क्यों हो नैराश्य हृदय में ? गिर-गिरकर भी क्यों न कहें जन :
है निज वश तन ! पूर्ण स्ववश मन !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
५ सितम्बर, १९४३

■

विनिपात

अरे दिव्य आदर्श, आज है
निपट अँधेरी मेरी धरती,
कर्म प्रेरणा बढ़ा रही है
निज कम्पित पग डरती-डरती,
किधर बढ़े ? किस दिशि वह जावे ?
दिशा-ज्ञान सब सुप्त हुआ है;
कर्म - पन्थ का रेखांकन भी
इस घन-तम में लुप्त हुआ है,
मानव का रवि अस्त हुआ है
जग सब संकट-ग्रस्त हुआ है;
चित्-नभ अस्त-व्यस्त हुआ है;
मम मानव संत्रस्त हुआ है।

सदियों का अज्ञान भयंकर,
यहाँ आज खुल खेल रहा है,
एक नाशकारी प्रमाद यह,
जन-समाज में फैल रहा है,
शतमुख पतन ढकेल रहा है
मानव को पाताल अतल में,
चला जा रहा है द्रुत गति से
मानव नीचे को पल-पल में,
ऊर्ध्व पाद, विभ्रान्त, अधोशिर
परवश, विकल, अधोदिशिगामी,
स्थान-भ्रष्ट हो चला अतल को
निपट जन्तु यह मानव नामी !

सत्य लोक में सदा प्रतिष्ठित
है इस मानव का सिंहासन,
पर, अब यों लगता है मानो
रिक्त पड़ा है वह उच्चासन,
मानो अपने ही से उसने
किया वहाँ से निज निष्कासन,
अपने ही से, मानो, त्यागा
इसने अपना वह सत्-शासन !
अब निरखो इस पतित, अधोमुख
मानव को यों नीचे जाते,
देखो तो इस स्ववश विवश को
बरबस नीचे खींचे जाते।

आज सप्त पातालों का सब
कर्षण इसको खींच रहा है,
नीचे गिरता हुआ मनुज यह
खोल-खोल दृग मींच रहा है,
सत्यलोक से हुआ भ्रष्ट यह,
सन-सन करता नीचे आया,
तपः, जनः औ' महः, स्वः, भुवः
से गिरकर भू पर टकराया !
अतल, वितल, औ' सुतल, रसातल,
गहन तलातल, गहर महातल
औ' पाताल लोक लौं गिरता
जा पहुँचा यह मानव विह्वल !

ऊपर, जहाँ सभी सेवक थे
चन्द्र, सूर्य, तारागण, इसके,–
पूछ रहे हैं, कि ये महाशय
ऊपर से नीचे क्यों खिसके ?
बोल, मनुज, तू ही दे उत्तर,
क्यों आयी वह घड़ी पतन की ?
अरे, समस्या यह तू सुलझा,
खोल गाँठ तू अपने मन की !
ऊपर से नीचे क्यों आया ?
कितना और गिरेगा नीचे ?
चौदह भुवनों के कण - कण में
तूने क्यों निज श्रम-कण सींचे ?

इस नभ - गंगा के भी ऊपर,
उन तारक वृन्दों के ऊपर,
देश काल के परे, अरे, था
वह सत्-चित्-सुन्दर तेरा घर !!
जब तू गिरा वहाँ से नीचे
करता सन-सन-सन-सन-सन-सन;
तब अचरज से लगे निरखने
तुझको ये असंख्य तारागण !
अरे, कभी था तव चरणों के
नीचे यह दिक्-काल-कमण्डल !!
यह ब्रह्माण्ड विसर्ग महत्तम,
यह अनन्त-सा सकल खमण्डल !!

तू गिरा कि तव पतन-वेग से
ये दिक् - काल झुके बरबस - से,
तू गिरा कि ब्रह्माण्ड सभी ये
सहसा नाच उठे परवश - से,
तू क्या गिरा कि देश - काल की
गूँज उठी सिरजन - शहनाई;
तू क्या गिरा कि रस विसृष्टि में
एक अजब रंगीनी आयी;
मानो, मनुज - पतन ही से इस
सिरजन का यह फूल खिला है;
मानो, उसी पतन - क्षण से ही
सकल सृजन का सूत्र हिला है !

सत्य लोक से गिरा शून्य में
यह मानव विभ्रान्त, क्षुब्ध मन,
ऐसे सूने में कि जहाँ पर
फैला है दुर्दान्त तिमिर घन;
सर - सर करता यह नीचे ही
गिरता गया तिमिर में क्षण-क्षण,
गिरता रहा अयुत कल्पों तक,
किन्तु न मिला एक ज्योतिष्कण,
फैली थी शून्यता सभी दिशि,
दायें, बायें नीचे ऊपर,
अन्त हीन-सा फैल रहा था
उस नभ में तम - तोम भयंकर

यों यह सत्य-लोक से गिर कर
तपर्लोक में आ टकराया, –
जहाँ प्रदीप्त वाष्प-पिण्डों की
इसने देखी जग - मग माया;
एक - एक उस वाष्प - पिण्ड में
कोटि - कोटि थे सूर्य प्रभाकर;
ऐसे कोटि - कोटि पिण्डों की
फैल रही थी विभा अमाहर !
जहाँ अर्व - खर्वों की गणना
रह जाती है सकुच - सकुच कर,
ऐसे तपर्लोक से भी तो
गिरता गया मनुज यह सत्वर।

कोटि युगों तक गिरते-गिरते
मनुज निरखता रहा दिवाली,
शत-शत लक्ष वाष्प-पिण्डों की
उसने देखी ज्योति निराली;
मानव गिरता था नीचे को,
बाष्प-पिण्ड उठते थे ऊपर;
उसके दायें-बायें वे सब,
ऊँचे को जाते थे सर-सर !
और गिरा जब, तब आ पहुँचा,
कुछ झुटपुटे अँधेरे में वह;
मानो, तपर्लोक में ज्योतित
कोट कँगूरे सभी गये ढह !

और गिरा, तव वह आ पहुँचा,
जनर्लोक के गगनांगन में;
कोटि-रश्मि-वत्सर-महदन्तर
फैल रहा है जिस प्रांगण में !
जहाँ विचरते हैं वे रवि जो,
हैं शत सूर्यों से भी गुरुतर,
जिनकी आभा फैल रही है,
उस अम्बर में छहर-छहर कर,
इस अम्वर में भूत-द्रव्य सव,
व्यष्टि रूप बनकर आया है,
इसीलिए विस्तार अमित यह,
जनर्लोक ही कहलाया है !

दूर-दूर, हाँ, दूर-दूर अति,
लक्ष-लक्ष रवि नाच रहे हैं;
क्या जाने किसके कहने से,
ये नट-कछनी काछ रहे हैं;
इनकी लीला लखता-लखता,
मानव होता रहा पतित नित,
ये लीलाएँ मनुज बिचारा,
समझ न सका रंच भी समुचित;
जनर्लोक से गिरकर मानव,
महर्लोक में अटका आकर,
मानो उसके कृति-विपाक ने,
उसे वहाँ पर पटका लाकर !

अतुलित आभा महर्लोक की,
अर्ब-खर्ब रविगण के दो दल,
जहाँ अश्व-सम खींच रहे हैं,
मानो किसी सुरथ को पल-पल,
उस स्यन्दन का अलख सारथी !
देखो कौन ? कौन पहचाने ?
एक धुरी में जुते हयों की,
महिमा कोई कैसे जा़ने ?
कोटि-कोटि सूर्यों का मिलकर,
एक-एक रथ-अश्व बना है !
रथ-चालक का पता नहीं है
अजब ठाट उसका अपना है !!

मानव ने देखी द्रुत गति युत,
इन अश्वों की ऊर्ध्व-गमन-रति,
मानव ने निज गति अवलोकी,
देखी अपनी अध:पतन-मति !
रंग-विरंगी आभावाले,
चढ़ते देखे उसने रवि - गण;
दो समूह में, ये समगति हय,
उसने बढ़ते देखे क्षण - क्षण;
दोनों धुरी सज्ज अश्वों के,
अभ्यन्तर - अवकाश - गगन से,
खिंचता गया निम्न दिशि मानव,
किसी अनोखे आकर्षण से !

महर्लोक भी ऊपर छूटा,
फिर शून्यता तमोमय आयी;
ऐसा तम था वहाँ कि जिसमें
कहीं-कहीं थी ज्योति निकाई;
धूप-छाँह में यों यह मानव
नीचे गिरा कई कल्पों तक,
तब उसने स्वर्लोक - छटाएँ,
ऊपर आती देखीं अपलक;
विह्वल-सा, आतुर-सा, मानव,
आन गिरा स्वर्लोक - भुवन में;
जहाँ तरंगवती स्वर्गंगा
लहर रही थी नील गगन में !

महाकाश गंगा बहती है;
जहाँ दीप्त हैं अगणित तारे,
वे तारे, जिनकी समता में,
सहस-सहस रविगण भी हारे;
जहाँ एक थल से दूजे तक
ज्योति पहुँचती मन्वन्तर में;
ज्योति वही कि सहस्रों योजन
जिसकी गति है इक पल-भर में;
स्वर्गंगा की उच्छल लहरें
जहाँ धूलि करती हैं सिंचित;
ऐसे विशद-लोक में भी यह
मानव थिर न रह सका किंचित् !

गिरा वहाँ से भी वह मानव,
भुवर्लोक में आ टकराया,
वहाँ सूर्य के विविध ग्रहों में
विचर-विचर वह अति अकुलाया;
मंगल, बुध, शनि सब में भटका,
चन्द्रलोक में आया गिरकर;
किन्तु न मिली एक क्षण को भी
उनको मन-प्रसन्नता तिल-भर;
गिरकर तब, भूलोक-भवन में
आ अटका यह मानव प्राणी,
तब उसको यों लगा कि मानो,
उसे मिली शुभ गति कल्याणी !

लेकिन इस धरती पर भी तो
हुए अमित अविचार मनुज के;
होते रहे कुकर्म यहाँ पर
युग-युग लौं इस द्विपद, द्वि-भुज के;
धरा धसककर आज चली है
बरबस-सी पाताल अतल में,
सत्यलोक से भ्रष्ट मनुज ही
धँसा रहा है भू पल-पल में;
अतल, वितल, औ' सुतल, रसातल,
गहन तलातल, गहर महातल,
औ' पाताल, सभी का सिरजन
यहाँ कर रहा है यह पागल !

अरे दिव्य आदर्श, हो रहे
अन्धे-से मेरे सब जग जन;
स्वयं बुझाकर अपने दीपक,
स्वयं बुला लाये हैं तम-घन;
एक पाँत मेरे मनुजों की,
आज विभक्त हुई है शतधा;
इस धरती पर मँडराती है
तेरे-मेरे की यह विपदा;
आज देखता हूँ कि मनुज ये
अपनी इस माता धरणी को—
काट रहे हैं; औ' कहते हैं :
बाँटेंगे हम इस अवनी को !

देख रहा हूँ कि ये मनुज मम
सहसा भूले हैं अपने को;
विचर रहे हैं नयनों में भर
भेद - भावना के सपने को;
सदियों के ये पाड़-पड़ोसी,
सदियों के ये मीत-सँगाती,
ये अपने ही रक्त-मांस सब
ये देहाती, ये शहराती—
बोल उठे इनमें से कुछ यों :
एक कहाँ ? हम अलग-अलग हैं !
क्योंकि हमारे और तुम्हारे
सन्तत भिन्न-भिन्न मारग हैं !!

यों लगता है मानो अपनी
यह वसुधा हो गयी परायी,
इक-दूजे को भूल गये हैं
मानो दोनों भाई - भाई;
इस धरती के दोनों बेटे
भूले अपनी धरती - माई;
ये अब भूले हैं कि इन्होंने
सँग-सँग इसकी मिट्टी खायी;
कितना दूध मिला है इनको
इस वृद्धा हिम-गिरि-माता से,
कितना प्यार, दुलार, मिला है
इनको इस धरती माता से !!

हुआ आज सद्भाव तिरोहित,
मुखरित भेद-भावना जागी,
अधः पतित होकर के सहसा
मानव ने मानवता त्यागी;
क्यों न आज आशाएँ मेरी
जलकर क्षार-क्षार हो जायें ?
क्यों न आज भावी के सपने
मेरे हृदय - भार हो आयें ?
मेरे हिय में आज निराशा,
नागिन बन फुंकार रही है !
मम-गति-पथ में अगति-सिंहनी
मँडराती हुंकार रही है !!

दशों दिशाएँ घन तम मय हैं;
अँधियारा है मम अम्बर में—
बुझे-बुझे लगते हैं दीपक,
अन्धकार है जन-अन्तर में;
आज अँधेरे ने बढ़-चढ़कर
मुक्ति मार्ग आक्रान्त किया है;
उठ-उठ शत-शत सन्देहों ने
जन-गण-मन उद्भ्रान्त किया है;
आज स्वतन्त्र भावना जन की
रुद्ध हुई, हत वृद्धि हुई है;
निरलस कर्म-प्रेरणा मानो
सहसा आज अशुद्ध हुई है!

किन्तु मिला है शुद्ध ज्ञान का
जो वरदान मनुज-जीवन में,
उसका है आदेश! न आये
आशंका यात्री के मन में,
मानव पतित हुआ है यदि तो,
निज वैभव प्रकटाने को ही,
आज खो गया है मानव यदि,
तो वह निज को पाने को ही!!
इस उद्भ्रान्त मनुज में अब भी
सत्य-धारणा की क्षमता है;
तम में है यह; किन्तु हृदय में
इसके चिर प्रकाश-गमता है!

तुम मत बुझने दो निज दीपक,
यह दुर्दम तम - तोम हटेगा,
मत निराश हो; ओ जन मेरे,
यह आवृत घन-पुंज फटेगा !
मत होने दो निज पग डग-मग
यदपि थकित हो नस-नस, रग-रग,
सन्तत गतिमय है जब सब जग,
तब तुम क्यों छोड़ो अपना मग !
कम्पित कर से दीप सँभालो,
मत निरखो निज पग के छाले !
हारी-थकी अस्थियाँ लेकर,
बढ़ते जाओ, ओ धुनवाले !!!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१९ मार्च, १९४४

■

अर्ध नारी नट

नर-तन धरके भी पाया है तुमने नारी हृदय, सखे !
क्यों इतने सकरुण, कोमल हो, क्यों हो इतने सदय, सखे ?
इस चौड़ी बलिष्ठ छाती में छुपा रखा है ऐसा हिय !
अरे, तनिक तो पत्थर होते, होते तुम कुछ अदय, सखे !

इसी तुम्हारी छलक ललकती वत्सलता दीवानी ने,–
इसी इतर-दुख-कातरता ने, इस विगलित नादानी ने,–
हाट-बाट में, गली-गली में, तुम्हें ख़ूब बदनाम किया,
क्या ही अजब तुम्हें समझा है इस जग जड़-विज्ञानी ने ।

भ्रान्त धारणा भरी हुई है जग-जीवन की थाली में,
कहीं स्पष्ट-दर्शन होते हैं लौकिकता-अँधियाली में ?
यों करुणा भरना आँखों में यहाँ मना है, ओ भोले,
हृदय-कचौटन भी वर्जित है लोकाचार-प्रणाली में।

नारी-हियवाले ओ तुम नर, कुछ नर-पशु का रूप धरो,
अपने वत्सल, कोमल, विगलित, मृदुल, हृदय से रंच डरो,
इस गणितज्ञ जगत् में तो नित एक+एक दो होते हैं,
यहाँ भूल से भी, सुविभाजित दो को एक कभी न करो।

पर तुम लौकिक उपचारों के बन्धन में कब बँधे रहे ?
तुम तो सदा, सदा अपनी ही अचल धुरी पर सधे रहे,
आज तुम्हारे नारी-हिय को जगत् चुनौती देता है,
देखें तुम कैसे सहते हो वचन-वाण वे बिना कहे।

याँ चर्चा है, सखे, तुम्हारे कोमल प्रबल असंयम का,
याँ चर्चा है आज तुम्हारे मस्ताने से अनियम का,
अति वैराग-जोग के साधक, जगत् उजागर तुम कब थे ?
जग तो परिचय देता ही है अपने हिय के सम्भ्रम का।

तनिक स्नेह से गद्गद होना, तनिक बलाएँ ले लेना,
तनिक किसी के अश्रु पोंछना, तनिक सहारा दे देना,—
ये बातें जग की आँखों में मतलब भरी कहाती हैं,
उफ़् ! जग के पड़ाव में है याँ किनकी मति-विभ्रम-सेना !

मतलब ? हाँ, तुम नर के नारी हिय में भी तो है मतलब,
बिना नेह निर्वाह तुम्हारे जी में कल परती है कब ?
अपनी तड़पन कम करने को, सखे, ललकते फिरते हो,
इसी लिए क्या जग कहता है, कि तुम मतलबी ही बेढब ?

पर···पर यह जग तो अन्धा है, नहीं देखता भेद ज़रा,
नहीं देख पाता यह नर के नारी हिय का खेद ज़रा;
शुद्ध तत्त्व-दर्शन का जग में रंच मात्र सामर्थ्य नहीं,
इसी लिए तो नहीं पा सका जग अब तक निर्वेद ज़रा

वह नर तो वानर है जिसमें नारीपन का अंश नहीं,
वह है उपल, नहीं हिय, जिसमें सह-अनुभव का दंश नहीं;
पर-विपदा में यदि ये लोचन छलक-छलक भर आयें ना,
तो फिर समझो कि बस हो चुका मनुष्यत्व का भ्रंश यहीं

सखे, नरोत्तम है वह जिसमें नर - नारी का हो मिश्रण,
जिसको सर्व-भूत-हित-रति में हो नारी हिय का कम्पन;
जिसकी आँखों में जग देखे, माता की छबि का अंकन,
ऐसे ही नरवर भरते हैं जग का स्रवित वेदना-व्रण

विकसित पूर्ण पुरुष वह, जिसमें हो नारीपन की झाईं,
जो जग - जन की हृदय - वेदना समझे नारी की नाईं;
प्रति विकसित नर में झलके है नारीपन का अंश सदा,
उसी तरह ज्यों विभु में बिम्बित प्रकृति-बधू की परछाईं

नर में नारी का न चिह्न तो मानव प्रेम-धर्म क्या है ?
यदि नारीपन हो न पुरुष में तो नर को नर क्यों चाहे ?
मानवता के इस विकास की यह भी एक पहेली है,
मिश्रित एक व्यक्ति में होते नारी - नर गाहे गाहे ।

नर - नारी दोनों में दोनों झलक उठें जब बरबस-से,
तभी समझिए कि यह हुआ है हृदय प्रपूर्ण एक रस से,
नर नारी हो, नारी नर हो, यही सुगति है जीवन की,
तभी विश्व-वेदना-भाव से हृदय खिचेंगे पर-वश-से ।

है अवश्य ही नर - नारी के भिन्नरूप का भेद यहाँ,
पर, अक्षर, अव्यक्त आदि में नर - नारी का भेद कहाँ ?
आदि अन्त तो भेद-रहित है, केवल मध्य भेद-मय है।
इसी लिए है मध्य-काल में, भेद - खेद का स्वेद यहाँ।

सखे, सुनो, श्री नारायण है स्वयं अर्द्धनारी नटराज,
और अर्द्धनर नटीश्वरी है परा प्रकृति इस जग में आज,
भेद - खेद के गहन स्वेद के परे पहुँचना है सबको,
जिस छिन यह होवेगा उस छिन होगा जीवन्मुक्त समाज।

यदि तुम प्रतिबिम्बित करते हो नारी-हिय की कसक, सखे,
अगर तुम्हें तड़पा देती है निराश्रिता की सिसक, सखे,
तो तुम तड़पो और बढ़ाओ अपने वत्सल हस्त, सखे,
जग, जग को तुम दिखलाने दो नीति-धरम की उसक, सखे,

अपने हाथ बढ़ाकर, जिस छिन, उत्सुक प्रीति लजाती-सी,
दृग् में भर, आत्मार्पण निधियाँ, ललक-भरी, अलसाती-सी,
जब आ जावे, अहो तुम्हारे सम्मुख प्यार-पगी-सी यों—
तब क्या न्यौछावर न करोगे निज हिय-निधि अकुलाती-सी ?

■

नवीन दोहावली

श्रृंगार-विषयक ब्रजभाषा और खड़ी
बोली के दोहे

यह प्रवास-आयास

थकित गात, संश्लथ चरण, हिय, मन, प्राण उदास,
अब न नैंक नीकौ लगै, यह प्रवास - आयास ।

अब तौ यों कछु लगत है, बैठि रहिय वा ठौर,
जहँ लखि पिय कौ, नेह - घन, नाचि उठै मन मोर ।

रिम - झिम बरसै नेह - घन, नाचै मत्त मयूर,
ऐसी रहनी रहहु मन, रहहु न पिय तैं दूर ।

छाँड़हु देस - विदेस कौ यह पर्यटन असार,
बैठहु पिय के चरण गहि, करहु सुलोचन चार ।

विचरहु पिय की डगरिया, बसहु पिया के गाँव,
पिय की ड्योढ़ी बैठि कैं, रटहु पिया कौ नाँव !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
६ दिसम्बर, १९४३

■

प्राप्ति

मन होता है, प्रियतमे, मृदु तलवों में आज,—
नैन ललकते दूँ बिछा, जब तुम चलो स-लाज ।

मम गतिमय अस्तित्व की तुम स्थिरता हो प्राण,
वर दो, अरुझे चपलता तव पद में अनजान ।

मत निरखो मुझको भरे नत नयनों में नीर,
हहरा उठता है हृदय देख रावरी पीर।

पाकर जीवन में तुम्हें धन्य हुए मम भाग,
शाश्वत रहो अखण्ड नित मेरे मधुर सुहाग।

नित्य ढूँढ़ता मैं फिरा निज प्रियतम सायास,
इतने दिन उपरान्त अब मिटी पास की प्यास।

क्या तुम यों ही आ गये अनायास हिय बीच ?
युग - युग से हूँ मैं रहा कर्म - बेल यह सींच।

औचित्यानौचित्य का संशय है बलवान्,
पर, प्रिय की उपलब्धि तो है औचित्य महान्।

मैं न करूँगा आज प्रिय, पाप - पुण्य का भाव,
संशय में होगा, कहो, कैसे नेह - निभाव ?

विहँसो झूला झूल प्रिय, मम रसाल की डाल,
कूको कोकिल - सी तनिक गूँजें सब दिक् - काल।

भर दो इस अस्तित्व में मस्ती की धुन एक,
दीवाना बन नेह का भूलूँ ज्ञान विवेक।

पूर्ण महा मानव बनूँ; लगे नेह सोपान,
जल - थल - नभ विचरूँ सहज, चढ़ अनुराग-विमान।

प्राण, तुम्हारे चरण में, विनती बारम्बार,
पार्थिवता हो नष्ट यह, सेन्द्रियता हो क्षार।

परस - लालसा भी बने धीर, गहर, गम्भोर,
प्यार अतीन्द्रिय हो, सजनि, आलिङ्गन अशरीर।

तन्मय हों मम प्राण ये, तन्मय हो मम पीर,
तुम बैठो उस कूल पे, मैं बैठूँ इस तीर।

वजे तुम्हारी मुरलिका, ध्वनि आवे इस पार,
जीवन-तरणी के पुलिन डूबें स्वर - रस - धार।

तट-सिकता कण से चुवें अगणित नव रस विन्दु,
जिनमें लहराये उमड़, पूर्ण प्यार का सिन्धु।

रेलपथ,
चिरगाँव से कानपुर, उरई स्टेशन
१८ नवम्बर, १९३७

■

सतत प्रवासी

अरे, कौन ? यह कौन है, धूर-धूसरित, मौन ?
यह – बेघर सौ लगत है, या को कहूँ न भौन ?

कितनी भोर पथिक तुम जागे ? कब तें पन्थ चलन तुम लागे ?
तुम हो कौन देश के बासी ? कौन देश तुम चलेहु प्रवासी ?

कौन विथा तुव हिय बिच जागी ? जो तुम भयउ पन्थ-अनुरागी;
कौन बात सोची अपने मन ? छाँड़ि सुगेह भये अनिकेतन।

निरखत नैंकु न जेठ दुपहरी, लखत न सावन - बरखा गहरी ?
पथ में सींचत अपने श्रम-कण, भींजत चले जात तुम उन्मन।

ऐसौ कौन निमन्त्रण आयो ? किनने तुम्हें सँदेस पठायौ ?
चले जात पथ तुम आकुल-से, थकित चरण, पै निज हिय हुलसे।

कान परी ऐसी कैसी ध्वनि, जो तुम चले सतत यात्री बनि ?
तुमने सब लौकिकता त्यागी, खूब भये तुम निपट विरागी।

लखि तुव भेस हँसत जग के जन, अचरज करत पन्थ के रज-कन;
सकुचि रहे मारग के पाहन, लखि कै तुम्हें विरथ, बिनु वाहन !

मग-पाहन, पथ-शूल-फूल-गन, योंई चूमत चकित तव चरण;
ऐसेई विहँसत स्याने जन, पै, न प्रवासी होत विरत मन।

कहूँ दूर जाकी रति अटकी, तो किमि चिन्ता करे निकट की ?
जब दृग् परी दूर की झाईं, कहा निकट की तब परछाईं ?

जब लोचन अलभ्य रँग-राते, तब न सुलभ के ठाठ सुहाते,
जब सुलक्ष्य की लहरी गंगा, तब किमि भावे इतर-तरंगा ?

दोहा – जो निकस्यौ नव सृजन कौं वातैं कहा बसाय ?
लौकिकता की लघु ठसक, कैसैं वाहि सुहाय ?

तुम निःसाधन तुम करपात्री, सन्तत चले जाहु तुम यात्री;
करहु प्रशस्त ऊर्ध्व-मग-रेखा, धनि तुम सतत प्रवासी भेखा !

धन्य धन्य तुव चरण गमन-रत, धन्य धन्य तव मस्तक उन्नत !
धन्य शूल तुम पाँव सँगाती, धन्य धूरि तुव अंग सुहाती !

तुव लकुटी प्रवासिनी धन्या, वह तुव चिर - संगिनी अनन्या।
तुम नव नव मारग निर्माता, तुम नव अगम दिशा के ज्ञाता।

तुम हौ अलख लखावन हारे, तुम उत्क्रमण-ज्ञान रखवारे;
तुम समुद्र मन्थन करि लाये, – जन संस्कृति के रतन सुहाये।

तुम अभिनव रवि-शशि के सृष्टा, अगम भविष्य भाव के द्रष्टा;
नव विज्ञान-ज्ञान के शोधक, तुम प्रचण्ड जड़ रूढ़ि - विरोधक।

यद्यपि तुम सन्तत एकाकी, पै तुम हौ निधि मानवता की –
सतत लोक-संग्राहकता की, चिन्ता तुम्हें सकल वसुधा की।

तुममें सृजन-शक्ति विधना की, तुम प्रलयंकर शम्भु पिनाकी।
छिन दरसावत सिरजन-झाँकी, पुनि प्रकटत विनास छवि बाँकी।

ओ तुम महा प्राण करुणाकर, कौन प्रेरणा लाये हिय - भर ?
जग कौ सन्तत सहत निरादर, तउ बरसत हौ जिमि धाराधर;

रिमि-रिमि झिमि तव करुणा बरसी, जगती तव प्रसाद तें सरसी,
पै न भरी तव हिय की सरसी, जनु कछु बात रही अधपरसी !

दोहा – ओ, मानवता के सतत विकट प्रवासी वीर ?
तुम आगे आगे चलहु, जन-गन-हिय-तम चीर ?
निहचैं पहुँचैंगे सकल, मानव वाई ठौर।
जहँ प्रशस्त तुव पन्थ है, जहँ न साकरी खौर।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
६ सितम्बर, १९४३ रात्रि, १-१०

■

नैना

प्यारी इन अँखियान कौ बड़ौ अटपटौ नेह,
कबहूँ चमकत बीजुरी, कबहूँ बरसत मेह।

छिन डोले-डोले फिरें, पुनि छिन में सकुचात,
कहौं कहा ? नैनान की, बड़ी अनौखी बात।

इन नैना-भौंरान कौं बाँधि लाज की डोर,
सजनि, उड़ावहु मन इतैं, करहु कृपा की कोर ?

ये लोचन-भौंरा भये बड़े सुरस के चोर;
पलक सम्पुटी में इनहिं राखौ; करौं निहोर ।

उठी पलक की यवनिका हौलें-हौलें आज,
किधौं ज्ञान-वैराग्य को टूट्यो सकल समाज ।

इन थोरे से दिनन सों अरी बावरी वीर,
आँजि गयो कोउ नैन में जादू गहर गभीर ।

अँखियाँ पल-पल पलक में दुबकि जात इठलात,
लोक लाज के मिस, सजनि, करहु न यों उतपात।

तुम ए भोरी-सी भटू, तनिक सम्हारहु चीर,
ये घूँघट की ओट के बन्दी भये अधीर ।

निपट निराशा-जलधि में जदपि नैन उतरात,
तऊ सदा प्यासे रहें ये दुखिया अकुलात ।

झिझक झपकि झुकि जात हैं नयन, अरी सुकुमारि,
या मोहक संकोच की हौं जावौं बलिहारि ।

सीधें चितवति हो तऊ लगैं तिरीछे बान,
दोख न काहू दीजिए, उलट्यो सकल बिधान ।

टोना-सौ कछु ह्वै गयो सजनि, आपु ही आप,
ता दिन तैं जब तैं इतैं तुम चितयो चुपचाप ।

तक्र,-भावना, मटुकि,-हिय, रई-तिहारी प्रीत,
परी,-लोचनन में भर्‌यो सुरस नेह-नवनीत ।

अरुण प्रात, कारी निशा, स्फटिक दुपहरी-पीर,
सलज लोचनन में दुरे सब इक सँग, री वीर।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१० दिसम्बर, १९३०

अनुरोध

झीनी चादर ओढ़ि कै मत सोवहु सुकुमारि,
अँग-रँग छलक्यौ जात है रंजित हैं दिसि चारि।

आँखिन तें जनि बोलहू, सजनि, अबोले बोल,
मौन-अनी चुभि जात है हियहिं टटोल-टटोल।

मो बगिया में ढुरि परौ कबहूँ तौ सुकुमारि,
डोलि रह्यौ व्याकुल पवन इतैं उसासैं डारि।

हारि गयीं लतिकान की कली निमन्त्रण देत,
पुहुप पाँवड़े बिछि गये, अली, पराग समेत।

अब तौ सूनी कुंज पै करहु कृपा की कोर,
छिटक चाँदनी-सी खिलहु, ह्वै कैं आतम-विभोर।

सघन कुंज की गलिन में आवहु, खेलहु खेल,
इन सूने बिरवान पै, सजनि, चढ़ावहु बेल।

आँख-मिचौनी मिस दुरहु उझकि-उझकि द्रुम-ओट,
कछु काँकरिया-सी चुभै, देहु सैन की चोट।

मेरी झीनी चदरिया रँगी तिहारे रंग,
स्वामिनि, इत उत चुवत है देखहु नवल उमंग।

याँ विराग-अनुराग के भाग खुलि गये, वीर,
उनकौं तो संगी मिले हम-से मस्त फ़क़ीर।

धूनी तपी; न चीमटा खनक्यौ एक्रौ बार,
तऊ फ़क़ीरी की, सजनि, आयी अतुल बहार।

वस्त्रन पै रँग ना चढ़्यो तेरो रँग अनमोल,
हिय राच्यो, मन रँगि गयो, राचे लोचन लोल।

हम हैं मस्त फ़क़ीर वे जिन्हें और ना काम,
गाढ़ी गहरी छानि कैं रट्यौ करैं तुव नाम।

रात अँधेरे पाख की, दीपक हीन कुटीर,
आय सँजोवहु दीयरा, हियरा भयो अधीर।

रैन दिना बैठ्यो रहे द्वार तिहारे जाय,
भोरे मनुवाँ कौ करौं अब हौं कौन उपाय?

उचटि-उचटि चलि जात चित वा आँगन की ओर,
जहाँ डुलि रह्यो है, सजनि, तुव अंचल को छोर।

कबहूँ तो निज दृगन तैं कहहु : आहु, इत आहु;
तुम तो सन्तत कहत हौ : दूर जाहु, उत जाहु!

तुम्हरे लोचन-कमल पै मो मन अलि अनुरक्त,
तुम टारत, मँडरात वह बार-बार आसक्त।

कबहुँक हँसि मुसिकात हौ, कबहुँ करत हौ क्रोध,
यह कैसी जु अदा-बदी? यह कैसो अवरोध?

डिस्ट्रिक्ट जेल, ग़ाज़ीपुर
१८ दिसम्बर, १९३०

संशय-दैन्य

जीवन डगरी में छिपी निशि अँधियारी पीर,
बेधि रह्यो कोउ ताकि कैं असन्तोष के तीर।

भाँति-भाँति के राग की चपल भ्रान्ति-उद्भ्रान्ति,
करिबे कौं आयी यहाँ विकट क्रान्ति उत्क्रान्ति।

चल्यो जात हो हिय सहज, विन्ध्यौ पाप के शूल,
सिसकि रही पीड़ा इतैं, भई लाज उन्मूल।

कृत कर्मन के बहि चले रुधिर - पनारे आज,
कहा कहों, कैसे छुटी जनम - जनम की लाज ?

धसकि-धसकि मिटि-मिटि गये मधुर मनोरथ भौन।
वात पूछिबें कौं, कहहु, रह्यो भौन में कौन ?

चर - चर - चूँ - चूँ करि रह्यो जीवन-कोल्हू दीन,
आशा सरसों पिरि भई अश्रु - तैल - तल्लीन।

फूल्यो यह जीवन - विटप फल्यो आदि अभिशाप,
सन्तापी हिय करि रह्यौ नीरव मौन विलाप।

कित आशा ? कित सरलता ? कितै सुनिश्चय-साज ?
इत-उत-जित-तित तैं उमड़ि परी विकलता आज।

क्षत - विक्षत हिय बहि रह्यो, लगे प्रश्न के तीर,
मौन निरुत्तर वेदना मन चित धुनत शरीर।

चिन्ता-कठिनी लिखि रही प्रश्न चिह्न प्रति वार,
क्यों ? कित ? का ? कैसें ? कहाँ ? को फैल्यो विस्तार।

मेरी पाटी काठ की छोटी, प्रश्न अनेक,
जगत निरुत्तर ह्वै गयो, मिल्यो न उत्तर एक।

रात अँधेरे पाख की, दीपक-हीन कुटीर,
ऐसे कुसमय में उठी विफल ज्ञान की पीर।

कहा करौं? यह वेदना समुझि परै नहिं नैंक,
तकि-तकि कै कोउ दे रह्यौ संशय-बाण अनेक।

अहो शान्ति जल-धार, हे सरवर संशय-हीन,
तड़पि रह्यौ है कूल पै यह 'नवीन' मन मीन।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
२० फ़रवरी, १९३१

घाव

कहा करौं? यह वेदना, समुझि परै नहिं नैंक,
तकि-तकि कैं कोउ दै रह्यो संशय-बाण अनेक,
संशय-बाण अनेक हिये में कसकि रहे ये,
घाव गहर-गम्भीर-तीर के टसकि रहे ये,
भरि-भरि आवत है कोमल क्षत-विक्षत छाती,
बूँद-बूँद बहि चली सिधौसी संचित थाती;
कहहु कौन सो मरहम व्रण में यहाँ भरौं मैं?
हैं ये गहरे घाव, बतावहु कहा करौं मैं?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
२४ फरवरी, १९३१

मेरे प्राणाधिक

दोहा— मेरे प्राणाधिक सरल, देहु यही वरदान,
गूँजैं नित मम श्रवण में पुण्य नेह के गान।

मेरे प्राण, श्रवण, लोचन, मन, मेरे अंग-अंग, शोणित कण।
नव सनेह के रस में पागें, नित तव चरणन में अनुरागें।।

मिटै सकल जग को कोलाहल, उमड़ै नेह - धुनी कल-कल-कल।
मैं डूबूँ चिर नेह सुरस में, तव मुख-कंज खिलै मानस में।।

छोटी-सी मम जीवन-गागर, ह्वै निस्सीम बनै रस-सागर।
टूटे मेरे सीमा-बन्धन, यह वर देहु मोहिं, हिय-नंदन।।

जो तुम मो डारी पै फूलौ, जो तुम निज जन पै अनुकूलौ।
तो फिर कहा ताप-भय जग के, और कहा कण्टक मो मग के।।

कहा पन्थ की लीक खुरखुरी, कहा मृत्यु की भीति बापुरी।
जो तब स्मिति-प्रसाद-बल पाऊँ, हँसि-हँसि जग जंजाल उठाऊँ।।

ह्वै विदेह मैं भजौं तुम्हें नित, ऐसे आय बसहु पिय, मम चित।
झूलहु मेरे श्वास-हिंडोले, अब तो आय ढरहु अनबोले।।

टेरत-टेरत सब दिन बीते, पै न ढरे तुम प्राण-पिरीते।
कब लौं आवहुगे तुम इत ह्वै, मेरौ अंजलि-अर्घ्य चल्यौ च्वै।।

एतो कौन दोष है मेरो? ऐसौ पातक कौन घनेरो?
किमि ह्वै हैं मम रज कण कंचन, जबलौं मिले स्पर्श तव रंच न।।

दोहा— देखहु सम्मुख आय कैं, हे मेरे सुकुमार!
तव न अनन्याश्रय जगै, तौ मोकौं धिक्कार!!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१ जनवरी, १९४४

अपनी-अपनी बाट

है सब जग के जनन की अपनी-अपनी बाट,
अपनो-अपनो राग है, अपनो-अपनो ठाट !

प्रति जन को है आपुनो भिन्न-भिन्न संसार,
रंग-बिरंगी भिन्नता फैली अपरम्पार।

सब जग-जन को है यहाँ भिन्न-भिन्न दिक्-ज्ञान,
भिन्न-भिन्न है सबन को अपनो काल - प्रमान।

काऊ कों है निमिषवत् अन्तहीन यह काल;
काऊ कों इक छिन लगत ब्रह्म-दिवस विकराल !

कबहुँ एक डग सम लगत यह सब दिग्-विस्तार;
कबहुँ एक पग हू बनत अति दुर्गम पथ-भार !

देश-काल कबहूँ बनत अति लघु मान-प्रतीक;
अन्तहीन कबहूँ लगत इनकी चक्रित, लीक !

काऊ कों है कल्प मय शरद-शिशिर की रात,
कोउ कहत है : क्यों भयो इतनौ शीघ्र प्रभात ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२४ मई, १९४४

■

नैया

आके तो देखो तनिक कैसा हाल-विहाल ?
डगमग - डगमग हो रही इस नौका की चाल ।

वन्धहीन, गुण गलित, हैं सड़ी लकड़ियाँ चार,
क्या जानूँ क्या हो गये सुदृढ़ डाँड़, पतवार ।

उमड़ रही स्रोतस्विनी बड़ी प्रखर है धार,
रंच सहारा दो, निठुर ओ मेरे सरकार ।

टेर गूँजती गगन में मेरी बारम्बार,
निरवल के बल, कान दो, हँसता है संसार ।

तुम तट पर अठखेलियाँ खूब कर रहे, नाथ,
बही जा रही है इधर मेरी नाव अनाथ ।

जीवन सन्ध्या हो रही चली आ रही रात,
कौन पूछने को रहा इस नौका की वात ?

अपना जिसको समझते रहे ग़रीव 'नवीन',
वही बिराना हो गया, किसका करें यक़ीन ।

दीन-हीन की जान के जीर्ण-शीर्ण-सी नाव,
करते हैं उपहास सब, जग का यही सुभाव ।

रसरी बाँधो नेह की, नैन-सैन के छोर,
टूटी तरणी खींच लो श्री चरणों की ओर,

जव गरजें घनघोर घन, तड़पे बिज्जु अथोर,
तब बोलो, कैसे चले इस नैया का ज़ोर ?

उमड़ रही उन्मादिनी नदी कराल, दुरन्त,
तट डूबे घन तिमिर में जिसका आदि न अन्त ।

घेर अनन्ताकाश को दल बादल की भीर,
नखत शून्य कर गगन को करती मुझे अधीर ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१३ दिसम्बर, १९३०

पहेली मानव

इतनी संस्कृति-स्मृति विपुल; ऐतो अनुपम ज्ञान !
तऊ निरन्तर रागवश है मानव - सन्तान !!

जीवन में है नेह को किंचित् नाहिं अभाव,
तऊ मिटाये ना मिट्यौ चित तें शोणित-चाव ।

मानव, जे निशि-दिन पियैं मधुर प्रेम-रस-धार,
तेई करिबे लगत हैं दिन में, रक्त - विहार !

होत तिरोहित देखियौ मनुज - हृदय को नेह,
मानव के देवांश में होन लगतु सन्देह !

लखि-लखि कैं या द्विपद कौ यह विरोध-व्यवहार,
अर्थहीन लगिबे लगत जीवन को व्यापार !

जीवन में इतनी अधिक क्यों है खैंचा - तान ?
कहहु वनायौ कौन ने यह अटपटौ विधान ?

अम्वर तैं टपकी समुद तरल अमल जल बूँद,
रज में मिलतेईं लगी वा में मलिन फफूँद !

आलोकित करती गगन चली चन्द्रिका वाल,
भूमि परसतेई भयी मटमैली तत्काल !

है या जग की मृत्तिका कछुक सदोस, मलीन,
जामें मिलि ह्वै जात है चेतन, चेतन - हीन !

जिय कछु ऐसौ लगत है मनहुँ सृजन - व्यापार,—
चलत न, जब लौं ना छिड़ै यह द्वन्द्वात्मक रार !

सकल सृजन को मूल है संघर्षण अविराम,
तातैं जन - हिय मैं मच्यौ देवासुर - संग्राम !

ऋण - धन - गुण - संयुत सदा विद्युत शक्ति अथोर,
सव ब्रह्माण्ड - विकास कौं सतत रही झकझोर !

जव जड़ता में मचि रह्यौ संघर्पण भरपूर,
तब चेतन ही क्यों रहै राग - द्वन्द्व तैं दूर ?

चिर अमूर्त्त सत् होत जव मूर्त्तिमन्त प्रत्यक्ष,—
ता छिन वह करि लेहु रे असदावरण समक्ष !

याई तैं सत् - असत् की मची हिये में रार,
याई तैं मानव भयौ चिर विरोध - आगार !

खटकि रह्यौ है द्वैध को मनुज हिये में शूल,
मानौं यह मानव गयौ निज स्वरूप कौं भूल !

पहिचानैगौ; कौन विधि निज कौं मानव जन्तु ?
करत रहत है रात दिन यह तो किन्तु, परन्तु !

चल्यौ जात है राग की कारी कामरि ओढ़,
जड़ता सौं या मनुज ने मनहुँ बदी है होड़ !

दिवसन की गिनती कहा ? गये कल्प लौं बीत,
अजहुं न निज सत् रूप की उपजी हिय परतीत !

अँखियाँ अपलक फटि रहीं झाँकी देखन काज,
थके हाथ सन्तत रचत अभिनव मनुज - समाज !

कहा करें ? कैसे करें ? कहा तजें सब आस ?
कहहु, तजें का आज या मानव में विश्वास ?

पै, हिय में यों होत है मनहुँ न तजियौ आस,
बुद्धि कहि रही : कब रुक्यौ मानव कौ सुविकास ?

हहरि - हहरि कैं बहि रह्यौ सन्तत सृष्टि - प्रवाह;
हम क्यों त्यागें आपुनौ हिय कौ अदम उछाह ?

यदि मानव सत्-रूप को है मिश्रित अवतार,
तो वह निहचै जायगौ पुनः सत्य के द्वार !

अपनौ दीप बुझाय कैं फेरि बारिबौ नित्य,
इन्हीं प्रयत्नन तैं मथित है मानव - साहित्य !

गिरि-गिरि कैं उठिबौ पुनः रुकि-रुकि, पुनः प्रयाण,
यही मनुज की सतत गति, यही सुमोक्ष - विधान।

मत बिलखहु, सोचहु न कछु, रहहु अशंक, अदीन,
मनुज तिहारौ सत्य है, हे प्राचीन 'नवीन' !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२१ मार्च, १९४४

■

अनवाप्त

हम नितान्त बौड़म बजत, बीते बरस अनेक,
मारे - मारे हम फिरे, रहे एक के एक।

प्राण, नयन, मन, श्रवण, तन, अर्पण कौं अकुलात,
पै साजन नहिं ढरत इत; जीवन बीत्यौ जात।

का यों ही रहि जायगी प्राण - समर्पण - टेक ?
ओ ललाट की रेख तू; कहु, री, कछु तौ नैंक !

कौन पूर्व - कृति करम ये आड़े आये आज ?
जो न पधारत प्रेम-घन अपने जन के काज ?

हम तो ढूँढ़त हैं पियहिं गहरे पानी पैठि,
वे गहराई छाँडि कैं रहे किनारे बैठि।

अपने पिय कौं ढूँढ़िबे हम तो उड़त अकास;
वे भूतल की गलिन में करत रहत उपहास।

हम उत, वे इत चलत हैं, हम इत, वे उत, जात;
यों ही इत - उत में सतत बीतत हैं दिन - रात;

जे पग हम राखत हिये, जे पग लखे न काहु, —
उन पग, गज-गति चलत तुम, आहु, सजन-गृह आहु।

कुहकी कोयल मद-भरी, इन आमन की डालि,
बगिया में ढरि, हृदय के कण्टक लेहु निकालि।

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
६ मार्च, १९४३

■

राग-विराग

हंसा उड़े अकास में, पै नहिं छूटयौ द्वन्द,
मन अरुझान्यौ ही रह्यौ मानसरोवर-फन्द।

हम विराग आकाश में बहुत उड़े दिन-रैन;
पै मन पिय-पग-राग में लिपटि रह्यौ बेचैन।

हम सेन्द्रिय, बनिबे चले, निपट निरिन्द्रिय रूप,
इत, मन बोल्यौ : बावरे पिय को रूप अनूप।

व्यर्थ भये, असफल भये जोग-साधना-यत्न,
कौन समेटे धूरि, जब मन में पिय-सो रत्न ?

कहँ धूनी की राख यह ? कहँ पिय-चरण-पराग ?
कहाँ बापुरी विरति यह ? कहाँ स्नेह, रस, राग ?

प्रिय, हम तें या देह सौं सधैगौ न वैराग,
फीके-फीके-से लगत सबै जोग - जप - जाग।

सदा राउरी अर्चना, सन्तत राउर ध्यान,
राउर ढिग रहिबौ ललकि, यही हमारी बान।

कबहूँ बेणी गूँथिये कबहुँ चापिये पायँ,
कबहुँ अधर-रस चाखिए, तब 'नवीन' हरषायँ।

खीझि कह्यौ तुम एक दिन कि हम बड़े बेकाम!
ठीक; हमारौ काम है बिकि जैबो बेदाम।

तुम्हें खिझाय रिझाइबौ, दुलरैबो प्रतियाम,
सतत बलैयाँ लेइबो, यही हमारो काम।

तुम बोले : निर्लज्ज हम, हमें न लौकिक लाज,
पै, हमने यह कब कही कि हम लोक-सिरताज ?

खीझहु मत, रंचक सुनहु, ओ सलज्ज सरकार,
हमरे दृग में लखि तुम्हें विहँसि रह्यौ संसार !

नैनन में, मन, प्राण में, रोम-रोम में आज,—
चौंडे ही तुम रमि रहे, कितैं तिहारी लाज ?

जो तुम लज्जा-शील तौ, क्यों न हिये तें जाहु ?
प्रीति न छानी रहि सकत, सजन, अब न शरमाहु।

जब हम माँगत अधर-रस, तवहीं तुम मुसकात,
फिर, नाहीं करि देत हौ, कहहु कौन यह बात ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
५ मार्च, १९४३

■

हंसिनि उड़ी अकास

देखत ही देखत मुँदे वे अनियारे नैन,
मौन भये छिन एक में सलज, रसीले बैन।

मानस सरवर छाँड़िकैं हंसिनि उड़ी अकास,
दृग मोतिन के चुगन कौं अब नहिं आवत पास।

औचक जनि उड़ि जाहु री, जनम-जनम की मीत !
पाहन सम जम जाइगौ तुम बिन हिय-नवनीत !!

हैं वे ही सब लोग ये, है जु वही संसार,
पै तुम विन छिन-छिन लगत जीवन दुर्वह भार।

स्मृति हीं तें ह्वै जात है मानस में कल्लोल,
नैंनन तैं बहि - बहि उठत अवश अबोले बोल।

यह जीवन की दुपहरी भई झुटपुटी साँझ,
तम की झाँई परि गयी तुम बिन या हिय माँझ।

जिय सूनौ, सूनो हृदय, तन - मन-प्राण उदास,
भली भई : तुम सँग गयी जीवन की सुख-आस।

शरद जुन्हाई अब कहाँ ? कहाँ बसन्त - उछाह ?
जीवन में अब बचि रह्यौ चिर निदाघ को दाह।

जीवन के मधु स्वप्न वे, हास, लास, रस, रंग—
सकल तिरोहित ह्वै गये, प्राण, तिहारे, संग !

हुलस बलैयाँ लेत है जा मुख की हरषाय,
वाई मुख में अगिन हम दै आए निरुपाय !

वा तन की केवल भसम आज बचि रही शेष,
यह परिवर्तन ठाठ हम लखत रहे अनिमेष।

धू - धू करि कैं बरि उठी उतै चिता की आग,
इत हिय धधकी होलिका, विनु फागुन, बिन फाग !

जिमि प्रसूतिकागार, जिमि लगन - मँडप - रस - रंग,
तिमि श्मशान की लपट हू लगी मनुज के संग।

सँग-सँग जन्मे होइँगे जनम - मरण कोउ काल,
ये करिहैं प्रलयान्त लौं जन हिय मन्थि बेहाल !

मानव ने नव जनम को लख्यौ प्रात को हास,
पुनि वानै जन्मान्त कौ लख्यो उदास अकास ।

उषा लखी मनभावनी, लख्यौ प्रात - आलोक,
अब ये नैना लखि रहे श्याम साँझ कौ शोक !

अब तो तुम बिन दृगन में भरी रहैगी रात !
एक किहानी ह्वै गयी अब प्रभात की बात ।

छूटयौ सँग, फीको परयौ जीवन को सब राग,
अब तौ स्मृति ही में रह्यौ, प्रिय, तब अंग - पराग ।

संस्मृति बनी अनूप, वसी रहौ तुम हृदय में,
कछु छाया, कछु धूप, सरसावहु मन - गगन बिच ।

केन्द्रीय कारागर, बरेली
२५ अगस्त, १९४३

■

पिंजरबद्ध नाहर

आवैगौ को वापुरो हमें झुकावन आज ?
हम उन्नत शिर, हम अजित, हम अजेय मृगराज !

जद्यपि पिंजर - बद्ध हैं हम नाहर विकराल,
अरे, तऊ हैं सिंह ही, हम न गरीब शृगाल !

हृदय उछाह अमाप है, आँखिन में है आग,
अब भी है मन में वही मृगया कौ अनुराग !

वही दंष्ट्र हैं, नख वही; गर्जन वही अथोर !
अजहूँ रिपु कँपि उठत है सुन दहाड़ वनघोर !

काँपि उठत है पींजरा, कँपत लौह के द्वार !
कँपत अर्गला बन्ध सब, मुनि नाहर हुंकार !
हम अलीक, बीहड़ चलैं, सिरजैं अपनी लीक,
हमें न भावैं अन्य कौ मारग आछौ, नीक !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
९ सितम्बर, १९४३

■

पै न ढरे घनश्याम

बोल्यौ नेह-पपीहरा जीवन - तरुवर बैठि
पिऊ ? पिऊ ? की ध्वनि गयी अन्तरिक्ष में पैठि ।

अरुणा भई विभावरी, ढूंढ़त पिउ की ठाँव,
कितै पिया की डगरिया ? कितै पिया को गाँव ?

निखिल सौर-मण्डल बन्यौ सजन-सुमरनी-माल,
घूर्णित त्रिभुवन-रव खयौ नाम-स्मरण सब काल।

रवि, शशि, तारक वृन्द लौं गूँजि रह्यौ पिय-नाम,
ढूँढ़ि थके अणु-अणु उन्हें, पै, न ढरे घनश्याम ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
५ मई, १९४२

■

उपालम्भ

जीवन-तरल तरंगिणी सूखि भयी कृश धार;
द्वेष-मत्त जग ने दियौ, यह निदाघ-उपहार।

जग प्यासौ अवलोकि कैं, हम भरि लाये नीर;
फूटि गयी गगरी लगे उपालम्भ के तीर।

साँझ भयी, सूरज भयौ पश्चिम दिशि की ओट,
नभ अँधियारौ बढ़ि चल्यौ, हिय कसकी निशि-चोट।

सोच भयौ हिय, देखि कैं अपनी जीवन-साँझ,
दिन की घड़ियाँ रहि गयीं, हाय, बाँझ की बाँझ!

नेह दियो निष्ठा सहित, पायी घृणा अपार,
सेवा को मेवा मिल्यौ यह कृतघ्न व्यवहार।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
४ मई, १९४२

■

प्रतीक्षा

रटत नाम, सुमिरन करत, बौरान्यौ मन-कीर,
जोहत मथ इकटक सतत, उमड़्यौ नैनन नीर।

शिला-खण्ड पै बैठि, हम, निज हिय, लोचन, चीर,–
देखि रहे जग-मग चलत इन पन्थिन की भीर।

हमें अश्म-आसन मिल्यौ; मिली प्रतीक्षा - पीर;
मिली उपेक्षा; औ' मिले उपालम्भ के तीर।

हमें बावरौ कहत सब, जो हम जोहत बाट;
कहा कहैं? कछु परि गयी ऐसी रेख ललाट!

हम विषपायी जनम के, सहैं अबोल, कुबोल;
मानत नैंकु न अनख; हम जानत आपुन मोल।

अजहूँ कछु-कछु है स्मरण वा मुख की मुसकान;
कबहूँ तो या पन्थ ह्वै निकसैंगे रसखान।

कोलाहल मच जाइगौ, उमड़ैगी जन-भीर,
अब साजन रस-बस खिंचे ढरकैंगे हम-तीर।

विह्वल, चरण पखारि हैं ये युग नयन अधीर,
न्यौछावर ह्वै जाइँगे उनपै हम सशरीर।

पै जब तक पिय ना ढरत हुलस हमारी ओर,
तब तक हम रहिहैं सतत गहे प्रतीक्षा-डोर।

पंछी बोलत चैं-चटक, सलिल करत कल-नाद,
सब जग ध्वनिमय ह्वै रह्यौ; हमें मौन-उन्माद।

कहा कहैं? कछु समझहू परत न कोऊ बात,
शब्द बापुरें सिमिटि कै सकुचि-सकुचि रहि जात।

उठ-उठ आवत कण्ठ लौं हिय-उत्ताल-तरंग,
पै यह रसना बावरी देत न वाकौ संग।

मौन रहहु, जनि कछु कहहु, सहहु जगत अपवाद,
गूँगे ही तुम ह्वै रहौ, हे 'नवीन' अविवाद।

ये तव मौनाधर खुलें वा छिन, अरे 'नवीन',
जा छिन पिय-मुख-परस तैं हों तुव शब्द अदीन।

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
२३ जनवरी, १९४३

■

कितै तिहारो देश ?

कितै तिहारी नगरिया ? कितै तिहारो देश ?
लख मों तन कछु तो कहौ, हे मेरे प्राणेश !

इतने दिन तें उठि रही, आकुल प्राण - पुकार,
क्यों न खुले अब लौं तनिक गहन रहस्य-किवार ?

दर्शन-क्षमता मनुज की अति सीमित, अति दीन,
रोकि रहे दृग-पन्थ ये देश,काल प्राचीन !

बात अगम पर पार की कैसें जानी जाय ?
अलख झलक किमि पेखिए ? याको कौन उपाय ?

छिन्न-भिन्न तुम बिन भये मेरे जीवन-तन्त,
झटकि बाँह तुम चलि बसे, हे मेरे रसवन्त !

जो कहि जाते निज पतौ, चलती बिरियाँ नैंक,
तो क्यों उठते दुख-भरे ये संकल्प अनेक ?

पाहुन सम तुम करि गये छिन में महा प्रयान,
ता दिन तें जीवन-कुटी भयी निपट सुनसान !

तुम आये वरदान सम बनि कैं सरस बिहान,
पै निकस्यौ अति सूक्ष्मतम मम सँजोग-दिनमान ।

मम बिहान, मम दिवस लघु बनें तिमिरमय रैन,
भ्रमित प्राण-पंछी सतत, नैकु न पावत चैन ।

चक्रवाक की रैन, कबहूँ तो कटि जात है;
पै, हे मम रस-ऐन, लगत निशीथ दुरन्त मम ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१७ अगस्त, १९४६

■

पावस पीड़ा

विप्रलम्भ शृंगार प्रधान लघु प्रेम कविताएँ

[संग्रह को कवि-द्वारा एक वैकल्पिक शीर्षक 'यौवन मदिरा' भी दिया गया है]

तीर-कमान

प्रिय, धनुर्धर तुम चतुर, तव लक्ष्य-वेधक बाण;
खटकता है यह तुम्हारा मूक शर - सन्धान;

पलक प्रत्यंचा, सुभृकुटी-लचक लोल कमान,
सैन - शर हैं भाव - रस - विष बुझे, हे रसखान;

नयन - बाणों से सदा करते रहो म्रियमाण,
बस यही है साध हिय की, बस यही अरमान।

एक दिन कर दो कृपा इतनी, अहो गुणवान्,
चूम लेने दो हमें निज सुघड़ तीर - कमान !

खींचकर आकर्ण प्रत्यंचा, धनुष को तान, –
यों बुला लो पास, दे दो नयन - चुम्बन - दान;

प्यार में यह खीझ - जैसी चीज़ ? इतना मान ?
प्रिय, दिखा दो चाँदनी - सी वह मृदुल मुसकान।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैजाबाद,
२२ अगस्त, १९३३

■

असमर्थ

ख़ूब हुकुम देते हो स्वामी, भले बने तुम शाहंशाह;
जब जो जी में आया वही कहोगे, तुमको क्या पर्वाह ?
कभी इधर को, कभी उधर को, झुक जाने को कहते हो,
जैसी मन की मौज हुई वैसे ही बकते रहते हो।
आज आज्ञा हुई कि उट्ठे अनिल और अन्धड़ के गीत,
मेरी टूटी बाँसुरिया के लिए नयी है यह स्वर रीत ।।

मैं हूँ विजित, कहो तुम अनिल-स्वर क्या है मैं क्या जानूँ,
मीठी-मीठी कसकमयी वेदना तान मैं पहचानूँ।
नाथ, झकोरे झंझा के ये सहन कहो क्यों कर पाऊँ,
पावक के रागों की ज्वलना कड़ियाँ कैसे सुलगाऊँ ?
मुझसे सुनना हो तो सुन लो क्रन्दन का उत्क्रोश हरे,
सच कहता हूँ वीरतान लेने का रहा न जोश हरे ।।

परदे में तुम छिपे हुए, कैसी छबि-छटा दिखाते हो,
झाँक-झाँक कर हम प्यासों को क्या नव रीति सिखाते हो,
यह सब मुझसे सुन लो स्वामी,–इस फ़न में पारंगत हूँ,
डूबा रहता हूँ मैं इसमें – इसी साध में मैं रत हूँ।
नाश, आग पानी, आँधी की लीलाएँ मैं क्या जानूँ,
मैं विराट का भक्त नहीं, तब कैसे तव आज्ञा मानूँ ?

■

परीक्षा के प्रश्न-पत्र

कितनी आतुरता से देखे अपने परचे आली,
निर्दय परीक्षकों की कृतियाँ कैसी हैं विकराली।
दुनिया-भर की बात पूछते, यह सब भ्रम का जाल,
मन के मृदुल मिलन का उनको ज़रा नहीं है ख़्याल।
आखर अमित अर्थ थोड़ा, यह प्रश्न-पत्र का खेल।
जी में आता आज जला दूँ इन सब को बे-तेल !

■

टूटी वीणा

जर्जर तूँबी, भग्न दारु, टूटी खूँटियाँ, तार उलझे !
मुझे मिले ये स्वर अरुझाने वाले वीणकार सुलझे !!
टेढ़ी - मेढ़ी लचक - लचीली मिजराबें ढीली - ढाली;
कुटिल अँगुलियों में छायी है जटिल शिथिलता मतवाली।
क्या वीणा, क्या वीणकार क्या गेय राग, क्या गीत बना !
क्यों बन गया कठोर उपल-सा स्वर-विधान नवनीत मना ?

ज़रा ठहर, मत छेड़, अरे, ओ वीणकार ! रुक जा, रुक जा।
मेरी टूटी वीणा पर, रे, तू यों मत झुक जा, रुक जा।
वादन-साधन की निःसाधन-जनित कठिनता देख ज़रा;
कैसे, अरे, गुँजा पायेगा तू नव स्वर - लहरी अपरा ?
गमक, मूर्च्छना, मींड़, गूँज, ध्वनि विन्यासों का लोप यहाँ।
मेरे टूटे दारु खण्ड पर है विधना का है कोप यहाँ।

रहने भी दे, अरे हठीले, मत कम्पित कर स्वर लहरी;
अरे तोड़ मत, सोती हुई साध की यह निद्रा गहरी;
स्वर-झंकृति की स्मृति-संस्कृति से वह सहसा उठ आयेगी;
पलक-सम्पुटी में न जाने क्या-क्या वह भर लायेगी !
हिय की साध नशीली पगली स्वर माधुरी प्रवीण बड़ी,
वीणकार, उसको न जगा; मत छेड़ तार तू घड़ी-घड़ी !

रेल-पथ : कानपुर से चिरगाँव
२८ जून, १९३१

■

प्रज्वलित-वह्नि

बह चली, आह, कैसी बयार !
खोला अतीत का जटिल द्वार !

जीवन - वन की वृक्षावलियाँ,
विस्मृत पथ की सँकरी गलियाँ,
अति व्यथित हास्य की नव-कलियाँ,
तिमिर - ग्रस्ता पर्णावलियाँ,
कर रही अनोखा आज प्यार !

बीते दिवसों का अन्धकार,
घेरे था जिसका क्षुद्र द्वार,
उस हृदय - कूप का नीर क्षार,
कम्पित होता है बार - बार !
लेवे कोई इसको उबार !

मन - मन्दिर की उस सीढ़ी पर,
कल्पना, भावनाएँ चढ़कर,
देती थी विमल अर्घ्य सत्वर,
जिस मूक भाव के पत्थर पर,
उससे निकली ये बूँद चार !

सिंहासन पर थी जमी धूल,
पर, कहीं न दीखा वह दुकूल,
जो बाँधे लाता चार फूल,
पोंछता सुआसन फूल - फूल !
हाँ, अब आयाक्षालन विचार !

रवि - किरणों की सुन्दर जाली,
खग्रास – ग्रहण – आभा काली,
दोनों उलझी थीं मतवाली,
जीवन - पथ प्रकाश से ख़ाली
था, फिर आयीं, किरणें अपार !

सुन्दरता के झकझोरों में,
वासन्ती के कल भौंरों में,
श्रावण के प्यार हिंडोरों में,
दुःख की रोटी के कोरों में,
मिल गया आज फिर से दुलार !

पागल की बहकी बातें हैं,
योगी को ये भ्रम राते हैं,
तुम रोते हो, हम गाते हैं,
टूटे स्वर में सुख पाते हैं,
दुख ही में पाया सुख-प्रसार !

ये पंख उड़ाते हैं मन को,
मैं क्या हूँ ? क्या जानूँ तन को ?
उन्मत्त शराबी इस छन को,
पा गया, अहो, जीवन - धन को,
फिर-फिर स्मृति की अति ही अपार !

बैठी है पत्ती - पत्ती में,
पूजार्ति दीप की बत्ती में,
अर्पित तण्डुल की रत्ती में,
वेदो - मसीह की 'मत्ती' में,
बैठी है मेरी सुमनुहार !

मेरी निकुंज की गलियों में,
आता वह घृत ले पलियों में;
धरता है दीवे अलियों में,
गणना है उसकी छलियों में,
स्मृति-दीपक बुझता बार - बार !!

कुछ देर जले यह दिया और,
गूँथूँ माला का एक छोर,
विस्मृति की आँधी, कर न शोर,
चंचलते, बहकाओ न मोर,
मेरे मन का गाकर मलार !

किसको आराधूँ ? चलूँ कहाँ ?
किसकी मुरली को सुनूँ कहाँ ?
किसका अधरामृत पियूँ कहाँ ?
किस अग्नि-लोक में जियूँ कहाँ ?
जिससे छूटे बन्धन विचार !

वेदने, सुनो मेरी वाणी,
हृत्खण्ड जलाओ कल्याणी,
तुम जिस प्रदेश की हो रानी,
कर दो वह भस्म, न दो पानी,
तब निकले शोले तीन चार !

इस हृदय - यज्ञ का धूम्रयान,
लेकर आवेगा मूर्तिमान !
मेरी आहों का अश्रुदान !
स्मृति - रत्नों से भूषित महान् !
उस झाँकी पर होऊँ निसार !

गत आनन्दों के अश्रु-क्षीण !
आगत दुःख के अनुभव प्रवीण !
अव्यक्त - भावना भरी बीन !
यों हाथ जोड़ कहता 'नवीन' ! –

प्रज्वलित वह्नि सुलगे अपार,–
हृत्खण्ड करे फिर जल-विहार;
निकले सोते उनसे - अपार ! –
बह चले, अहो, ऐसी बयार !!

■

सूखे - आँसू

क्यों कलेजे की तड़प धीमी पड़ी,–
आज दिल सुनसान-सा क्यों हो गया ?
आँख के अव्यक्त भावों की लड़ी,–
तोड़ दी किसने ? – कहाँ धन खो गया ?

इस विषमता की सरलता सूखकर,–
किस सरोवर में तिरोहित हो गयी।
इस विपिन की वह कुहुकिनी कूककर,–
किस निनादित वेणु - वन में सो गयी ?

सिसकने में ही मज़ा मिलता रहा,–
कसक की उस वेदना की चाह से–
हम विपन्नों का कमल खिलता रहा,
दर्द को दिल से लगाया चाह से !

हाय ! पर वह दर्द मेरा क्या हुआ ?
किस निठुर ने हाय ! पट्टी बाँध दी ?
लोल-लोचन-बिन्दु, तुम अब हो कहाँ, ?
सूखता है यह विटप, – लो, देख लो !!

नारी

सृष्टि - मन्थन की पुरानी तुम पहेली गूढ़,
गहन सम्भ्रम - ग्रन्थि तुम, तुम ज्ञान-गति दिङ्‌मूढ़ :
तुम भ्रमित, अति थकित-विचलित, चकित भाव-समूह,
सुलझ फिर - फिर उलझती तुम प्रश्न-वृत्ति दुरूह !
तुम पिपासाऽकुल जगत् की प्यास-आशा, नारि,
एक घूँट अपूर्ण तुम मृग तृष्णिका सुकुमारि !

तुम सृजन-मन्थन-जनित विगलित विमल नवनीत,
चलित प्रजनन-चक्र की, तुम स्निग्ध बूँद अतीत !
तुम जगत् नीरस मरुस्थल के बरसते मेह,
तुम तडित् विद्युच्छटा तुम सरसता के गेह !
तुम विराग - विकार में अनुरागिनी मनुहार !
रार तुम, अविचार तुम, तुम प्यार - अत्याचार !

तुम समस्या अटपटी तुम चिर - रहस्य महान्,
तुम दरस की चटपटी उत्कण्ठिता अनजान !
निपट आँख मिचौनियों की तुम झलक अम्लान,
विगत युग-युग की चिरन्तन तुम कसक मुसकान,
हृदय - मन्थन कारिणी तुम मोहमय उन्माद,
कल्पना की कोकिला तुम रुचिर भाव प्रमाद !

खूब बन आयी सलौनी तुम ठसक ठकुरास,
मत्त गज-गति में छिपा आलस्य का आभास।
विहँस, डाला है जगत् के ग्रीव में गुणबन्ध,
नयन - कलिका में भरी है अमित मादक गन्ध,
ओ जगत् की स्वामिनी, मायाविनी, तुम धन्य !
तुम प्रकृति के मुकुट का प्रतिबिम्ब रूप अनन्य !

■

प्यास

अरे बुझा दो, ज़रा बुझा दो, यह अन्तर की प्यास, सखे,
किसी तरह तो हो जाने दो इस तृष्णा का नास, सखे,
चिटक रही है रोम-रोम में चरम पिपासा - आर्त्ति यहाँ,
विकल प्राण ये मुरझ गये हैं, मुरझी जीवन - आस, सखे;

प्यासी ? नहीं, यह असफलता का, है भीषण उपहास, सखे,
कौन जतन से आज दबाऊँ यह मादक उल्लास, सखे ?
जब से शुरू हुआ है तब से, थमा नहीं है छिन-भर भी,—
होता ही रहता है निशि दिन मेरा शोणित-रास सखे;

यह विकास की व्यथा रूपिणी अमिट प्यास लग रही मुझे,
यह मेरी युग-युग की बैरिन निपट आस ठग रही मुझे ?
आँखों के खप्पर में पानी भरा हुआ है फिर भी तो—
ऐसी है यह प्यास भयानक, कि यह बुझाये नहीं बुझे !

हरदम यही लगा रहता है कि बस गटक जाऊँ घूँटें,
यही चाहता हूँ कि रात - दिन अपने राम सुरस लूटें;
जागृति में तो तृष्णा है ही, पर मैं तो सपने में भी—
तड़पा करता हूँ; बोलो तो, कैसे ये बन्धन टूटें ?

निग्रह के विग्रह की विपदा, संयम के भ्रम की दुविधा;
सहन कर चुका हूँ यह सब भी, पर, न हुई कुछ भी सुविधा;
विकट व्रतों से प्रबल इन्द्रियाँ, और प्रमन्थनशील हुईं;
यम - नियमों के उपचारों से हुई न हिय की प्यास बिदा;

मन ललचा उठता है लख-लख रस से भरे नये घट को,
प्राण तड़प उठते हैं लखकर घट पर ढँके हुए पट को,
अधरों को उत्पीड़ित करती पिपासार्त्ति आ जाती है,
समझावे ? कैसे समझावे कोई इस मन - मर्कट को;

कौन कह रहा है कि बँधा हूँ मैं अपनी सुतली से ?
ज्ञानी, कर न अनादृत जीवन यों निज भाषा तुतली से,
बन्धन के खण्डन की बातें, बड़ी अधूरी हैं, ज्ञानी,
कहीं ज़रा भी बस चलता है प्यासे दृग की पुतली से ?

प्राण अटक जाते हैं यों ही इस तृष्णा के फन्दे में,
कि झट तोड़ दूँ बन्धन इतनी ताव कहाँ है वन्दे में ?
कभी-कभी तो यह सोचूँ हूँ कि हैं यम-नियम व्यर्थ निरे,
ना जानें क्या धरा हुआ है इस सब गोरख-धन्धे में ?

यह न सोचना, यार, कि मैं हूँ यों ही निरा निठल्ला-सा,
ज्ञानी, मम अन्तस्तल में भी, लगता है इक टल्ला-सा,
अपने चढ़ने को मैंने भी कुछ सोपान बनाये थे,
ढेर हो गये वे सब, हिय में जब उट्ठा हो-हल्ला-सा;

मैं हूँ दो पैरों का प्राणी, मैं प्यासा, मैं दीवाना,
मैं धरती पर चलने वाला, मैं आशिक़, मैं मस्ताना,
मुझे क्या पड़ी है कि रोक दूँ मैं अपनी यह प्यास वृथा ?
मृग-तृष्णा ही तो यौवन है; जीवन है : प्यासे जाना;

संयम की असफलता का हूँ एक पुंज मैं, रे ज्ञानी,
निग्रह की व्यर्थता-कथा का, एक सर्ग हूँ मैं मानी,
संयम की, उच्छृङ्खलता की, मैं हूँ एक पहेली, रे,
मैं मानव हूँ, देव नहीं हूँ, सुन ले ज्ञानी अज्ञानी;

मैं मानवता की कमज़ोरी, मैं मानव की शहज़ोरी,
शद-शत सहस्राब्दियों की हूँ मैं गुण-बन्धन की डोरी,
अब सहसा अतिनिर्गुणता की आशा तुम क्यों करते हो ?
मैं सेन्द्रिय हूँ ; सुनो, नहीं मैं निपट निरिन्द्रयता कोरी ।

फिर भी 'प्यास बुझा दो', यों मैं कह उठता हूँ हो व्याकुल,
अमित वेदना जब तड़पाती मेरी सुघड़ साध मंजुल,
किन्तु पूर्ति का प्यासा हूँ मैं, नाशेच्छुक हूँ नहीं ज़रा
प्यास लगे तो सही किन्तु हाँ बह आवे रस भी ढुल-ढुल !

रेल पथ : आगरा से कानपुर
१८ दिसम्बर, १९३४

■

तव मृदु मुसकान, प्राण

शीतभीरु सुमन सदृश तव मृदु मुसकान, प्राण,
जिससे उठ रही अमित, मन्द-मन्द, मधुर घ्राण ।

फुल्ल-प्रियक सम लहरी तव कुसुमित साड़ी नव,
रम्य हेम पुष्पक सम निखरा तव छबि-वैभव,
बकुल सुमन-राशि सदृश, सौकुमार्य, प्रियतम, तव,
फैल रहा तव सौरभ पारिजात के समान,
शीतभीरु सुमन सदृश, तव मृदु मुसकान, प्राण ।

लोल लचकमय कम्पित तव शरीर-लतिका यह,—
मृदु मंजुल वंजुल सम सिहर रही है रह-रह,
यूथिका प्रसून झरें तव वचनों से अहरह,
बने सुमन रूप आज तुम मेरे प्रिय सुजान,
शीतभीरु कुसुम सदृश तव मृदु मुसकान, प्राण ।

मैं शत-शत सुमन-राशि वारूँ, प्रियतम, तुम पर,
न्योछावर है तुम पर मृदुल भाव हे हियहर,
नयनों पर वलि होने आये खंजन नभचर,
नीलोत्पल दल सकुचे निरख ललित भ्रू-कमान,
निरुपम है, चिर निरुपम तव मृदु मुसकान, प्राण ।

■

शरद-निशा

आज यह शरद-निशा बरसे, शर्वरी में मधुरस सरसे ।
आज यह शरद - निशा बरसे !

बहा रुदन गायन यह छन-छन मगन गगन सरसे
चुई पड़ रही मधुमय पीड़ा सकल चराचर से ।
आज यह शरद - निशा बरसे !

दरद-परस की सरस चाट चू रही कलाधर से,
हँस-हँस कसक दान देते हैं, निशिपति अम्बर से ।
आज यह शरद-निशा बरसे !

पिय के दरस बिना कारागृह में लोचन तरसे,
परस कहाँ हम तो हैं बहुत दूर उनके घर से
आज यह शरद-निशा बरसे !

विलसित दिङ्मण्डल हुलसा नभ शशि मृदुकर - से,
मेरे कारा के पादप भी हुए उजागर - से
आज यह शरद - निशा बरसे !

मन्मथ फलस्वरूप आये तुम शशि - रत्नाकर से,
तुम न मथो हिय निकलेगा प्रतियोगी अन्तर से,
आज यह शरद - निशा बरसे !

■

आज हुलसे प्राण !

ओ निठुर तुमने दिया यह नेह का वरदान ?
हुलसे आज आकुल प्राण !

उन मृदुल प्रियतम चरण पर,–
अश्रु-भीने युग नयन धर–
हो गया कृतकृत्य जीवन–
थामकर हिय आह क्षण - भर,
एक त्रुटि वह युग बनी, युग बन गया क्षण मान,
पीतम आज हुलसे प्राण !

सुघड़ साँचे में ढले हो,
प्राण ! तुम कितने भले हो,
चिर निराश्रित विकल हिय को,
यों सहारा दे चले हो !
सिहर उट्ठा यह पड़ा था, जो निरा म्रियमाण !
पीतम आज हुलसे प्राण !

विकट मेरी दूर मंज़िल,
राह बन्धुर, निपट पंकिल,
है सहारा अगम मग में
तव चरण नख ज्योति झिल - मिल,
मिल गयी यौवन निशा में ज्योतिमय मुसकान,
पीतम आज हुलसे प्राण !

पार करना है मुझे प्रिय,
गहन गह्वर शिखर सेन्द्रिय,
क्यों अभी से पूछते हो,–
कि कब होऊँगा अतीन्द्रिय ?
घोर विपयासक्तिमय है, अनासक्ति विधान।
पीतम आज हुलसे प्राण !

तुम सरद शुचि कमल लोचन,
तुम सकल संकट विमोचन,
आज कर दो इस विधुर के,
आज कुंकुम विलक रोचन,
दो पराजित के विजय का चिह्न हे रसखान !
पीतम आज हुलसे प्राण !

आ गये तुम यों झिझकते,–
विरत जीवन में हिचकते,
अब बने रहना सदा यों,
हैं दिवस बीते सिसकते,
दीन की कुटिया करेगी कौन-सा सन्मान ?
पीतम आज हुलसे प्राण !

शाक्त मैं तुम शक्ति मेरी,
भक्त मैं तुम भक्ति मेरी,
नेहयोगी मैं, सजन – तुम,
प्रेममय अनुरक्ति मेरी,
गीत कर्ता मैं बने तुम मन प्रफुल्लित गान !
पीतम आज हुलसे प्राण !

तुम अभयमय गान मेरे,
विश्व विप्लव धान मेरे,
क्रान्ति - दर्शी मैं, सजन तुम,
क्रान्तिमय भगवान् मेरे !
क्रान्तिमय विश्रान्तिमय तुम शान्तिभूय सुजान !
पीतम आज हुलसे प्राण !

बाँध लो पीरस्थ रसरी में
सजन इस थकित जन को,
शिथिल बाँहों को बना लो,
ग्रीवमाल एक क्षण को,
एक क्षण वह दो चुनौती, दे,
युगान्तर के सृजन को
अवधिहीन अशेष में हो शेष का अवसान !
पीतम आज तुमसे प्राण !

■

स्वागत

प्रश्न : क्या गुनगुना रहे हो, कवि, ?

उत्तर : जीवन की टूटी तान।
विस्मृत-घटिकाओं के सपने का मीठा-सा गान,
आज गुनगुनाता हूँ अपने गत जीवन का राग,
याद नहीं पड़ते भूले स्वर, मिटे पुराने दाग।

प्रश्न : मिट जाने दो विस्मृत-स्वर की वह धुँधली-सी रेख,
क्या करते हो याद विगत रत जीवन का अविवेक ?
अहो हो गया बहुत, भूल जाओगे सारे खेल,
बचे-खुचे जीवन को अब क्यों करते हो बेमेल ?

उत्तर : अरे, विराग सिखाने वाले, इधर ज़रा तू देख,
कुछ क्षण को तू यहीं छोड़ दे अपना ज्ञान विवेक।
देख उमड़ आये हैं मेघा, सन सन बहे बयार;
भीनी माटी की सुगन्ध करने आयी है प्यार,
बूँदें शीतलता लायी हैं, अपने संग बटोर,
जड़ चेतन हुलसे हैं, नाच रहे जंगल में मोर,
ऐसे समय, बता दे, क्यों न जगाऊँ विस्मृत-राग ?
अरसिक, मुझे सिखाने आया कैसे आज विराग ?
अरे, कसक हिय में, स्वर की संस्मृति हुई विलीन,
याद कर रहा हूँ विस्मृत-स्वर इसीलिए मैं दीन।

प्रश्न : व्यर्थ गुन गुनाओगे अपनी वह टूटी - सी तान ?

उत्तर : इसीलिए न, कि मेरे प्रिय को नहीं स्वरों का ध्यान,
इससे क्या होता है ? रहे गनीमत मेरा राग,
जाकर, रो दूँगा, – जागेंगे मेरे फूटे भाग;
गायन उनको नहीं सुहाता, उन्हें रुदन से प्रेम,
मेरे प्रिय की यह है एक अदा – यह उनका नेम।
उनके आँगन में रहती रोनेवालों की भीड़,
मैं भी उसमें मिल जाऊँगा हो करके गत पीड़।

प्रश्न : तो फिर, सीधे-सीधे रोते हो क्यों नहीं अधीर ?
गाने का आयोजन क्यों करते हो हिय को चीर ?

उत्तर : हे अज्ञानी पृच्छक, तुम क्या जानो यह सब बात ?
तुम्हें क्या पता गायन का कैसा होता प्रतिघात ?

रुदन - व्यथित से हृदय देश का हू-हू हा-हाकार,
—यह—है मानों स्वर के चरम हृदय-मन्थन का सार।
इसीलिए मैं पहले गाकर रोता हूँ—और,
हिचकी ले, हिय में दुलराता हूँ अपना चित चोर।

मेरे गृह में गीत, रुदन, का करता है अभिषेक,
मेरे शब्द कोष में रुदन और गायन हैं एक!

■

घुन

लगा है जीवन में घुन एक
या कि विरह की रुदन-वेदना की है यह अतिरेक?

हुआ खोखला हिय का दाना
घटा भाव का मूल्य पुराना
किस काँटे में तौलूँ इसको
किससे कहूँ कि लेने आना
सभी आनकर ठुकराते जाते हैं इसको देख।
लगा है जीवन में घुन एक!

बहुत नहीं बीते हैं कुछ दिन
रहा क्लेश का लेश कदापि न
अब तो ना जानूँ यह क्या है,
रह-रह टीस उठे है छिन-छिन
दिन गिन-गिन बिनती की पर ना मिली दरस की रेख।
लगा है जीवन में घुन एक!

हे घुन, चुन-चुन कर तू खाना
इस अस्तित्व - शून्य का दाना
होवे नाश, न रहने पाये–
अक्षत-हिय का भरा ख़ज़ाना
बस आवरण मात्र रह जाये इतना रहे विवेक।
अरे सुन, जीवन के घुन एक !

जीवन को कर रन्ध्र - पूर्ण तू
कर निर्दयता - भाव दूर न तू
दया-मया को दिये तिलांजलि
मन का कण कर चूर्ण-चूर्ण तू
निर्दय-सा, निर्मम-सा निष्ठुर तू अपने को लेख।
अरे ओ जीवन के घुन एक !

■

फागुन

अरे ओ निरगुन फागुन मास !
मेरे कारागृह के शून्य अजिर में मत कर वास।

अरे ओ निरगुन फागुन मास।
यहाँ राग, रस, रंग कहाँ है ?
झाँझन, मदिर मृदंग कहाँ है ?
अरे चतुर्दिक् फैल रही यह
मौत भावना जहाँ तहाँ है–
इस कुदेश में मत आ तू रसवश हँसता सोल्लास;
अरे ओ भोले फागुन मास !

कोल्हू में जीवन के कण-कण—
तेल-तेल हो जाते क्षण-क्षण।
प्रतिदिन चक्की के घर्म्मर में ?
पिस जाता गायन का निक्वण।
फाग सुहाग भरी होली का यहाँ कहाँ रसरास ?
अरे ओ मुखरित फागुन मास !

रामबाँस की कठिन गाँस में
मूँज बान की प्रखर फाँस में;
अटकी हैं जीवन की घड़ियाँ;
यहाँ परिश्रम रुद्ध साँस में।
यहाँ न फैला तू वह अपना लाल गुलाल विलास;
अरे अरुणारे फागुन मास !

छायी ज़ंजीरों की झन-झन;
डण्डा-बेड़ी की यह घन-घन;
गर्रे का अर्राटा फैला;
यहाँ कहाँ पनघट की खन-खन ?
कैसे तुझको यहाँ मिलेगा होली का आभास।
अरे हुरिहारे फागुन मास !

वह निर्बन्ध भावना ही की
चपल तरंगे अपने जी की—
इन तालों जंगलों के भीतर—
घुट-घुट सतत हो गयी फीकी।
अब तू क्यों मदमाता ताण्डव करता रे सायास।
अरे मतवाले फागुन मास !

■

साक़ी !

साक़ी ! मन-घन-गन घिर आये, उमड़ी श्याम मेघ-माला;
अब कैसा विलम्ब ? तू भी भर-भर ला गहरी गुल्लाला।

तन के रोम-रोम पुलकित हों,
लोचन दोनों अरुण-चकित हों,
नस-नस नव झंकार कर उठे
हृदय विकम्पित हो हुलसित हो
कब से तड़प रहे हैं – ख़ाली पड़ा हमारा यह प्याला ?
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी भर - भर ला अंगूरी हाला !

और ? और ? मत पूछ, दिये जा,
मुँह माँगे वरदान लिये जा,
तू बस इतना ही कह – साक़ी, –
और पिये जा ! और पिये जा !!
हम अलमस्त देखने आये हैं तेरी यह मधु-शाला;
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी, भर - भर ला अंगूरी हाला।

बड़े विकट हम पीने वाले,
तेरे गृह आये मतवाले,
इसमें क्या संकोच ? लाज क्या ?
भर-भर ला प्याले पर प्याले
हमसे बेढब प्यासों से पड़ गया आज तेरा पाला;
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी, भर - भर ला अंगूरी हाला।

हो जाने दे ग़र्क़ नशे में,
मत आने दे फ़र्क़ नशे में;
ज्ञान - ध्यान - पूजा - पोथी के –
फट जाने दे वर्क नशे में।
ऐसी पिला कि विश्व हो उठे एक बार तो मतवाला।
साक़ी, अब कैसा विलम्ब ? भर - भर ला अंगूरी हाला।

तू फैला दे मादक परिमल,
जग में उठे मदिर-रस छल-छल,
अतल-वितल-चल-अचल-जगत् में –
मदिरा झलक उठे झल-झल-झल,
कल-कल छल-छल करती बोतल से उमड़े मदिरा बाला,
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी, भर - भर ला अंगूरी हाला।

×

कूज़े-दो कूज़े में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं;
बार - बार 'ला-ला !' कहने का समय नहीं, अभ्यास नहीं !

अरे बहा दे अविरल धारा,
बूँद-बूँद का कौन सहारा ?
मन भर जाय, हिया उतरावे;
डूबे जग सारा - का - सारा।
ऐसी गहरी, ऐसी लहराती ढलवा दे गुल्लाला !
साक़ी, अब कैसा विलम्ब ? ढरका दे अंगूरी हाला !

सो जाने दो

सो जाने दो, अब न चुभाओ इस जागृति के शूल,
आँख मीचने दो, होने दो चेतनता उन्मूल।
यह संज्ञा, यह ज्ञान भाव है भोले हिय की भूल,
मुझे उढ़ा दो, आज अचेतनता का श्याम दुकूल।
आज खिल रहे मेरे आँगन घनी नींद के फूल,
सो जाने दो, मेरी इतनी विनती करो क़बूल।

यह धूमावृत दिङ्मण्डल सोया है लम्बी तान,
सखी, साँझ की बेला तरुवर भी सोये अज्ञान।
निश्चेष्टता कराने आयी आज मदिर - रस - पान,
नींद नींद, सब ओर नींद का छाया स्वप्न-वितान।
अरी साज ले लेने दो अँजलि-भर निद्रा - दान,
सो जाने दो अब न सुनाओ जागृति के गुणगान।

भीने - भीने नूपुर पहिने श्याम चदरिया ओढ़—
धीमे - धीमे निंदिया आयी चेतनता गुण तोड़;
सतत जागरण की दुखदाई कसक हुई कुछ लोप,
अब तो कृपया करो न मुझ पै भ्रू-विलास का कोप।
इस अँधियाले में मत चमकाओ बिजली की रेख,
मेरे नींद-गगन में मत छिटकाओ यह अविवेक।

झपकी लगते ही जग जाती है सपने की भ्रान्ति,
यह किंचित् विश्रान्ति बन गयी हाय हृदय की क्रान्ति।
पलक लगे, जग ने समझा सोया हूँ मैं अनजान!
पर मैं जानूँ हूँ कि नींद का कैसा है वरदान!

किसका दोष ? तुम्हारा है या मेरा ? बोलो प्राण !
अरी, नींद में भी तक तक क्यों मारो हो स्मृति-बाण ?

रेल-पथ : बनारस से कानपुर
२४ अगस्त, १९३१

■

आवृत

जीर्ण शीर्ण आवरण लपेटे बड़े जतन से, हाय,
लिये जा रहा हूँ मैं अपना भेद भरम निरुपाय;
तुम न टटोलो : इसमें क्या है ? टीस उठेगी, बाल,
होगी कसक, ज़रा होगा इस हिय का हाल बिहाल।
ढँका - मुँदा रहने दो उसको, अब न करो खिलवाड़,
भेद खुलेगा, री सजनी, कुछ तो रहने दो आड़।

रीती हँसी, अनमनी बातें, क्षीण मन्द मुसकान,–
इनके झीने पट में लिपटा एक दरद अनजान।
ख़ूब छिपाने की कोशिश में रहता हूँ दिन - रात,
फिर भी झलक दिखाई दे जाती सहसा अज्ञात;
कभी हँसी में, कभी ख़ुशी में, कभी बात के बीच–
आह निगोड़ी व्यथा-कथा को ले आती है खींच।

यूँ तो अभी समझते कोई कुछ, कोई कुछ, बात;
सजनी मेरे सम्भ्रम की है कथा अभी अज्ञात;
छेड़-छाड़ कर तुम न उजागर करो उसे चहुँ ओर,
विश्व - व्यापिनी हो जायेगी मेरी मृदुल मरोर;
यों ही लोग कहा करते हैं : पागल बड़ा 'नवीन',
फिर तो हम + तुम + यह जग मिलकर होंगे पागल = तीन!

■

विश्व-व्यापी

मेरे पत्ते-पत्ते में बैठी है कौन ?
पर्वत की रोमावलियाँ ये हैं क्यों मौन ?

किया इशारा नाच उठीं रोमावलियाँ,
ज़रा निहारा काँप उठीं मन-मालिनियाँ।
नदियाँ बहने लगीं हृदय पत्थर पिघला,
बड़ी बुरी हैं हाय ! प्यार की ये गलियाँ।
मैं पूछूँ–मेरे पत्ते मैं बैठी कौन ?
पर्वत की रोमावलियाँ ये हैं क्यों मौन ?

क्या देखा ? सब कुछ देखा,–स्वीकार किया,
भूधर का अपने नेत्रों पर भार लिया,
शिला-खण्ड देखे नंगों का रूप लखा,–
वृक्षावृत–शिखरों पर मन को वार दिया।
पर इन सबमें छिपकर वह बैठी है कौन ?
पर्वत की रोमावलियाँ ये हैं क्यों मौन ?

प्रकृति निरीक्षण के लायक, यह मन न रहा,
उस कृत्रिम मूरत से कुछ जाता न कहा।
जहाँ उठायी आँख उसे पहले देखा,
विरह-वेदना का विचित्र व्याघात सहा !
वह हँसती, निष्ठुर-सी, लज्जित-सी है कौन ?
जिसके कारण प्रकृति नटी बन बैठी मौन ?

वन की बीहड़ता की जो मैं शरण गया,
तो देखा आया मेरा यह मरण नया।
ठेला उसके, चरणों से अपने को दूर,
पर मन में वह चरणों का आभरण गया।
इधर-उधर छायी है वह लज्जित-सी मौन ?
लता-पत्र से झाँक रही वह देखो कौन ?

लजवन्ती हो जाओ अवगुण्ठन की ओट,
निठुर पहाड़ों पर आ-आ कर करो न चोट।
घोंट-घोंट कर है मन का संहार किया,
छुप जाओ, वरना हो जायेगा विस्फोट !
नेह सुघट छलकेगा सुन ओ मूरत मौन ?
हँस-हँस लोग कहेंगे यह है पागल कौन ?

■

तुम्हारा पनघट

एक वार अपने पनघट पे–
चढ़ आने दो, चढ़ आने दो,
इसी वहाने मेरे जीवन–
का बुख़ार कुछ कढ़ जाने दो।
इस पनघट की गागरियों की–
खन-खन सुनकर खिंच आया हूँ,
अतल नीर का मर्म समझने–
को यह उत्सुक घट लाया हूँ।

ज़रा विकम्पित पाँव थाम दो,
मेरे मालिक, फिसल रहा हूँ,
निर्मल शीतल जल लेने को
आज अचानक इधर बहा हूँ।

देश - देश के सुरस छबीले,
पनघट से भर नीर ले गये,
अपनी फुलवारी को सींचा,
जग को मधुरा पीर दे गये।

कैसे - कैसे पुष्प खिले हैं–
कि सब विश्व का प्रांगण फूला,
दुखित हृदय का क्रन्दन–
उनको देख, आप अपने को भूला।

हे उदार दानी, इस पनघट के–
मधु रस का पान कराओ,
मेरे सूखे घट को अब तो
ज़रा देर को स-रस बनाओ।

ख़ाली घड़ा बिचारा, गरुए–
बोल बोलता रहा सदा यह;
अब की इसका गला फँसा है,
रख लो लाज बाँह मेरी गह।

मुझे न कहना – अरे ठहर जा,
बड़े - बड़े हैं यहाँ परीक्षक;
मैं भी तो बरसों का मारा–
हूँ छोटा - सा एक प्रतीक्षक।

पनघट से मधु भर लेने दो,
मेरी विनय सुनो शुचिशोधक,
अपनी प्यारी हठ को मेरे मग की–
करो न तुम प्रतिरोधक।

सूखा - रूखा घड़ा बिचारा–
ऐंठी हुई रज्जु यह दुर्बल–
आस लगाये बहुत समय से,
ये दोनों अकुलाते पल - पल।

मंजु घाट पर, तुम शिव-सुन्दर,
नव रस जीवन लुटा रहे हो,
बड़े-बड़े विख्यात कविगणों–
की भीड़ों को जुटा रहे हो।

मुझको भी घट भर लेने दो,
इस पथ पे प्रभु बढ़ आने दो,
एक बार अपने पनघट पे–
चढ़ आने दो, चढ़ आने दो!

■

जाह्नवी के प्रति!

गंगे, क्यों उमड़ी जाती हो?
निशिदिन किस अश्रुत गायन की कौन कड़ी गाती हो?

इस नैराश्य दीप के झिल-मिल प्रकाश में आज,
सुरझी है जीवन-प्रहेलिका, तुम क्यों उरझाती हो?

आज निराशा बरसी अंकुर हुआ पल्लवित खूब,
तुम आशा की लय से उसको क्यों मुरझा जाती हो?

किस प्रसंग में? किस दिनान्त के किस क्षण में हो शून्य,
किन हाथों ने तुम्हें लिखा? तुम प्रथम नेह-पाती हो?

किन्तु प्रेम के पत्र रूप से मत आओ, हूँ-क्षीण !
मेरा तेल सुखाने को आ जाओ तुम बाती हो !

जल उठने दो जीवन दीपक भक् से होऊँ धन्य !
उसकी लौं लहराने दो, जैसे तुम लहराती हो ?

मेरी निष्ठुर प्रतिमा उसको देख कह उठे धन्य !
मानो भग्न दुर्ग पर फटी ध्वजा फहराती हो !!

■

प्रश्नोत्तर

प्रथम : मन ही मन लड्डू मत फोड़ो,
कुछ तो मुझे बताओ ;
क्यों बैठे हो ? अरे ज़रा तो,
हिय का हाल जताओ।
किस जादू की लकड़ी ने,
कर दिया तुम्हें दीवाना ?
बोलो तो, यह कौन खेल,
रच रक्खा है मनमाना ?
धारे मौन, डुलाकर ग्रीवा,
आज मुझे न सताओ ;
मन ही मन लड्डू मत फोड़ो,
कुछ तो ज़रा बताओ ?

द्वितीय : क्या कहते हो ?

प्रथम : यही···।

द्वितीय :·························कि मेरे,
हिय के बद्ध कपाट खुलें ?
क्या चाहते हो कि ये मेरे,
सोये सम्भ्रम हिलें - डुलें ?
कच्ची नींद उठाओगे ? टुक –
सो लेने दो ज़रा इन्हें ;
बड़े कठिन से सोते हैं वे,
मनोराज्य का रोग जिन्हें।
धीरे - धीरे बतियाओ मत,
पूछो मन की बात सखे ;
प्रश्नों के झकझोरों से,
होता हिय में आघात सखे।
मत खोलो, प्रश्नों का धक्का –
देके ये किंवार मेरे ;
तड़प उठूँगा – शोर मत करो,
आकर आज द्वार मेरे।
बार-बार करके प्रयास मैं,
बन्द कर सका हूँ इनको ;
सदा खुले रहने ही में,
आता आनन्द अहो जिनको।
विस्मृति के घन तम में आवृत,
रहने दो कुटीर मेरी ;
स्मृति - प्रकाश - रेखा से द्विगुणित,
होती आह पीर मेरी।
दया करो – अपनी पृच्छांगुलि
से, न खुजाओ व्रण मेरा ;
पट्टी बँधी हुई है अभी,
थमा है चिर-द्रवण मेरा।

टीस उठेगी विक्षत क्षत में –
यदि देखोगे घाव हरा ;
रोम-रोम से आह निकलने –
लग जायेगी ज़रा - ज़रा ।
बाण नहीं – पैने प्राणों की,
अनी चुभी अन्तस्तल में ;
मर्म-भेद की गूढ़ बात क्यों,
पूछ रहे हो पल-पल में ?

■

पत्र-व्यवहार

इधर से

यही नहीं कि हाथ कँपते हैं, हिय भी कँपता आज,
पूरन कैसे होगा पतिया-लेखन का यह काज ?
बड़े जतन से, हिम्मत करके, लिखने बैठा पत्र,
पर ना जानूँ कैसे यह हो गया आर्द्र सर्वत्र !
हिय धड़के, युग हस्त कँपें, चिट्ठी का ओर न छोर,
थोड़े में समझना बहुत तुम, हे प्राणों की डोर !

मेरे हिय की मंजूषा में नहीं रतन अनमोल,
और नहीं है वहाँ तरलता की कोई कल्लोल !
फिर भी हूँ कर रहा समर्पित श्री चरणों में आज,
इसमें क्या है ? तुम मत पूछो, तुम्हें लगेगी लाज !
टूटी सन्दूक़ची बनी यह – इसमें वंशी एक
कभी-कभी वह रो उठती है करुण-राग की रेख !

तुम हो कौन ? ज़रा बतला दो, हे मेरी सम्भ्रान्ति !
शान्ति-सरणि की धवल रेणु हो, या कि विरह की क्रान्ति !
इस चितवन ने छलनी कर डाला हिय-भाजन दीन,
बूँद-बूँद कर टपक गयी वह सुरस-राशि तल्लीन !
बिना नीर के तड़पा करता है अब यह मन-मीन,
अरे, ज़रा तो इसे उबारो आकर हे हिय-हीन !

लज्जा है कि उपेक्षा ? मुझको ज़रा बता दो, प्राण !
चरणों के नख से ही लिख दो कुछ धीरे से आन !
मेरी भग्न-कुटी, आँगन में, चरण-चिह्न को देख,
सच कहता हूँ, पुलक उठेगी, त्यागे ज्ञान-विवेक !
पर मेरे सँकरे अँगना क्यों आने लगे हुज़ूर !
फिर पद-नख से लिखने की तो बात बहुत है दूर !

पर इतनी यह मूक भावना क्यों उमड़ी इस बार,
कहाँ गया वह सजल सलोनी बातों का विस्तार !
सब जग से बोलो हो, हमसे इतनी ख़फ़गी ? हाय !
अजी, कभी तो कुछ कह दिया करो हमसे मुसकाय !
इधर-उधर आते-जाते पलकों का ढँकना खोल,
हमको तुम क्यों ना दिखलाते अपनी निधि अनमोल ?

क्या जानूँ किस घड़ी निगोड़ी आँखें अटकीं आय,
उसी पाश में बँधी फिरें हैं, ज़रा न ये शरमायँ !
तुमको क्या ? तुम तो इस गति को समझे हो खिलवाड़,
बड़ी लाज की मूरत बन, करते हो बन्द किवाड़ !
झाँकी कर लेने दो, वरना ये लोचन बेचैन,
तड़प-तड़प कर बन जायेंगे सूरदास के नैन !

उधर से

क्या कहू तुम्हें करूँ सम्बोधित ? लिखते लगती लाज,
'प्या···' लिखते ही क़लम निगोड़ी कँप जाती है आज !
एक यही अक्षर लिख-लिख कर कागद करे ख़राब,
यह लेखनी ढीठ है नेक न सहती मेरी दाब !
यह तो मचल-मचल पड़ती है, कैसे समझे ? हाय !
पत्र पड़ा लिखने को, मैं तो आज हुई निरुपाय !

सब जग मुझे दोष देता है, मैं हूँ बड़ी कठोर,
साथिन कहतीं कि मैं रुलाती हूँ अपना चित - चोर !
'ऐसा भी क्या मूक प्यार जो कभी न ले सुध, आह !'
यों चुटकी लेती हैं सखियाँ मुझको चलते राह !
मैं क्या करूँ लाज डाइन यह मुझको खाये जाय,
इधर तुम्हारा ध्यान कोंचता मुझे रुलाय - रुलाय !

भर आँखों में नीर, हिये में पीर, भिगोये चीर,
कैसे लिखूँ नेह-पाती, तुम ही बोलो मति - धीर !
बार - बार कागद पसीज उठता—मेरा क्या दोष ?
यह कुण्ठिता लेखनी निष्क्रियता में पाती तोष !
स्याही ? स्याही—वह तो सूख चुकी कब की विरहेश,
जब से तपिश हुई तब से स्याही का रहा न लेश !

आओ, आज बलैयाँ ले लूँ इस भादों के बीच,
रिम-झिम बरसो, अहो मचा दो मेरे अँगना कीच !
मैं दौड़ी आऊँ स्वागत को, फिसल पड़ूँ हरषाय,
तुम घबराये - मुसकाये - से बाँह पकड़ लो आय !
उस क्षण मेरी लोक - लाज का गढ़ हो जाये चूर्ण,
यों हो पत्र अधूरा मेरा होता जाये पूर्ण,

निम्साधना तुम्हारी दासी, बाधाएँ भरपूर,
इस पर यह न पता कि कहाँ हो तुम हो कितनी दूर ?
नाम-गाँव सब भूल गयी हूँ मैं बौरानी नार,
केवल रूप - छटा है आँखों में, हिय में, इस बार !
सिरनामा लिखवा दो आ के, ज़रा हाथ लो थाम,
ज़रा बता तो, ओ परदेसी, अपना मृदु उपनाम !

■

उन्माद !!!

ओ एक ठेस, ओ एक याद ! ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

आशाओं के तुम चूर - चूर,
तुम मस्तक के पुँछते सिंदूर !
तुम हृदय-दहन की ज्वाल क्रूर,
थिर चित्तवृत्ति से दूर - दूर,
तुम गहन सहन के दुसहस्वाद, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

तुम अरमानों के क्षार-क्षार,
तुम विकल मनोरथ की पुकार,
चिन्ताओं के तुम कठिन भार,
उद्विग्न चित्त के तुम विकार,
तुम सर्वनाश के चिर - प्रसाद, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

तुम संस्मरणों की धूम्ररेख
विस्मरणों के तुम गत विवेक;
सम्भ्रम प्रेरित हृदयानुलेख,
तुम गत गायन की विगत टेक,
तुम बुद्धि - वैभवों के प्रमाद, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

मन - अम्बर के तुम ओर - ह

चिन्ता की तुम घन - घटा ह

तुम गत प्रकाश की किरण व

तुम मेरी आकुलता अ

तुम शिथिल - पराजित प्रणयवाद, ओ तुम मेरे हृदये

तुम ज्ञान - रज्जु के टूक - टूक,

तुम हिय उच्छृंखलता अचूक,

अनियन्त्रण की तुम गहन हूक,

तुम भ्रमित चित्त की भूल चूक,

तुम निज स्वरूप - विस्मृति अगाध, ओ तुम मेरे हृदयो

निष्ठुरता के तुम फल करा

अस्थिरता की अटपटी चा

तुम जागृति के सुख स्वप्नजा

तुम स्वप्न जागरण सन्धिका

तुम विकृत कल्पना - गति अबाध, ओ तुम मेरे हृदयो

तुम चिर कोमलता पदाक्रान

तुम मनःकल्पना थकित, श्रान

तुम हिय - प्रवाह - उद्गम अशान

तुम वांछा, विफल, असिद्ध, भ्रान

तुम मगन-लगन की तृषित साध, ओ तुम मेरे हृदयोन

कुचले हिय की तुम कथा शेष,

दुर्दैव - कोप के फल विशेष,

तुम सीमोल्लंघित चरम क्लेश,

तुम पुण्य प्रेम - साधना लेश,

तुम क्रिया शून्य संज्ञावसाद, ओ तुम मेरे हृदयोन

प्राणों की तुम तड़पन अजान,
तुम शून्य ध्यान, तुम शून्य ज्ञान !
तुम मन - विभ्रम - सम्भ्रम महान्,
तुम हो चिर - विस्मृत देह - भान,
तुम चिर अरण्य - रोदन - निनाद, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

तुम नयी सृष्टि के नवल प्रात,
पागल की दुनिया के प्रभात,
स्मृतिदीपशिखा - नाशक कुवात,
तुम चिर-दिनमय तुम सतत रात,
तन्मयता - युग के प्रथम पाद, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !!

आकुल की उपासना

चाहे दुःखों की ये झड़ियाँ लगें, - लगें तो खेद नहीं,
इससे इस अस्तित्व मात्र का होगा यों विच्छेद नहीं !
किन्तु अरे गोपाल, नेत्र जब बरसे तब हो यह ध्यान !
'इस अंजलि का मेरे-'मोहन' के चरणों पर हो अवसान !'

राग रंग की रम्य राजसी रचना - रज्जु रिझाने को,
जाल बिछाये तब निस्पृहता मेरी आज निभाने को,
कम्पित हो कह उठे, 'सलोने !' चने समर्पित मीठे हैं !
'किन्तु मुकुन्द ! तुम्हारी भाभी के तण्डुल से सीठे हैं !!'

चाहे यह नैराश्य अग्नि नव - जीवन तरु झुलसा देवे,
किन्तु कन्हैया मेरा हियरा यह विचार हुलसा देवे, –

इस नीरस पादप की डाली पर मैं झूला बाँधूँगा !
'उसमें अपने चित्त चोर को दुलराकर आराधूँगा !'

"बालदशा मति मुग्धे चोरित दुग्धं ब्रजांगना भवनात्,
तदुपालम्भ वचोभय विभ्रम नयने रतिर्मेऽस्त्वकस्मात् ।"
महद्भयावह कुपरिस्थिति में रसना रटे यही रति-पाठ !
माखन के लोभी, बन जाये यही मन्त्र जीवन का पाठ !!

■

दीप-माला

बहिना ! आज सँजा दो धीरे-धीरे दीप-अवलियाँ,
घनी साँझ की वेला आलोकित हों जीवन-गलियाँ !
सूखे दीप, तेल के प्यासे, भर दो पलियाँ-पलियाँ !
अंचल ओट करो, खिल जायें मृदु सन्ध्या की कलियाँ
मन्द वायु में डोल उठे ये नव-प्रकाश की डलियाँ,
बहिना, आज सँजा दो धीरे-धीरे दीप-अवलियाँ !

बड़ी जुगत से इन्हें जलाना, भोली, नन्हीं रनियाँ,
हौले-हौले चलना, बज न उठे मीठी पैंजनियाँ,
दीप - मालिका गूँथो रानी, लाख-लाख की मणियाँ,
पर बाती पे टपका मत देना, लोचन की कणियाँ !
खील, बतासे और खिलौने ले लो कनियाँ-कनियाँ,
बहिना ! आज सँजा दो, धीरे-धीरे दीप-अवलियाँ !

■

यौवन-मदिरा

भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बन्द करो,
इस मादक गुण से हे स्वामी, मुझे ज़रा निर्बन्ध करो !
मन्द करो उन्मत्त भाव के प्रति, मेरा उल्लास नया !
मेरी साँसें, कर लो अपने, श्री चरणों में तुम विजया !
आज वासना की चिनगारी,—
उड़ती फिरती मारी मारी,
कई तूल तो झुलस चुके हैं,
अब आयी जगती की बारी,
स्वामी, नैतिकता की डोरी जल जायेगी, बन्द करो,
भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बन्द करो !!

चंचल हृदय स्थल को बन जाने दो स्थिरता अनुगामी,
वरना धड़क-धड़क कर फट जायेगा यह मेरे स्वामी !
नामी कुटिलों में, किन्तु तुम्हारा ही कहलाता हूँ।
यह सच है कि कुलच्छन से मैं राउर हिय दहलाता हूँ !!
हे निर्दोष, दोष का घर हूँ
पाप पुंज का मैं आकर हूँ !
पर फिर भी प्रभु का अनुचर हूँ,
तुम सागर की मैं गागर हूँ,
इसी लिए प्रिय, घटाकाश के ये सारे फरफन्द हरो,
भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बन्द करो !!

खड़ी दूर पे लोक-लाज मुझसे कहती है सँभल ज़रा,
इधर सामने यौवन-मादकता कहती है — मचल ज़रा !

मचलूँ या कि सँभल जाऊँ, कुछ तुम्हीं कहो निष्ठुर स्वामी,
मचल चुका मैं बहुत सँभल जाने दो अब अन्तर्यामी !!

सुन लो यह आक्रोश हृदय का,
है यह हा-हाकार प्रलय का,
लय इसको प्रभु हो जाने दो,
मेटो खटका घोर अनय का।

वरना और कीच में फँस जाऊँगा फिर आनन्द करो,
यदि ऐसा ही चाहो तो प्याले देना मत बन्द करो !!

क्रन्दन से प्रशस्त जीवन पथ कौन कर सका है प्यारे ?
आत्मा ही के अभिवन्दन से होते हैं न्यारे - न्यारे !
यह सब मैं जानता ख़ूब हूँ कि ये युद्ध की घड़ियाँ हैं,
निग्रह - अग्निकुण्ड है, — कुवासनाएँ आर्द्र लकड़ियाँ हैं,

यह सब मैं जानूँ हूँ प्रियतम,
ज्ञान मुझे है विषम और सम,
पर इतनी ही सी विनती है,
ज़रा आग सुलगा दो इस दम,

मेरे अण्डाकृति जीवन में आग साम्य ब्रह्माण्ड भरो,
अब छल - छल करते मदिरा के प्याले देना बन्द करो !

जोह रहा हूँ बाट चाव से नये जनम के होने की,
देखूँ यह माटी की प्रतिमा कब करते हो सोने की,
रोने की अन्तिम घड़ियों का क्षण कब आयेगा देखूँ,
कब यह मनुवा ढीठ पुण्य-पथ पर बढ़ पायेगा देखूँ,

भँवरों में मैं फँसा हुआ हूँ,
मत्तभाव से कसा हुआ हूँ,

नदिया उमड़ रही घहराती,
कल लहरों में गँसा हुआ हूँ !
अरे किनारा वहुत दूर है, प्रिय, मेरे भुजदण्ड धरो,
भर-भर प्याले यौवन - मदिरा के देना अब बन्द करो !!

होकर चकनाचूर नशे में ऐसा भूला अपने को,
सत्य समझ वैठा हूँ मैं जीवन के कोरे सपने को,
अपनेपन को बाँधा, छलिया मन की भोली संस्मृति में,
प्यार पराया देखा मैंने, अपनी ही कल्पित कृति में,
मन का भ्रम है - या कि सत्य यह ?
पागलपन का कठिन कृत्य यह ?
मुझे उबारो करो कृपा कुछ,
थमे ज़रा कल्पना नृत्य यह,
भ्रम-विभ्रम - सम्भ्रम-बन्धन से अब तो कुछ स्वच्छन्द करो,
भर - भर प्याले यौवन - मदिरा के देना अब बन्द करो !!

रह - रह टीस उठे हैं, अंग-अंग में नव विस्फुरण मचा,
नस - नस कसक रही है तेरे मादक रस ने रंग रचा !
लचा - लचाकर जीवन टहनी, श्वास बयार डोलती है,
कभी इधर को, कभी उधर को, गति के बन्ध खोलती है !
यों ही तरु हिलता - डुलता है,
प्रकट कर रहा आकुलता है।
देखूँ जड़ता के वन्धन से –
यह पादप कब तक खुलता है !
चैतन्य, जाड्यता, जड़ता से अब इसको निर्बन्ध करो,
भर - भर प्याले यौवन - मदिरा के देना अब बन्द करो !!

जब से तुमने चखा दिया है, इस मधु का सुस्वाद नया,
तब से बेहोशी आयी, अपनी सुध-बुध भूल गया !
झूल रहा हूँ किसी अनोखे झूले में झोंटे खाके !
ज़रा थाम दो, शिथिल पड़ा हूँ इधर-उधर झोंके खाके !
प्रिय, तुम अब मत पेंग बढ़ाओ,
बहुत चढ़ चुकी, अब न चढ़ाओ,
कहीं हिंडोला टूट जायगा,
मानो कहा न और बढ़ाओ,
चढ़ा हिंडोला नभ की छाती से टकरायेगा, वन्द करो,
भर-भर प्याले यौवन - मदिरा के देना अब वन्द करो !

आँखों में छा रहा मदिर रँग, युग कपोल अतिरंजित हैं,
वचनावलियों में प्रलाप की सब क्रीड़ाएँ संचित हैं,
पीड़ाएँ मण्डित हैं, माथे की नस-नस में आज हरे,
व्रीड़ाएँ खण्डित हो गयी, खो गयी सारी लाज हरे,
सत् गुण के ढीले हैं वन्धन,
छाया तमोगुणों का क्रन्दन,
मौन हो गयी समता - कोकिल,
उजड़ा मानस कानन - नन्दन !
निरानन्द, अपने जन में तुम आज सच्चिदानन्द भरो,
भर-भर प्याले यौवन - मदिरा के देना अब वन्द करो,

प्रिय गुदगुदी हृदय में पैदा करो न सुघड़ अँगुलियों से
ऐसा खेल न खेलो मेरे हिय की नरम पँसुलियों से !
यों ही लोट - पोट हूँ, अब तुम और अधीर बनाओ ना,
दिखा-दिखा युगलांगुलियाँ अब मुझे और छनकाओ ना !

जीवन रस का मदिर त्रास यह,
मचा रहा है घोर रास यह,
सिर चक्कर खा रहा भयानक,
हुआ बुद्धि का राहु त्रास यह,
जीवन पथ में पड़ा अँधेरा अपनी ज्योति अमन्द करो,
भर-भर प्याले यौवन - मदिरा के देना अब बन्द करो !

आज अधिक गहरे में हूँ मैं तुमने तो की क्रीड़ा मात्र,
पर मेरे चहुँ ओर पड़े हैं, प्रिय, देखो ख़ाली मधुपात्र !
गात्र शिथिल हैं, पग डगमग पड़ते हैं, आँखें झपती हैं,
वचनों को उच्चारित करते, अधर रेख यह कँपती है !
फाँसा मुझको नया-नया यों,
ज़रा दिखाई नहीं दया क्यों ?
अब हँस-पूछ रहे हो निर्दय—
मधवा इतना चढ़ा गया क्यों ?
जोड़े हाथ विनय करता, मेरे हिय का निस्पन्दन, रो,
भर-भर प्याले यौवन - मदिरा के देना अब बन्द करो !!

श्री मुख से कहने जाते हो कि यह बुरी-सी आदत है,
पर, आँखों से कहते हो कि पिये जा, क्या ही आफ़त है,
लिये छलकता पात्र हाथ में मादकता को कोसो हो,
बलि जाऊँ ! – संसार क्या करे यदि तुमसे सौ दो सौ हो !!
एक रूप आफ़त के घर हो,
शोख़ बड़े हो, बड़े निडर हो,
दोष मुझे फिर क्यों देते हो ?
यदि गायन में कोर कसर हो,
ताल मात्राओंसे पूरित मेरे ढीले छन्द करो,
भर - भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बन्द करो !!

अरी ... धधक उठ !!!

अरी धधक उठ धक् धक् कर तू महानाश की भट्टी प्यारी,
बढ़ आने दे ये अपनी लपटें लप-लप करती हत्यारी,
धुँआधार अम्बर हो जावे, क्षितिज लालिमा से रंजित हो,
वसुधा की विभूतियाँ आज चिता की गोदी में संचित हो !
एक-एक क्षण में सहस्र युग के जलने की हो तैयारी
अरी, धधक उठ धक्-धक् कर तू महानाश की भट्टी प्यारी

रँगे खून से हाथ लोचनों में प्रपंच का कज्जल छाया,
मस्तिष्क में मोह मदिरा ने अपना चिर नव रंग जमाया,
हिय में घृणाभाव घुस बैठा स्नेह भावनाएँ रोती हैं,
अन्तरतर में कायरता की कुत्सित लीलाएँ होती हैं,
अरे अग्नि के पुंज, कहाँ है तेरी दहन शक्तियाँ सारी,
बढ़ आने दे अपनी लपटें लप-लप करती हत्यारी !

रोम-रोम में आग लग उठे झुलस जल उठे केशपाश यह,
त्वचा जले ऐसी कि अग्नि का पुंज दिखाई दे बस अहरह,
मज्जा की घृत आहुति से आमन्त्रित हो लपटें बढ़ आवें,
मांस-पिण्ड की, अस्थिखण्ड की भेंट चिता में, हाँ, चढ़ जावे,
यों जीवन का घृणित मोहमद शव जल जाये यह व्यभिचारी,
अरी धधक उठ, धक्-धक् कर तू महानाद की भट्टी प्यारी !!

■

थकित प्रतीक्षा

हो चली दिन की प्रतीक्षा थकित,
सन्ध्या के क्षणों में।
रह गये लोचन फटे-से, चकित,
सन्ध्या के क्षणों में।

हृदय का शोणित सुसंचित,–
परस-रस-आभास-वंचित,–
उफन फैला अश्रु मिस हो मथित
सन्ध्या के क्षणों में!

बैठ आशा के हिंडोले,–
स्मरण-वेणी-बन्ध खोले,–
भूल कर दिन-भर लगन है व्यथित,
सन्ध्या के क्षणों में।

किरण-कुंकुम-रंग-रंजित,
सुरधुनी-जल मध्य अंजित,
मेघ छिन में हुए कल्मष-जटित,
सन्ध्या के क्षणों में।

ढल चला रवि अंशुमाली,
लुट चली आकाश-लाली,
द्रुत विकृति यों हो रही है घटित,
सन्ध्या के क्षणों में।

कोट, कंगूरे, क़िले-से,–
धन-भवन सत मंज़िले-से,–

कौन निर्मित कर रहा है, असित
सन्ध्या के क्षणों में ?

त्रिपथगा कुछ कह रही यह,
अति अलस गति बह रही यह,
अश्रु माला - सी हुई है ग्रथित,
सन्ध्या के क्षणों में।

हो चली दिन की प्रतीक्षा थकित,
सन्ध्या के क्षणों में।

■

आगमन की चाह !

ललित, उत्कण्ठित; सिसकता-सा हृदय !–
नेह के आँसू-भरी आँखें चपल !–
और वृद्धा की तपी-सी गोद वह,
वाट तेरी जोहती है प्यार से,

आँसुओं को कठिनता से रोकते,–
जप रहे जो नाम तेरा ही सदा,–
वे बने उन्मत्त से जो फिर रहे,–
खिल उठेगें देख अपने ढीठ को,–

तोतली अर्ध स्फुटित वचनावली,
झिलमिलाती लाडिली-सी अँखड़ियाँ,
कौन से सुख के लिए व्याकुल खड़ी, ?
आह ! तेरे आगमन की चाह है !!!

■

जाने पर

चला-चलाकर चक्की स्वेद पोंछते जाना, ऐ प्यारे !
उन कायर असुरों की घुड़की सुन-सुन तू हँसना रे !
प्रिय, मैं कैसे कहूँ कि तू यह सब करना फिर भी हँसना,
तेरा दास, बता दे, कैसे तुझे सिखाये यह फँसना ?
तू ने अपने हाथ धरे मेरे इस कलुषित माथे पर,
लिये हुए कालापन झुक जाऊँ तव चरणों पर क्यों कर ?

'ताला, कुंजी, लालटेन, जँगला, क़ैदी, ये सब है ठीक !'
पर नौकरशाही निज सर्वनाश की खींच चुकी है लीक !
'चक्कर' से रोटी आयेगी, 'डब्बू' भर आयेगी दाल,
तू शकटार बना है—पापी नन्दवंश का जीवित काल !
तेरी चक्की के गेहूँ पिस जायेंगे, – पिस जाने दे !
विश्व पीसने वालों को तू मिट्टी में मिल जाने दे !!

■

छेड़ो न

टुक रो लेने दो ज़रा देर—क्यों छेड़ रहे हो बेर-बेर ?
आँखों का नशा उतरता है
झरना अब झर-झर झरता है,
उद्भ्रान्त भाव यह उमड़ पड़ा, आश्वासन मुझे अखरता है,
मत समझाओ तुम बेर-बेर, टुक रो लेने दो ज़रा देर ?

कर लेने दो बोझा हल्का,
बहने दो जल अन्तस्तल का,
मैं डूब-डूब उतराता हूँ, खो गया ज्ञान सब जल-थल का,
टुक रो लेने दो ज़रा देर, क्यों छेड़ रहे हो बेर-बेर ?

मैं कई बार तो गिरा पड़ा,
गिर-गिरकर फिर हो गया खड़ा,
फिर लगा हिचकियोंका झटका, टूटा धीरज का बन्ध कड़ा,
अब तो प्रवाह ने लिया घेर,-टुक रो लेने दो ज़रा देर ?

मानसदिङ्मण्डल शुभ्र गिरा,
काले मेघों से आज घिरा !
अँधियारी छायी ही-तल में, नाटक परदा आन गिरा,
सब राग-रंग हो गये ढ़ेर,-टुक रो लेने दो ज़रा देर ?

मेरी गागर में सागर है,
इन आँखों में रत्नाकर है,
लहराती हैं ये वे लहरें, जिनका सब कहीं निरादर है,
इस लिए मुझे तुम ज़रा देर,-टुक रो लेने दो सुनो टेर !

निर्झर यह आकुल-लोचन का,
है स्रवित मेघ मम रोचन का ।
बहने दो मत अवरुद्ध करो, सोता वेदना-विमोचन का,
मत पोंछो आँसू, सुनो टेर, —टुक रो लेने दो ज़रा देर ?

आयी हैं वरुनी कर सिंगार
पहनें मुक्ता का तरल हार,
फुहियाँ बरसाती इधर-उधर, कर रही आर्द्रता का प्रसार
नयनों के नूतन कण बिखेर,—टुक रो लेने दो ज़रा देर ?

भ्रूलतिकाएँ ये गुँथी हुईं,
कुछ सिकुड़ी-सी कुछ उठी हुईं,
झुक रहीं लोचनों पर ऐसे, जैसे वल्लरियाँ छुई-मुई,
लायी चिन्ताएँ घेर-घेर, टुक रो लेने दो ज़रा देर ?

लोचन की ये कनीनिकाएँ,
छिन सकुचायें छिन मुरझायें !
छिन तैर रहीं ये जल-तल ये छिन डूब रहीं दायें-बायें,
तुम क्यों छेड़ो हो बेर-बेर,—टुक रो लेने दो ज़रा देर ?

■

प्रणय-लय

कापालिक - सेव्य भूतनाथ के शरीर की
विभूति उड़ती है जहाँ कण - कण में।
चट-चट हू-हू, हा-हा करती ज्वालाएँ जहाँ,
भेद भुला देती नवजीवन - मरण में।

लक्ष-लक्ष आशाएँ, निराशाएँ लक्ष - लक्ष,
एक संग जूझे जहाँ घनघोर रण में।
बाट जोहती है स्वयं वराचिता मेरी,
वहाँ, आकाश-मण्डप तले स्मशान-प्रांगण में।

यौवन - निशाके स्वप्न का मधुर-मधुमद,
उतर गया सो कैसे जानूँ मैं अजान नैंक।
सुध-बुध विसरा के भर-भर अँजली बेहोशी में,
कर गया हूँ मधवा मैं पान नेक।

अट-पट पाँव पड़ते हैं, बात फैल गयी,
आकर सँभालो लोक-लाज के सुजान नेक,
भूल के नचो में कहीं घूम न जाऊँ उधर,
छिटकी है जहाँ चन्द्रिका-सी मुसकान नेक

गिरते, पड़ते, झूमते, झुकते ऐ नवीन,
चलो उधरी को जहाँ लय है प्रणय का।
निर्दय नियम जहाँ भस्मीभूत भाव लिये,
भस्म करते हैं अनुनय का, विनय का।

इस बेहोशी में इतना तो होश रखना कि,
पराजय ही में मज़ा आता है विजय का।
भूल मत जाना है 'नवीन' पुरातन सत्य –
'सृष्टि के विकास में छुपा है तत्त्व लय का'

■

श्रान्त

अब तो बहुत थक गये, प्राण;
इधर-उधर, नित न कुछ खोजते फिरते बहुत हुए हैरान,
अब तो बहुत थक गये, प्राण;

पाँव थके, हिय थका, जिय थका, लोचन थके, थके, अंग-अंग,
आशा थकी, प्रतीक्षा हारी, थकी कल्पना-अथक उड़ान,
हम तो बहुत थक गये, प्राण;

अन्वेषणमय अष्ट याम की परिक्रमा है श्रान्त नितान्त,
दग्मन-प्यास बढ़ी अधिकाधिक ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी थकान,
हम तो बहुत थके अब, प्राण;

नीरस, अति निष्फल, यह जीवन, हृदय-रिक्त, मन निपट अशान्त,
केवल व्यर्थ प्रयोगों में ही बीते जीवन क्षण सुनसान,
अब तो बहुत थक गये, प्राण;

गत जीवन पर डाल रहे हैं, अब हम हसरत भरी निगाह,
क्या से क्या हो जाते गर हम, यूँ से यूँ चलते अनजान,
अब तो बहुत थक गये, प्राण;

गत कृत अभ्यासों के बन्धन हुए बहुत ही हैं मजबूत,
पीतम, कठिन दीख पड़ता है इस गति से पाना निर्वाण,
अब तो बहुत थक गये, प्राण;

खेल-खेल में, तुम मन-मौजी, गर हमको दो झटका एक,
तो बस, उस झटके से ही हो जाये जीवन - कल्याण,
अब तो बहुत थक गये, प्राण;

डिस्ट्रिक्ट जेल, अलीगढ़
१७ जनवरी, १९३४

■

वह सुप्त अश्रुत राग

जग गया, हाँ, जग गया, वह सुप्त अश्रुत राग;
भर गया, हाँ, भर गया हिय में अमल अनुराग;
खुल गयी, हाँ, खुल गयी खिड़की नयन की आज;
धुल गयी, हाँ, धुल गयी संचित हृदय की लाज;
नेह – रँग भर भर खिलाड़ी नैन खेलें फाग;
जग गया, हाँ जग गया, वह सुप्त अश्रुत राग।

दे रही, धड़कन हृदय की, द्रुत ध्रुपद की ताल;
हिचकियों से उठ रही है स्वर तरंग विशाल;
आह की गम्भीरता में है मृदंग उमंग;
निठुर हाहाकार में है चंग – कारण रंग;
रंग - भंग अनंग - रति का दे गया वह दाग;
जग गया, हाँ जग गया वह सुप्त अश्रुत राग।

प्यार - पारावार में अभिसारिका-सी लीन, –
बावरी मनुहार - नौका डुल रही प्राचीन,
क्षीण,बन्धन - हीन जर्जर गलित दारु-समूह, –
पार कैसे जाय? है यह प्रश्न गूढ़ दुरूह!
स्वर-तरंगें बढ़ रहीं, है बढ़ रहा अनुराग;
जग गया, हाँ, जग गया है सुप्त अश्रुत राग।

युगल लोचन में मदिर रँग छलक उठता देख, –
निठुर, तुमने फेर ली क्यों आँख एका - एक?
सिहर देखो कनखियों से अरुण मेरे नैन;
सकुच शरमा कर कहो, कुछ 'हाँ' 'नहीं' के बैन;
भर रहा है सजनि फिर से यहाँ शुष्क तड़ाग;
जग उठा, हाँ, जग उठा है सुप्त अश्रुत राग।

मृदुल कोमल बाहु-वल्लरियाँ डुला कर, बाल, —
कठिन संकेताक्षरों को आज करो निहाल;
आज लिखवा कर तुम्हारे पूजकों में नाम, —
हृदय की तड़पन हुई है, सजनि, पूरन काम,
राग के, अनुराग के अब खुल गये हैं भाग,
जग गया, हाँ, जग गया है सुप्त अश्रुत राग।

■

भिखारी

प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी;
भर दो इसकी नयन झोलियाँ, हे मेरे मन-गगन विहारी,
प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी;
निःश्वासों के कन्धों पर लटकाये निज लोचन की झोली, —
एक-एक धड़कन के मिस यह अलख जगाता बारी-बारी;
प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी;
धड़क-धड़क निधड़क यह भटका दर-दर दरस-दान पाने को,
पर, न अभी तक भर पायी हैं इसकी ये झोलियाँ बिचारी;
प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी;
अपनी अलख-झलक झाँकी से, तुम झिल-मिल कर दो अन्तरतर,
रीते भिक्षा-पात्र हृदय के भर-भर दो हे रससंचारी;
प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी;
पीतम श्याम नयन धन, बिछुड़न के दिन से हिय मचल गया है,
तुम्हीं कहो, क्या जतन करूँ ? यह हृदय सदा का है अविचारी;
प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
२९ अगस्त, १९३३

■

निवेदन

मेरी रानी, इस विछोह के मेरे ये वन्धन खोलो,
ओ मेरी पत्थर की मूरत, श्रीमुख से कुछ तो बोलो;
मौन उपेक्षा की आहुतियाँ मम वेदी में, मत डालो,
नेह दीप कर कमलों में ले मेरे आँगन में डालो;

दिन-दिन, प्रतिदिन, प्रतिमुहूर्त्त, औ' प्रति निमेप, प्रतित्रुटि प्रतिपल,
अन्वेषण - रत मेरा जीवन बहता जाता है छल - छल,
काल बली के वर्त्तमान और भावी रूप हुए निर्वल
बढ़ती ही जाती है प्रति पल भूतकाल शृंखला प्रवल;

आओगी भविष्य में ? प्रमदे, भावी का क्या पता, कहो ?
केवल वर्त्तमान ही सत् है, आओ सत् में तनिक रहो;
है भविष्य सन्दिग्ध और यह भूत गया - वीता - सा है,
कालचक्र की अमिट विवशता का कुछ दुःख तो आज सहो;

देवि, काल - गंगा उलटी ही वहती है जगती तल पे,
इस सरिता की गति है आगे से पीछे को पल - पल पे,
सभय - नदी बहती ही आती है निर्ह्लादवती प्रवला,
कैसे तैर सकूँगा, स्वामिनि, इसको अपने ही बल पे ?

इस तटिनी का जल 'भविष्य' है, वर्त्तमान है जल - धारा,
एकत्रित जलराशि 'भूत' है, प्रेक्षक मैं हूँ बेचारा;
इस तटिनी का मूल वहाँ है जहाँ त्रिकाल शून्यमय है,
और प्रवाह क्षेत्र इसका है यह आकाश - देश सारा;

आओ, प्राण, आज हम दोनों नेह-तरी निर्माण करें,
काल-नदी तरने का अब हम कुछ तो नवल विधान करें;

आओ, प्राण, आज जीवन के कूल बैठ, हम-तुम दोनों–
उद्भव-लय-बन्धन-खण्डन कर चिरजीवन-रस-पान करें !

देवि, अनन्त समय धारा में हम-तुम आओ कुछ बह लें,
बैठ एक ही लघु तरणी में हम-तुम कुछ अपनी कह लें,
नीरसता की रजत बालुका नेह-सिक्त हम कर डालें,
आओ, ललिते, घड़ी-दो-घड़ी हम-तुम घुल-मिल कर रह लें,

इस नव नेह तरणि के प्रकरण निपट अधूरे हैं, रानी,
और इधर अल्हड़ नाविक के कौशल में है नादानी,
है निष्ठा – नौदण्ड नाव में, किन्तु, देवि, पतवार नहीं,
निज अंचल पतवार वना दो, माने विनती, कल्याणी,

भावी के इस अलख सलिल पर, वर्त्तमान की धारा में,–
नित्य भूत की ओर लुढ़कती गत जलराशि अपारा में,–
इस अनादि मय, इस अनन्त मय, समय-वारि में, ओ दयिते,
कुछ तो साथ निभा दो, कब से बैठा हूँ हिय-हारा मैं,

जीवन पथ सूना - सूना है, यह हिय भी सूना-सा है,
निर्जन है अस्तित्व विचारा, यह जिय भी सूना - सा है,
सूने मानस-दिङ्-मण्डल में चन्द्रावली सरिस प्रकटो,
प्राण, दाह इस अन्तस्तल में होता, दिन-दूना-सा है,

जनम-जनम तक याद रहेगा वह मृदु कर-संस्पर्श, प्रिये,
कहीं भुलाया जा सकता है वह रोमावलि-हर्ष, प्रिये ?
दो अंगुलियों का सुपरस वह रोम - रोम रम रहा, प्रिये,
वह न मिटेगा हिय से चाहे बीतें कितने वर्ष प्रिये;

मेरे स्मरण - विकम्पन का है यह कैसा विचित्र उपहास ?
कि वह खींच ही ले आता है इस अन्तस्तल का उच्छ्वास,

याद तुम्हारे उस श्रीमुख की क्यों नित मन्थन-शील बनी ?
क्यों यह मंजुल मुरत अटपटी हिय में भरती वीचि-विलास ?

ओ चिन्मयि, ओ नित्य मनोमयि, ओ तन्मयि मृण्मयि, बाले,
क्यों इतना यह पाश-प्रसारण ? क्यों ये वार विष-रस वाले ?
झर-झर कर लोचन के मोती, लो, सुन लो, यों कहते हैं;
मत झकझोरो हमको, हम भी बड़े नाज़ के हैं पाले;

वह कंकन की झनन-खनन-झन, मन-दिगन्त में उठी, सखी,
मेरा क्या वश ? देखो बरबस सारी सुध - बुध लूटी, सखी,
अनहद नाद सरिस रव - स्मृति वह रोम-रोम ब्रह्माण्डों में —
व्याप्त हो गयी है; अब तक भी झंकृति-संस्कृति मिट न सकी;

ध्वनि-समाधि-साधक हूँ सखि, मैं, मैं निनाद-मद-मतवाला;
स्वर निमग्नता अवगाहक मैं, मधुर स्वरों का मैं पाला,
गूँजमयी, झंकारमयी, उच्छ्वासमयी यांचा मोघा —
काँप रही है; पड़ा हुआ है जीवन-पथ यह अँधियाला;

मन है आज कि दृग् मीलित कर, कंकन की झंकार सुनूँ,
आज चूड़ियाँ खनक उठें तो स्वर-साधन-गुंजार सुनूँ;
मेरी ग्रीवा तक भुज-वल्लरियाँ यदि आज बढ़ा दो, तो, —
प्यासे श्रवणों से कंकन की प्यार भरी मनुहार सुनूँ;

किन्तु पूछता हूँ कि हृदय का मेरा यह विषाद क्या है ?
क्या केवल अतृप्ति प्रेरित ही मन का यह प्रमाद-सा है ?
यह जो मँडराता रहता है ? यह क्या है कुछ बोलो तो ?
यह कम्पन क्या है ? क्रन्दन का यह अन्तर्निनाद क्या है ?

जग कहता है : बहुत बढ़ गया है यह मनस्ताप मेरा,
सब कहते हैं : बहुत हो गया अब यह अज विलाप मेरा,

अति हो गयी : काँपती निशि के तारे भी यों बोल उठे,
सभी पूछते हैं : क्यों रे, कब होगा शमित शाप मेरा ?

शाप कहूँ इसको ? या अपने जीवन का वरदान कहूँ ?
मैं इसको अपमान कहूँ ? या यौवन का सम्मान कहूँ ?
इस विछोह को मोह कहूँ या निज पीतम की टोह कहूँ ?
प्राण-हरण कह दूँ या इसको मैं जीवन का त्राण कहूँ ?

सभी पूछते हैं : क्यों जी कवि, अनल-राग कब गाओगे ?
किन्तु पूछता हूँ मैं : हे प्रिय, मन आँगन कब छाओगे ?
आ जाओ तो आज सुना दूँ अग्नि गीत तुमको, जीवन,
ज़रा बता दो, कौन घड़ी तुम याँ से होकर जाओगे ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
मई, १९३५

■

कह लेने दो

ओ मेरे प्राणों की पुतली,
आज ज़रा कुछ कह लेने दो,
सिर्फ़ आज भर ही कहने दो
यह प्रवाह कुछ तो बहने दो,
संयम ? मेरी प्राण, ज़रा तो–
आज असंयम में बहने दो;

मौन – भार से दबे हृदय को
कुछ मुखरित सुख सह लेने दो,
आज ज़रा कुछ कह लेने दो;

तुम हो मम अस्तित्व-स्वामिनी,
मम मन-धन की स्फटिक दामिनी,
तुम मेरे कर्मठ जीवन की–
हो विश्रान्ति प्रपूर्ण यामिनी;

मेरे इन उत्सुक हाथों को
अपने युग पद गह लेने दो,
आज ज़रा कुछ कह लेने दो,

मेरे प्राणों की आकुलना,–
मेरे भावों की संकुलता–
कैसे व्यक्त करूँ ? किमि प्रकटे–
उच्छ्वासों की गहन विपुलता ?

ज़रा देर तो अपने द्वारे
मुझ जोगी को रह लेने दो ?
आज ज़रा कुछ कह लेने दो

मुझसे पूछो हो मैं क्या हूँ ?
एक मौज़िज़ा - सा बपा हूँ !
मैं तव नयनों के दर्पण में–
तव सनेह - प्रतिबिम्ब बना हूँ;

मैं आँसू बन, सोनभद्र - सा,–
बह जाऊँ तो बह लेने दो
आज ज़रा कुछ कह लेने दो;

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१४ मई, १९३५

■

सजन मेरे सो रहे हैं

सजन मेरे सो रहे हैं,
आज द्वन्द्वातीत-से वे योग-निद्रित हो रहे हैं;
सजन मेरे सो रहे हैं !

सुख शयन के भार से हैं युग दृग-च्छद अति थकित वे ,
ध्यान-वीणा-नाद में हैं रम गये लोचन चकित वे ;
नयन-तारा, पलक-काराबद्ध हैं, अतिगति चलित वे ;
श्वास-दोलाचलन में प्रिय भार तन्द्रिल ढो रहे हैं ,
सजन मेरे सो रहे हैं !

नींद में घुल-मिल गयी हैं जागरण की सब व्यथाएँ ,
स्वप्न के संकेत की हैं अटपटी-सी सब कथाएँ ;
शून्य-निद्रा-लोक-शोभा सजन जागें तो बतायें ;
इस समय तो चित्त की चिर चेतना वे खो रहे हैं ,
सजन मेरे सो रहे हैं !

सुप्ति-सरिता-धार में अस्तित्व-तरणी पड़ गयी है ,
पूर्ण-संज्ञा शून्यता के भँवर लौं वह बढ़ गयी है ;
शान्ति के पतवार की शोभा अनोखी नित नयी है ;
नाव में विश्रान्ति-जल से मुख-कमल प्रिय धो रहे हैं !
सजन मेरे सो रहे हैं !

ले चलो कुछ देर को तो शयन-अपगा-कूल तक, प्रिय,
दृग्-निमीलन मम करो अब थक गयी हैं ये पलक, प्रिय,
नित्य जागृति-वेदना से हैं शिथिल मन, बुद्धि, इन्द्रिय
आज टुक विश्रान्ति के हित युगल लोचन रो रहे हैं,
सजन मेरे सो रहे हैं !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
अगस्त, १९३६

■

ओ प्रवासी

ओ प्रवासी, घूम कर यों देखते हो कौन-सा थल ?
कौन-सी स्मृति जग उठी ? हिय में मची क्यों आज हल-चल ?
झूलता है नाम जिसका श्वास के हिण्डोल में नित,
गूँजता जो प्राण-वंशी के अबोले बोल में नित,
याद जिसकी हैं नयन-यमुना-लहर-कल्लोल में नित,
आज क्या उसका स्मरण आया तुम्हें ओ पथिक चंचल ?

कौन बैठा है तुम्हें यों याद करने, ओ प्रवासी ?
क्यों समझते हो कि तुम भी हो किसी के हिय-निवासी ?
याद है, जब खीझकर उनने तुम्हें दी थी विदा-सी ?
नेह के भूखे-पिया से तुम बने क्यों बिमुग्ध बेकल ?

क्या सजन की खिड़कियों की याद तुमको आज आयी ?
या कि उनकी झिड़कियों की याद ने स्मृति रति सतायी ?
ओ प्रवासी, चरण-गति में शिथिलता कैसी समायी ?
धीर पग धरते बढ़ो तुम पन्थ पर ओ पथिक, अविकल ।

रेल पथ : चिरगाँव से कानपुर
५ जून, १९३६

लिख विरह के गान

लिख विरह के गान, रे कवि,
खूब खिलने दे अधर पर दुख भरी मुसक्यान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

इस झड़ी में बढ़ गयी है शून्यता मम हिय विकल की,
असहनीया हो गयी हैं सतत धारें मेघ - जल की;
किन्तु कब उनने सुनी है प्रार्थना आतुर निबल की ?
तू लगा मम वेदना का आज कुछ अनुमान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

व्योम में यह ढूँढ़ता - सा फिर रहा निशि नाथ उनको,
मेघ तरियाँ गगन - सर में खोजती हैं उस निपुण को,
कवि, सदेही, सगुण कर दे तू सनेही चिर निगुण को,
शून्य में कर शब्द - वेधी मन्त्र-शर - सन्धान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

नित्य निर्गुण चित्रपट में सगुणता की रेख भरना
है यही पुरुषार्थ नर का अलख का अभिषेक करना,
अतल से कुछ खींच लाना, शून्य में साश्रय विचरना,
यदि न यह सम्भाव्य हो तो क्यों न तड़पें प्राण, रे कवि,
लिख विरह के गान !

नेह, मानस - जात मेरा, यह चला अब मूर्त्त होने
मचल उट्ठा आज है वह निज स्वरूप अमूर्त्त खोने,
तड़पता है आधिभौतिक भाव में संस्फूर्त्त होने,
आत्म रूपाधार की वह खोजता अनजान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

प्राणप्रिय के रूठने की क्यों मिली है सूचना यह ?
हो गयी क्यों आज उनकी हिय दशा यों उन्मना यह ?
नेहदानी की विरति की हो रही क्यों व्यंजना यह ?
शिथिल, दीना, पड़ गयी क्यों मम अतृप्त उड़ान, रे कवि ?
लिख विरह के गान !

तप्त प्राणों ने निरन्तर कौन-सी विपदा न झेली ?
किन्तु उलझी ही रही फिर भी अभी तक यह पहेली;
सतत अन्वेषण - क्रिया है वन गयी जोवन - सहेली;
आह ! क्या यों ही पड़े रह जायँगे अरमान, रे कवि ?
लिख विरह के गान !

आम्र - वन के सघन झुरमुट से पपीहे ने पुकारा;
'पी कहाँ ?'—मैंने तड़प कर शून्य दिङ् - मण्डल निहारा;
पी कहाँ ? प्यासे दृगों का है कहाँ दर्शन-सहारा ?
क्यों नहीं पहुँचा वहाँ तक निरत मेरा ध्यान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

आज इस धूमिल घड़ी में कौन यह सन्देश लाया :
साँझ आयी, किन्तु उनका राज-रथ अब तक न आया।
ढीठ मन यह पूछता है, क्यों उन्हें अब तक न पाया ?
क्या बताऊँ क्यों नहीं आये सजन रसखान, रे कवि ?
लिख विरह के गान !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
सितम्बर, १९३६

■

गीत

(सोरठ-देश)

आज मम हिय-अजिर में मन-भावनी क्रीड़ा करो तो,
दरस-रस-कसकनमयी तुम लगन-मधु पीड़ा भरो तो;
यह खड़ी है दरस-आशा एक कोने में लजीली,
परस-उत्कण्ठा उठी है झूमती-सी यह नशीली,
आज मिलने में कहो क्यों कर रहे हो हठ हठीली ?
मन-हरण गज-गमन-गति से चरण मन-मन्दिर धरो तो;
आज मम हिय-अजिर में
मन-भावनी क्रीड़ा करो तो;

बहुत ही लघु हूँ, परम अणु हूँ, स-सीमित, संकुचित हूँ,
विवश हूँ, गुणबद्ध हूँ, गति रुद्ध हूँ, विस्मित, विजित हूँ,
किन्तु आशा निखिल संसृति की लिये मैं चिरव्यथित हूँ,
रुचिर पूर्ण रहस्य - उद्घाटन-मयी क्रीड़ा करो तो;
आज मम हिय - अजिर में
मन-भावनो क्रीड़ा करो तो;

क्यों उलहना दे रहे हो कि यह है संकुचित आँगन,
गगन सम विस्तीर्ण कर देंगे इसे तव मृदु पदांकन,
आज सीमा ने दिया है तुम असीमित को निमन्त्रण,
ढुल पड़ो, प्रेमेश, सीमित, संकुचित व्रीड़ा हरो तो;
आज मम हिय-अजिर में
मन-भावनी क्रीड़ा करो तो;

रेल पथ : कानपुर से इलाहाबाद
१२ नवम्बर, १९३५

■

मान कैसा ?

चरण - चुम्बन - दान में अब मान कैसा ? प्राण मेरे,
झिझक कैसी ? खीझ क्यों ? यह विरति क्यों ? अभिमान मेरे;
मान मत ठानो, न तानो भृकुटियों की चाप, वल्लभ,
पहुँचने दो चरण-तल तक ये अधर मम शुष्क, निष्प्रभ;
मत हटाओ, मत हटाओ, मत हटाओ, पद-कमल अब,
कर रहे चीत्कार हैं यों प्राण ये नादान मेरे;
मान कैसा ? प्राण मेरे;

ओ सलौने, हो गया है कौन-सा अपराध भारी,
जो, चरण - आराधना यों तड़पती है यह बिचारी ?
हो गया है विश्व सूना देख कर यह हठ तुम्हारी,
कल्पना सूनी हुई है; भाव हैं सुन-सान मेरे;
मान कैसा ? प्राण मेरे;

जगत-प्रांगण एक डग में हो गया है पूर्ण सुविजित,
हुलसती है यह धरा मृदु चरण - तल के परस से नित;
तप्त, प्यासे, शुष्करज - कण हो रहे हैं सरस-से नित;
आज, फिर भी, क्या रहेंगे ये अधर म्रियमाण मेरे ?
मान कैसा ? प्राण मेरे;

बरजते हो क्यों दृगों से चरण-रत आराधना को ?
फलवती होने न दोगे क्या निरन्तर साधना को ?
निठुर, ठुकराओ न मेरी इस अदीना याचना को;
पद-परस से खिल उठेंगे निपट मुरझे गान मेरे;
मान कैसा ? प्राण मेरे,

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ मई, १९३६

कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

चलित चरणों की जगह अब, कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?
युग-युगान्तर के समाश्रय, वे अडिग, अशरण-शरण वे ?

इधर देखा, उधर झाँका, मिल गये कुछ चपल लोचन,
मैं समझ बैठा कि मुझ को मिल गये संकट-विमोचन;
किन्तु करता हूँ विगत का आज जब सिंहावलोकन,
देखता हूँ तब अनस्थिर भावना के आचरण ये;

प्राण के उच्छ्वास में मैं खींच लाया शूल कितने !
और इस निःश्वास में उड़-उड़ गये हैं फूल कितने !
दान में स्मृति-रूप-कण्टक मिल गये हैं आज इतने –
कि उन सुमनों के हुए हैं शूल ही नव संस्करण ये;

नेत्र विस्फारित किये, जल, थल, असीमाकाश में नित –
फिर रहा हूँ खोजता कुछ चीज़, मैं व्याकुल, प्रवंचित;
भाल रेखा पर हुई है चिर विफलता-छाप अंकित,
विकल अन्वेषण-सुरति को कब करेंगे पिय वरण वे ?

दीप लघु मैं, तव अलख कर से समय-नद में प्रवाहित
नित्य प्रति प्रतिकूलता के प्रबल झोंकों से प्रताड़ित;
टिमटिमाता बह रहा हूँ मैं जनम का ही निराश्रित;
दीप-सम्पुट कब बनेंगी कर-अँगुलियाँ मनहरण वे ?

कौन जाने, यह विकम्पित-दीप तुमने कब बहाया ?
क्या पता तुमने इसे फिर कब बुझाया कब जगाया ?
है पता इतना कि इसने आज तक प्रश्रय न पाया,
हैं बहाये जा रहे इसको प्रबाही उपकरण ये;

कँप रही है ज्योति, अब तो तुम इसे कर दो अनिगित
तव निवात स्थान में अब लौ लगे इसकी अशंकित;
सजन ज्योतिर्मय, करो निज पुंज में इसको सुसंचित,
थाम दो अब तो ज़रा इसके अवश-से सन्तरण ये !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
मई, १९३६

■

कुहूकी बात

चार दिन की चाँदनी थी, फिर अँधेरी रात है अब
फिर वही दिग्भ्रम, वही काली कुहू की बात है अब !

चाँदनी मेरे जगत् की भ्रान्ति की है एक माया;
रश्मि-रेखा तो अथिर है; नित्य है घन तिमिर छाया;
ज्योति छिटकी थी कभी, अब तो अँधेरा पाख आया;

रात है मेरी; सजनि, इस भाल में नवप्रात है कब ?

इस असीमाकाश में भी लहरता है तिमिर-सागर;
कौन कहता है गगन का वक्ष है अह-निशि उजागर ?
ज्योति आती है क्षणिक उद्दीप्त करने तिमिर का घर,

अन्यथा तो अन्धतम का ही यहाँ उत्पात है सब !

मैं अँधेरे देश का हूँ चिर प्रवासी, सतत चिन्तित,
हृदय विभ्रम जनित आकुल अश्रु से मम पन्थ सिंचित :
ओ प्रकाश-विकास, ओ नव रश्मि हास-विलास रंजित

मत चमकना अब, निराश्रित हूँ, शिथिल से गात हैं सब !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ मई, १९३६

बन्धनों की स्वामिनी तुम

बँध गयीं भुज-बन्धनों में, बन्धनों की स्वामिनी तुम,
नेह-रस-वश ढुल पड़ीं, मम प्राण धन चिरमानिनी तुम;

मधुर मेरे फूल, तुमको दृढ़ भुजाओं में सँभाले,–
विकल मेरे प्राण देखो झूम उट्ठे ये निराले
ऊर्ध्वश्वासोच्छ्वास ऊष्मा बह चली चिर साधना ले;
झिझकतीं मम याचना की बन गयीं अनुगामिनी तुम !
बन्धनों की स्वामिनी तुम !

मदिर विस्मृति, मदिर चिन्तन रंग छलका लोचनों से,
मम धवल पट रँग चुका तव नेह-कुंकुम-रोचनों से;
मधुर आकुलता बही यह मदिर अश्रु-विमोचनों से,
विरल अंचल तो बढ़ा दो, ओ दरद-दुख-दामिनी तुम !
बन्धनों की स्वामिनी तुम !

शून्य जीवन कुछ छिनों को हो गया था कुछ सफल-सा,
कुछ छिनों का मधुमिलन अब बन गया है स्मर विकल-सा;
और कब होगी कृपा ? याँ उठ रहा है कुछ अनल-सा,
फिर पधारो तो ज़रा, ओ स्वप्न-देश-विहारिणी तुम,
बन्धनों की स्वामिनी तुम !

वक्ष पर, सखि, शिर रखे जब तुम खड़ी थीं चुप अकेली,–
क्या न तब तुमने सुनी थी यह हृदय-धड़कन नवेली ?
लो, वही अब द्रुत ध्रुपद की ताल बन, खुल खेल खेली;
हाँ जरा तो दो सहारा ताल-गति-रति-रागिणी तुम;
बन्धनों की स्वामिनी तुम !

लगन-घन, मन-गगन छाये चिर विथा-जल-भार लेकर,
लो, उँडेले दे रहे ये नेह - संचित - सार लेकर;
कल्पना दिङ्मूल लौं फैले जलद हिय हार लेकर,
तनिक विजय प्रकाश-रेखा खींच दो, घन-दामिनी तुम,
वन्धनों की स्वामिनी तुम !

सजनि, मेरा निखिल जीवन एक प्रहरी का प्रहर है;
चिर सजगता, नित्य अन्वेषण, यही गति निरन्तर है;
भग्न आशा दुर्ग; प्रहरी की थकी-सी अव नज़र है,
दो समाश्रय अंक में वन मिलन मधुमय यामिनी तुम,
वन्धनों की स्वामिनी तुम !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
दिसम्बर, १९३५

■

वसन्त

ऐ जी 'नवीन' बोलो तो
कितने वसन्त बीते हैं ?
यों बाट जोहते कितने,
ये युग अनन्त बीते हैं ?
इस सँकड़ी पगडण्डी पे,
धक्के खाये किन-किन के ?
निज वय की कितनी ऋतुएँ
तुम बिता चुके गिन-गिन के ?

जीवन के चौराहे पे—
बैठे हैं छलिया कितने ?
तुमको ठग लिया बताओ
किसके मृदु मन्द स्मित ने ?

आती जाती रहती हैं
पतझड़ की आकुल घड़ियाँ;
उगती झरती रहती है
पत्तियाँ और पंखड़ियाँ;
निशि दिन यह पवन निगोड़ी
सन - सन बहती रहती है;
छिन - छिन टल्ला दे - दे के
अपनी कहतो रहती है,
इसको कहने दो अपनी—
दुख-सुख की कथा पुरानी;
तुम क्यों व्याकुल होते हो
ऐ जी नवीन नव ज्ञानी ?

जीवन अटपटी पहेली,
इसको बूझो सुलझाओ;
हिय की उलझी गाँसी को
मत और अधिक उलझाओ;
मत ठगे - ठगे - से घूमो
दुनिया के बाज़ारों में
याँ पत्थर के परखैया
उलझे हीरक हारों में,

हिय के ख़रीदनेवाले
वे होते कहीं-कहीं हैं,
जो विना दाम ले लें, वे–
सौदागर यहाँ नहीं हैं !

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
६ फ़रवरी, १९३१

■

संस्मरण-नोदना

ओ सन्ध्ये, ओ दूर क्षितिज में,
कुछ कुंकुम-रक्ते सन्ध्ये,
वृक्षों के मिस उद्ग्रीवित-सी,
उत्सुक आसक्ते सन्ध्ये,

श्यामा विन्ध्य - शृंखलाओं के
केश-पाश वाली सन्ध्ये,
ओ रंजिता मेघ माला के,
फुल्ल हास वाली सन्ध्ये,

मतवाली, छिन-भर उजियाली,
फिर काली-काली सन्ध्ये,
गत संस्मरण प्रणोदिनि सन्ध्ये
ओ अतीत वाली सन्ध्ये !

क्या प्रणोदना आज भरी हो,
तुम मेरे अन्तरतर में ?
क्यों सिंहावलोकिनी मतिगति,
उकसायी मन-अम्बर में ?

ओ सन्ध्ये, मेरी गत घड़ियाँ,
हैं प्रयत्न का पुंज, सखी,

स्वेद-वेदनाओं से सिंचित,
हैं मम स्मरण निकुंज, सखी,

मेरा गत पथ बड़ा विकट है,
विस्तृत है गाथा 'तब' की,

याद दिलाये क्यों जाती हो,
अये प्रफुल्ले, उस सब की ?

धूप - छाँह क्रीड़ा करती है,
मेरे जीवन के पथ में,

ज्यों-त्यों कर तै कर पाया हूँ,
इतना पथ हिय मथ-मथ मैं,

क्या ही अजब तबीयत पायी,
इस नवीन मस्ताने ने,

कि बस लुटाया सरबस बरबस,
इस कवि सिड़ी सयाने ने;

अरी धरा ही क्या है ऐसा,
मेरे उस गत जीवन में,—

जिसे देखने को कहती हो,
सन्ध्ये, इस नीरव क्षण में ?

ओ संस्मृति–प्रणोदिके, है उन,
संस्मरणों का बोझ बड़ा,

कैसे वहन करूँ उसको इन,
सान्ध्य क्षणों में खड़ा-खड़ा ?

देखो वे मूरतें लजीली
आयी हैं इस मन-नभ में,

और उड़ रही मम मूरखता,
मेरे संस्मृति - सौरभ में;

मूरत और मूर्खता का याँ,
बँधा हुआ है ताँता-सा,

क्या ही ख़ूब जुड़ गया है यह,
इक अजीब-सा नाता-सा !

मेरे पास बचा ही क्या है,
यहाँ सिवा संस्मरणों के ?

गूँज रहे हैं अब भी खन-खन—
स्वन कंकण आभरणों के;

झूल रही हैं स्मरण-ग्रीव में,
अब तक वे भुज वल्लरियाँ,

महक रही हैं अये, आज तक,
वे अधर-स्फुट मल्लरियाँ;

रहने दो उनकी संस्मृतियाँ;
बड़ी विकट, तूफ़ानी हैं,

उनके सभी अध-कहे जुमले,
गहरे हैं, जू मानी हैं।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१८ नवम्बर, १९३४

■

क्या ?

क्या होनेवाला है कोई पट - परिवर्तन आज ?
दीखेगी, क्या नयी छटा हे निर्धन के धन, आज ?
क्या जीवन-यवनिका उठेगी, गिरकर फिर इस बार ?
फिर से क्या उजड़ेगा मेरा यह उजड़ा संसार ?
क्यों है वह उद्भ्रान्ति ? मच रही क्यों अन्तरमें क्रान्ति ?
कहाँ गयी मेरी वह आकुलता पूरित विश्रान्ति ?

जीवन की दोपहरी में क्यों सन्ध्या का आभास ?
दिङ्मण्डल में कुंझटिका का क्यों छाया उच्छ्वास ?
धूमिल क्यों होता जाता इस दृश्य-जगत् का राज ?
अरे, झुटपुटा अँधियाला क्यों चला आ रहा आज ?
क्या विनष्ट होने को है मेरे मानस का राज ?
मेरे धन, बतला दो क्या होने वाला है आज ?

एक अजब खोयी-खोयी-सी वृत्ति उठ रही म्लान,
मानो आज लुट गया उर-अन्तर का सब सामान,
हिय में हहर-हहर होती है,—ज्यों पीपल के पात—
सिहर-सिहर काँपते रहते हैं परवश-से दिन रात।
तोते से उड़ गये—लग रहे ख़ाली-ख़ाली हाथ,
सूना - सूना - सा लगता है इस जीवन का पाथ।

व्यथित हृदय में आज हो गया कुछ गड्ढा-सा एक,
ज्यों भूकम्पन से पृथ्वी तल धँसता एकाएक,
उठती है विध्वंसक अर्राटे की यह ध्वनि घोर;
घहर - घहर धरणी धूसरित मनोरथ हुए अथोर;

सहसा क्यों हो रहा यहाँ यह विप्लव-अत्याचार ?
मेरे अरमानों के महल हो रहे क्यों मिस्मार ?

आज निराशी निर्मम-सा हो गया अहं ! यह दीन;
निपट उदासी की आतुरता छायी यहाँ मलीन,
उठ-उठ कर गिर-गिर पड़त है यह हियरा तल्लीन ।
झुलस रहा है तप्त बालुका में मेरा मन-मीन
सूखी नदिया, रूखी अँखियाँ, दुखिया यह रस-हीन,
सहसा क्या हो गया तुझे यह, ऐरे निठुर 'नवीन' !

■

बसंत-बहार

आज, सखि, नवल बसन्त-बहार,
कर रही मदिर-भाव-संचार ।

हम - से मस्ताने नवीन हैं
सीखे करना प्यार;
अब तो उलट पलट जायेगा
जग आचार विचार,
आज, सखि, नवल बसन्त बहार
कर रही मदिर-भाव-संचार !

सदा बसन्त हमारे हिय में
पलकों में मधु - भार,
नयनों में है स्वप्न मिलन की
सुरखी और ख़ुमार
आज, सखि, नवल बसन्त बहार
कर रही मदिर-भाव संचार ।

हम बासन्ती सतत सनातन
हम हैं स्नेहागार,
इसमें क्या वसन्त की महिमा ?
यह है तब स्मर सार;
आज, सखि, नवल बसन्त बहार
कर रही मदिर - भाव - संचार।

मेरे जीवन के तरुवर की
ओ कलिके सुकुमार,
यौवन डाली पर हँस झूलो
करो ज़रा ऋतु रार,
आज, सखि, नवल बसन्त बहार
कर रही मदिर – भाव-संचार।

गल बहियाँ-सी ऐल विहँसती
बन जाओ गल - हार
अब कैसी यह झिझक सलौने ?
यह कैसा अविचार ?
आज, सखि, नवल बसन्त बहार
कर रही मदिर - भाव-संचार।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
९ फ़रवरी, १९३५

■

मिल गये जीवन-डगर में

आज बरसों बाद पीतम मिल गये जीवन डगर में
मृत मनोरथ के सुमन ये खिल गये जीवन डगर में ।

वे धुएँ के तूल-से छाये हुए थे सजन बादल,
झर रहा था गगन के हिय से मगन यौवन-लगन-जल;
उन दुखद रिम-झिम-क्षणों में
शून्य पंकिल पथ - कणों में
हार-से, मनुहार-से पिय मिल गये जीवन डगर में ।

भर गया आकण्ठ हिय-तल, ललक उमड़ा नयन का जल
कर उठा नर्त्तन हृदय का कमल विकसित मुदित पल-पल
उस सिहरते नीम नीचे
झुक दृगों ने चरण सींचे
नेह-रस-वश अधर उनके हिल गये जीवन डगर में ।
आज बरसों बाद पीतम मिल गये जीवन डगर में ।

रेल-पथ : कानपुर से इलाहाबाद
११ जुलाई, १९३५

■

हिय-रार मेरी

भ्रमित है छिन्नाभ्र-सी यह रस-भरी हिय-रार मेरी,
कुपित झंझावात में पड़ उड़ चली मनुहार मेरी !

अतल मानस नील नभ में एक दिन कुछ भाव जागे,
कुछ हुआ भ्रम-सा, अचानक आ गया कुछ आँख आगे,
सघन घन-गण घुमड़ घहरे, प्राणदाहक त्रास भागे,

यह हुआ अनुभव कि आयी सजल ऋतु इस बार मेरी !

पर, अचिर थी मेघ-माला, वह तिरोहित हो गयी है,
आज फिर से क्षितिज-रेखा ताप-लोहित हो गयी है;
बिज्जु-रेखा ? कौन जाने वह किधर को खो गयी है ?

उठ चली आँधी; हुई है वह मधुरिमा क्षार मेरी !

हास छिटका, रौप्य-रेखा खींचते इस व्योम-पथ पर, -
माघ-मेघों के चमकते, रुपहले, गतिवान् रथ पर, –
मुदित आरोहित हुए तुम आ गये थे, ललन मनहर,

बस तभी पहले - पहल, उस दिन, हुई थी हार मेरी !

श्वास औ' निःश्वास का यह द्रुत समीरण-तुरग चंचल,
ले चला मुझको जहाँ थे अर्ध मीलित तव दृगंचल;
किन्तु तुम तो डाल बैठे थे मुखाम्बुज पर पटांचल,

लो, निराश्रित हो गयी है मन-लगन सुकुमार मेरी !
रस-भरी हिय-रार मेरी !

■

आओ

सन्ध्या के श्यामल क्षण में,
नव दीप शिखा-सी आओ,
मेरे इस धूमिल नभ में,
कुछ कुंकुम छिटका जाओ।

प्रथमोदित शुभ तारे - सी
हुल - सो इस नभ-मण्डल में,
ईमन के कम्पित स्वर-सी
विलसो मम मन चंचल में।

मेरी अति नीरवता में—
आओ गंगा - लहरी-सी
कल-कल करती ढुल आओ,
कुछ बहती, कुछ ठहरी-सी।

लप-झप करती लहराती—
दृढ़ बँधी नेह के धागे,
नव अरुण चंग-सी उड़ती—
तुम आओ मेरे आगे।

दायें-बायें लहराओ—
मैं दूँ ठुमकी तुम ठुमकों,
हाँ ढील कभी दे दूँ मैं—
फिर कभी खींच लूँ तुमको।

यों मेरी साँझ, सवेरा—
जीवन का फिर बन जावे,
जीवन सन्ध्या की लाली—
बन ऊषा छन-छन आवे।

गहरे गभीर जल – तल में,
दीपक की परछाँईं - सी,
झलको मेरे हियतल में –
मन-दर्पण की झाँईं-सी।

पहने वह श्यामल साड़ी–
पाटल कुसुमों - सी फूली,
रंजिता मेघ - माला - सी
आओ मग भूली - भूली।

आ जाओ, विलसित कर दो,
मानस दिङ्-मण्डल सारा;
सुनसान पड़ा है कब से
मेरा मन - गगन बिचारा।

सूने मानस - मन्दिर में
संस्मृति - मूर्ति - सी पधारो,
इन तन्द्रा की घड़ियों में–
चपलास्फूर्ति - सी पधारो।

सपने में उलझ गयी है–
लघुनाम – सुमरनी मेरी,
सुलझा दो इसको आके–
ऐ री दुख हरनी मेरी।

मम जप–तप की माला में–
गाँठें पड़ गयीं, दुलारी,
फन्दा खोलने बढ़ा दो–
अँगुलियाँ सुघड़ सुकुमारी।

कल ललित चरण न्यासों से–
दव दव सिहरे यह हियरा,
झन-खन-मृदु नूपुर ध्वनि से–
उमड़े अब रह - रह जियरा।

कितना मद भरा हुआ है!
क्या मदिरा है संस्मृति में,
कितना मघवा भर लायी –
तुम अपनी स्वर–झंकृति में।

यदि नेह नहीं तो यों ही–
निरपेक्ष भावना लेके,
कुछ हाल देखती जाओ –
मेरे हिय के छाले के।।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१२ अक्टूबर, १९३१

■

अस्तित्व मेरा

है समाश्रय शून्य जीवन, है विफल व्यक्तित्व मेरा–
आज कोलाहल भयानक कर उठा अस्तित्व मेरा।

श्रान्त हूँ, प्रिय, श्रान्त हूँ मैं,
चिर व्यथा - आक्रान्त हूँ मैं;
नेह - नगरी की डगर में, –
अति भ्रमित दिग्भ्रान्त हूँ मैं;
खो गया किस ठौर, बोलो वह मन:स्वामित्व मेरा?
है विकल व्यक्तित्व मेरा।

सुमरनी के तार मन के–
हो गये अंगार मन के,
स्मर - विपंची से उठे हैं–
स्वर लपट-झंकार बनके;
आज चिन्तन के चतुर्दिक् खिच गया यह अनल-घेरा,
दग्ध हैं अस्तित्व मेरा ।

अग्नि की चिनगारियों से,–
अनल - अंक - दुलारियों से,–
हृदय - घर्षण - जनित मुकुलित,
फुल्ल पावक - क्यारियों से,–
फूस के तिनकों सदृश यह जल उठा मानस-बसेरा,
अनलमय अस्तित्व मेरा ।

है कहीं क्या इस जगत् में कुशल कोई-सा चितेरा,
जो करे मन-गगन में चित्रित सुनहला-सा सवेरा ?

ज्वलित उल्का पात है याँ,
घात औ' प्रतिघात है याँ,
ज्वाल मण्डित व्योम मेरा–
अनल की बरसात है याँ,
बन रहा है एक मुठ्ठी क्षार यह व्यक्तित्व मेरा
भस्म है अस्तित्व मेरा !

रेल पथ : इलाहाबाद से कानपुर
२४ जनवरी, १९३६

■

किर-किरी

अरी, पड़ गयी है कंकरी-सी मेरी आँखों में, रानी,
बहता ही आता है रह - रह, देखो बूँद - बूँद पानी,
कँकराहट है, अकुलाहट है, नैनों में लाली भी है,
आशा है, तृष्णा है, विष है, आँखों में है नादानी।

तुमने मेरी इन आँखों में, अपने दृग की सैनों से—
आत्म - मरण का अंजन आँजा, सुमुखि अबोले वैनों से,
स्वात्मार्पण मिस अहं भाव मम, मरण-वरण कर चुका, प्रिये,
अरी बह गया है 'अहमिति' जड़ हृदय-सिन्धु के फैनों से।

अब तो बन चिन्मयी, मृण्मयि, आओ मन्दिर में अपने,
रुचिर, चिरन्तन दरस-परस से सफल करो मेरे सपने,
अपना विरल, मृदुल अंचल ले नयन-किरकिरी दूर करो,
बहुत प्रतीक्षा की है अपलक मेरे उत्सुक जप-तप ने।

तव स्नेहाराधन मिस मुझको तत्त्व - दरस - आभास मिला,
देश - काल के परे असीमित मुझे रहस्य - विकास मिला;
करुण मरण में, प्राण-हरण में, मृत्यु-सन्तरण-भाव मिला,
मरण-क्षितिज की ओट मुझे यह चिरजीवन-आकाश मिला।

सौ-सौ बार नित्य मरकर भी मैंने चिर जीवन पाया,
अति निशीथ चिन्ता-जर्जर भी मैं 'नवीन' ही कहलाया,
हिय को मसल-मसलकर भी मैं चिर-रसज्ञ हूँ, री रानी,
मुझको जागृत जीवन में भी कल्पित सपना ही भाया।

मान ? मान मत करो, न रूठो हम-से दुखियों से, रानी,
कहीं रोष भाजन होती है अपनों की कुछ नादानी ?

हम-सों के नीरस जीवन में कुछ तो रस-संचार करो,
गुमसुम प्रतिमा बनी न बैठो, कह दो कुछ मंजुल वाणी।

जगत् उधर है, और तुम्हारी प्यारी हठ है इधर, प्रिये,
अरे तनिक सा ही तो मैंने सोचा : जाऊँ किधर, प्रिये;
इतनी ही-सी रंच हिचक से, आज रूठ बैठीं तुम तो,
छोड़ो मान, बिहँस कुछ कह दो, प्राण रहे हैं, सिहर, प्रिये।

मैं नत-शिर टक-टकी लगाये देख रहा था चरणों को;
सुख मिलता था मुझे देखकर उन युग पद मन-हरणों को,
वह सुख भी तो तुमने छीना ढँक निज द्वय पद कंज, सखी,
इतना रोष? कि नहीं करोगी दूर चरण-आवरणों को?

अपर निशा के अर्ध चन्द्र-सी मम तम मय मन-अम्बर में,—
चिन्तन-क्षितिज ओट से प्रकटो, झलको मम दृग-निर्झर में;
चकित, थकित, अतिमथित, व्यथित है हृदय-सिन्धु-जल-राशि, प्रिये,
आवाहन हो रहा निरन्तर हहर – घहरते सागर में।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२४ अप्रैल, १९३५

■

पार्थिव

ये कुछ झुँझलाकर यों बोले "यह आतुर पार्थिवता क्यों?
परस-चाह यह क्यों? इतनी यह प्रकट नेह-सक्रियता क्यों?
इस समीपता में दूर-स्थित प्राप्य श्रेय का स्वेद नहीं,
तब फिर उत्कण्ठा क्यों? निकट-स्थिति-विलास की प्रियता क्यों?

महदन्तर में ही सम्भव है पूर्ण-पंख-विस्तार, अहो,
महदन्तर में ही सम्भव है अथक, मदिर अभिसार, अहो,
अन्वेषण के स्वेद-कणों ही में है प्राणों का परिणय;
दर्शन-ओझलता में ही है क्वासि? क्वासि? चीत्कार, अहो।"

तुम समर्थ हो, प्रिय! जो चाहो कहो, सुनूँ मैं जी-भरके,
यों ही सफल बना दो मेरे सपने ये निशि-वासर के,
ढरके हैं ये क्षार बिन्दु कुछ, प्राण, अर्घ्य यह ग्रहण करो,
यों ही बैठे कहा करो कुछ मेरे सम्मुख आकर के।

आज तत्त्व-दर्शन का मुझ में रंच-मात्र सामर्थ्य नहीं,
आज सगुण-निर्गुण-विवेचना कर सकता हूँ भला कहीं?
नहीं-नहीं के तुम अभ्यासी मैं हूँ हाँ-हाँ कहने का,
चरण छुपाते तुम; चरणांकन मैं खोजूँ हूँ कहीं यहीं।

तुम पूछो हो यह पार्थिवता, परस-चाह यह इतनी क्यों?
पर, प्रिय, तुमको दरस-परस से यह चिढ़ दुस्सह इतनी क्यों?
अथकान्वेण की कृति में भी परम-प्राप्ति है निहित सदा,
तब फिर मेरी पार्थिवता की चरचा अहरह इतनी क्यों?

तुम सामीप्य-विरोधक हो, प्रिय, मैं सायुज्य-ध्यान-धारी,
तुम महदन्तर के प्रेरक हो, मैं निकट-स्थिति - अधिकारी,
मेरे पंछी की उड़ान तो महदन्तर - संहारक है,
मत झिझको, हे प्राण, नहीं हैं मम निश्वास दग्धकारी।

पार्थिवता भी नित्य अपार्थिव अक्षर की है एक अदा,
भौतिकता भी तुममें घुल - मिल जाने की ही है विपदा,
अहंकार, मन, बुद्धि, भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश सभी,
पार्थिवता के गुण-बन्धन में बँधे हुए हैं नित्य सदा।

अहो प्राणधन, व्यक्त भाव मैं, तुम अव्यक्त निशानी हो,
मैं पार्थिव हूँ और अपार्थिवतामय तुम चिर मानी हो;
इन आजानु भुजाओं में जब तुम्हें बाँधने आता हूँ, –
पीतम, तब क्यों कह उठते हो कि तुम बड़े अज्ञानी हो ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
जनवरी, १९३६

■

बुझ चली

बुझ चली, हाय, बुझ चली, सखे,
चिर प्रेमी की प्रज्वलित चिता,
सूरज भी यह ढल चला और,
हो गयीं दिशाएँ भी असिता।
ये 'हुआ - हुआ' कर उठे स्यार,
लो यह सब खेल तमाम हुआ,
यह अरमानों का पुंज जला,
हो गयी भस्म आहें त्रसिता।
तड़पन, आतुरता, उत्सुकता,
कुछ भी न आज अवशेष रही;
तिल-तिल, जल - जल सब खाक हुई,
हो गयी चेतना पराजिता।
शोलों की गोदी में सोया,
चेतना - हीन यह चिर प्रेमी,
मरघट के पीपल की हर - हर,
पत्ती भी सिहर उठी दुखिता।

लौ बढ़ी खूब लप - करती,
धू - धूकर मँडराया धूआँ।
चट अट्टहास कर उठी चिता,
अग्नि-स्फुलिंग - कलिका - रचिता।

जीवन की वे आकांक्षाएँ,
उत्सुकताएँ, आतुरताएँ।
वह दरस - परस चटपटी अमित,
हो गयी यहाँ क्या सब विजिता ?

कुछ छिन, कुछ दिन, कुछ मास और,
कुछ वरस, यही क्या है जीवन ?
इस छोटी काल - सुराही में — क्या
है जीवन-गति सुसंचिता ?

जिन अमल, सरल शुचि साधों पर,
उत्सर्ग हुआ जीवन सारा ?
उनका भी क्या याँ अन्त हुआ ?
वे भी क्या यहाँ हुई थकिता ?

कैसे झाँकूँ उस ओर सखे ?
है मृत्यु - द्वार अवरुद्ध यहाँ।
क्या जानूँ वह कैसी नगरी ?
कैसी वाँ डगरी सुसज्जिता ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
जुलाई, १९३५

■

काँवँ ! काँवँ !!

काँवँ ! काँवँ !! करो न, कागा,
सजन के सूने हृदय में कौन सा अनुराग जागा ?
काँव ! काँव !! करो न कागा।

तुम पुरातन ज्ञान - संचय,
तुम अतीत स्वरूप - निश्चय,
आज दो, न, भविष्य परिचय ?
हाँ, कहो तो, कब, किधर को, चल पड़ूँगा मैं अभागा।
काँव ! काँव !! करो न कागा।

विरति - कुंझटिका उठी यह,
स्मरण - अन्तर में जुटी यह,
लगन खोयी - सी लुटी यह,
दीख पड़ता ही नहीं है अब सुरति का धवल-धागा,
काँव ! काँव ! करो न कागा।

कँप रहा है हिय इधर यह,
उठा रहा है एक स्वर यह,
कह रही आशा सिहर यह,
मुझ अयाचित ने, कहो तो, कब मिलन-वरदान माँगा ?
काँव ! काँव !! करो न कागा।

झाँसी,
अक्तूबर, १९३५

■

छोटे की स्मृति में

युवक हृदय की प्रथम प्यास सम,
लगकर कहाँ गये तुम प्रियवर ?
यह इतनी विस्मृति अपनों की,
कि तुम भुला बैठे अपना घर !

बीत गये ये बरस घनेरे,
कई - कई सौ साँझ सवेरे,
सहसा आज चढ़े स्मृति-रथ पर,—
लालन तुम आये हिय मेरे,

आह ! समय यह इतना बीता,
तब भी कँपता है हिय थर-थर,
कैसे करूँ दुलार, हठीले, भव,
जब तुम आये अपने घर ?

गमनागमन, मरण जीवन यह,
यह संयोग-वियोग निरन्तर,—
उद्भव, प्रलय, काल-गति-बन्धन,
प्राण - दान संहार भयंकर !

कौन कर रहा है क्रीड़ा यह ?
कौन खेलता है यों अहरह ?
बिछुड़न, मिलन, बनाकर किसने—
भर दी है जग में पीड़ा यह ?

अन्धाधुन्ध ? प्रिय, यह न कहूँगा,
जदपि रिक्त है तुम बिन अन्तर,

कुछ है, क्या है? पता नहीं है,
मति-गति शिथिल, शिथिल अभ्यन्तर।

वह प्रभात जीवन का जब हम,
दो कुमार, मिल-गलबहियाँ कर,—
दाबे हुए बग़ल में बस्ता,
घुसते थे शाला के भीतर!

कितना सुन्दर था प्रभात वह!
क्या मधुमय था संग-साथ वह;
रेखा - बीज - अंकगणितों की—
छोटे, थी क्या विकट बात वह,

आज तुम्हारे सँग उठ आये,
ये सब गत संस्मरण उभरकर,
ये गत जीवन की संस्मृतियाँ हैं,
कितनी आकर्षक हिय - हर!

बहुत सोचता हूँ नर क्या है?
है स्मृतियों का एक पुंज नर,
स्मृति भ्रंश से हो जाता है,
क्षण - भर में ही यह नर वानर;

आज संस्मरण - सुरा पिये, मैं—
उलझे - सुलझे सूत्र लिये मैं—
करता हूँ जीवन अवलोकन—
तुम्हें बिठाये हुए हिये में,

कितना सुख होता यदि होते,
तुम भी संग इस जीवन-पथ पर,
दुख - सुख हम बटोरते दोनों
जीवन में संग - संग हँस-हँस कर!

जब से तुम बिछुड़े हो तब से
बहुत हुआ जीवन में अन्तर,
उथल-पुथल हो गयी भयंकर,
हुई क्रान्तियाँ हैं प्रलयंकर,

नवजीवन की लहरें आयीं,
प्रबल आँधियाँ भी उठ आयीं।
बारी - बारी पड़ी दृगों में—
विजय - पराजय की परछाईं;

कई अदृष्ट पूर्व घटनाएँ देखी हैं
इन आँखों भर - भर,
पर, प्रिय, तव सुस्मृति से अब भी,
काँप उठता है मानस - अम्बर !

हुआ बहुत कुछ परिवर्तित,
इस पंछी का शारीरिक पंजर,
अब कुछ ढलता-सा लगता है,
चढ़ते यौवन का दिनकर खर;

जब तुम थे तब से इस 'अब' में
घटित हो गया है महदन्तर,
मैं ही क्या, तब से अब तक तो
बदल चुका है सकल चराचर,

बड़ी ग़नीमत है जो सूखा नहीं
भावना का यह निर्झर,
छोटे, उसकी केवल कल-कल है
तुम-सों की स्मृति पर निर्भर !

डिस्ट्रिक्ट जेल, अलीगढ़
२० जनवरी, १९३४

■

मिलन साध यह इतनी क्यों ?

वे कुछ सकुचाकर यों बोले : मिलन साध यह इतनी क्यों ?
इस छोटे-से यौवन-क्षण में गलबहियाँएँ कितनी हों ?
जीवन के छोटे से किसलय-सम्पुट में न समायेगा —
यह अमाप संयोग-मधुर-रस; तब फिर आहें इतनी क्यों ?

सच कहते हो, प्रिय, छोटा है जग के जीवन का दोना,
यहाँ भरा है विप्रयोग से उसका हर कोना - कोना
इस दोने में लगी हुई हैं सींकें दुख के शूलों की,
यहाँ कहाँ सामीप्य ? यहाँ है केवल रोना ही रोना।

इस अस्थिर, अति गतिमय, चंचल जीवन में संयोग कहाँ ?
अक्षर सम्मिलनोत्सुकता का इस क्षर में उपभोग कहाँ ?
जीवन है अव्यक्त भाव का व्यक्त वियोग-स्वरूप स्वयं,
निर्गुणता से विलग सगुण का फैल रहा दुख-भोग यहाँ।

पिय-सँजोग तो अचिर नहीं है; पर जीवन है अचिर सदा,
फिर क्षणभंगुर में किमि प्रकटे कालातीत नेह सुखदा ?
प्रिय - सामीप्य - लालसा तो नित प्राण-प्रमन्थन करती है,
पीतम की झिलमिल झाँकी तो मिल जाती है यदा - कदा।

पर, अनादि की मिलन आस यह अन्तवन्त हो जाये क्यों ?
इस जीवन का यह सूनापन सघन निराशा लाये क्यों ?
यदि है समय-संकोच यहाँ पर तो फिर यूँ ही सही, सजन,
वाँ देखेंगे, जहाँ काल यह सीमित हो न सताये यों।

वाँ मेरी अभिलाषाओं के सोपानों पर खड़े - खड़े—
झारी लिये खूब ढरकाना सुरस बिन्दु तुम बड़े - बड़े;

मैं पनघट के नीचे प्यासी हिय अंजलियाँ भर लूँगा,
वाँ ऐसा करना कि सुरस का तनिक न तारतम्य बिगड़े।

यह जीवन तो अन्वेषण की इक छोटी - सी मंज़िल है;
इस जीवन की डगरी सँकरी स्वेदसिक्त है, पंकिल है;
इसे पार कर, हे अन्वेपक, वहाँ पहुँचना है तुमको,
जहाँ सजन की मुक्त खिड़कियों पर तनिक न एक भी झिल-मिल है।

वहाँ न घूँघट का संकट है, अवगुण्ठन का काम नहीं;
वाँ इस-उस की आँख बचाने के झंझट का नाम नहीं;
वहाँ सिवा पीतम प्यारे के अन्यों का अस्तित्व कहाँ ?
अपने बेगाने ये सब तो होते ख़त्म तमाम यहीं।

■

पहेली

यार, भड़-भड़ाते फिर हो,
इधर-उधर तुम प्यासे - से;
खोज रहे हो तुम आँखों से,
किसको आज रुवासे - से ?

बुत ऐसे गुमसुम फिरते हो,
बोल-चाल का नाम नहीं,
इस सराय में ही टिक जाओ,
ले लो कुछ विश्राम यहीं।

अपनी-अपनी गठरी बाँधे—
सब, अपनी-अपनी धुन में,—
चले जा रहे हैं; तुम उलझे—
किस नूपुर की रुन-झुन में ?

कौन ? पूछते हो कि कौन है–
इस तृष्णा-मद का दाता ?
कौन खेलता है यों अहरह ?
कौन आप यों ललचाता ?

किसने प्रमथनशील भरी है–
प्रबल प्रेरणा प्राणों में ?
कहो कौन वह है ? इतना विष–
जिसके शर - सन्धानों में

सुलझाये भी नहीं सुलझती,
ऐसी गूढ़ पहेली है,
फिर भी हिय की लगन बिचारी
पथ में खड़ी अकेली है।

■

बसन्त

कारागृह में भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी बसन्त 'समीर';
मँडराने लग गयी यहाँ भी,
सहसा यह पतझड़ की पीर;

हिय छलनी करने को फूली –
सरसों की क्यारी - क्यारी
मृदुल कोपलें पीड़ा भरने –
आयी हैं न्यारी - न्यारी;

अली यहाँ भी भरकर आया —
यह मधुपति अपना तूणीर;
कारागृह में भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी वसन्त समीर !

हहर-हहर झर सिहर सिहरकर,
काँप रहीं द्रुम - वल्लरियाँ;
सर - सर खर - खर मर्मर कर,
नीरस पत्रावलियाँ झरियाँ;
अजर - अमर - सी नयी पत्तियाँ,
उग आयीं हरियाँ हरियाँ;
पर जग की आँखों में करकीं,
नव जीवन की काँकरियाँ;
दिग् - दिगन्त में लहर रहा है,
जगपति का वासन्ती चीर;
कारागृह में भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी बसन्त समीर।

विटप अट-पटी सैन दे रहे,
डुला - डुला अपनी वहियाँ;
पुनरुज्जीवन और मान की,
प्रकटी यहाँ धूप छहियाँ
महा काल बरसाता जाता,
उधर मरण - रस की फुइयाँ;
इधर चुभ रही है जगती के—
हिय में जीवन की सुइयाँ;

पास - पास ही यहाँ खिंच रही,
जनम - मरण की अमिट लकीर;
कारागृह में भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी बसन्त समीर !

धूप - छाँह मेरे कारा में
क्या क्रीड़ा कर रही अली,
मानो आशा तथा निराशा,
सूने आँगन में मचली,
नभ - मण्डल में धूम्र सदृश उड़,
आयी धवल मेघ - माला,
मानो नीरस तूल उड़ाता,
हो कोई बैठा - ठाला,
मदिर - अलस - रस पूरित उठते –
यौवन - सा अति गहर गम्भीर,–
कारागृह में भी आ पहुँचा
यह ऊधमी बसन्त समीर !

दक्षिण पश्चिम दिशि वधूटियाँ,
बलित विकम्पित हुई यहाँ,
अपनी श्वास समीरण - दूती,
भेज रही हैं कहाँ - कहाँ !
याँ मँडराती ही रहती है–
पच्छिम पौन की विकल व्यथा;
द्रुम शाखा विगलित पत्रों पर,
लिखी हुई मरण - कथा;

लड़ - लड़ झगड़ - झगड़ अंकुर ये
निकले नस के हिय को चीर;
कारागृह में भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी वसन्त 'समीर'!

सिहर ठिठुरती सोती हुई,
भावनाएँ जग आयी हैं,
नवल जागरण मिस कण - कण में,
नव मोहकता छायी है,
जगती की अँगड़ाई में है,
ढरक रहा जीवन हाला;
चंचल मृदुल दृगंचल का यह,
छलक रहा मादक प्याला;
सखि, यह मदिर वेदना, मेरे
हिय को करती यहाँ अधीर;
कारागृह में भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी वसन्त 'समीर'!

मेरे बन्दी गृह के तरुवर
नव कम्पन से कम्पित हैं;
अलस थकित दिङ्मण्डल मेरा,
यह हो रहा विजृम्भित है;
मण्डित है अलसानी क्रीड़ा,
द्रुम की पत्ती - पत्ती में,
भरी हुई है आसव पीड़ा,
रज की रत्ती - रत्ती में;

जमुहाई छायी है मुख पर,
है निस्कृति तल्लीन शरीर;
कारागृह में भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी बसन्त समीर !

खुल - खुल झपक - झपक जाती है,
अलसित आँखें लजवन्ती,
ज्यों विलीन हो जाती है मृदु
वीणा-गुंज मुरजवन्ती,
सतत निरुद्यम अलस हिलोरें
मन - सर में उठ आयी हैं,
सजनि, वीचि, विक्षोभ रूप धर
हिय में तन्द्रा छायी है,
गुन-गुन करते हुए निरगुनी,–
भवरों की आयी है भीर,
कारागृह में भी आ पहुँचा,
यह अधम बसन्त समीर !

इस बसन्त के अलस प्रात में,
ढूँढ़ रहे तुमको नैना,
गुपचुप बातें करने की,
आकुल हैं अलसाने बैना,
इस दुखिया अँगड़ाई में
आलिंगन उत्साह भरा,
कर देता उच्छ्वास समीरण,
दरस चाव का घाव हरा।

अलि सपने में तो आ जाओ,
पहने नव वासन्ती चीर;
देखो, कारा में भी आया,
यह ऊधमी वसन्त समीर;

इतना तो समझो कि वसन्ती,
दिन वे सपने ही से हैं;
यही समझ लो कि इस व्यथा के,
छिन ये सपने ही-से हैं,

इसको सपना ही समझे,
ढुल आओ मेरे देश अली;
स्वप्निल अवगुण्ठन में छुपके,
आ जाओ सुकुमार लली;

आज छबीली छटा दिखा दो,
सपने की सरिता के तीर;
कारा में भी आया, देखो,
यह ऊधमी बसन्त 'समीर'।

ऋतु कम्पित हिय लगन-गगन में,
नभ गंगा-सी बह आओ;
किंकिणियों की कल-कल गाथा,
तृषित श्रवण में कह जाओ,

बँधकर कुछ क्षण तो रह जाओ,
मानस सर में तुम सरिते;
ज़रा देर तो इधर मोड़ दो,
निज प्रवाह, हे रस भरिते,

लहरा दो मेरे मानस में
वासन्ती हिलोर गम्भीर,
देखो कारा में आया है
यह ऊधमी वसन्त समीर!

सूना - सूना - सा लगता है,
ऋतु बसन्त का गगन यहाँ
अरे भावने इस सूने में,
भोले मन को ठग न यहाँ,

कारा की प्राचीर नाँघकर.
भटक रहा मन कहाँ - कहाँ,
सजनि कल्पना - नभ में तुमको,
ढूँढ़ रहा हूँ यहाँ, वहाँ,

इन वासन्ती नवल क्षणों में,
दामिनि छलका दो कुछ नीर,
देखो कारा में आया है,
यह ऊधमी बसन्त 'समीर'!

■

मन्द ज्योति

प्रिय धीमी पड़ रही आज मेरे प्रदीप की बाती,
यह लुट जाय कदाचित् मेरे यात्रा-पथ की थाती;
पथ सुनसान, कँटीला, टेढ़ा, पथरीला, अज्ञात,
लक्ष्य दूर, यह भ्रमित पथिक, मग में छायी चिर रात,

शिथिल गात, हो रहे अनेकों विकट घात-प्रतिघात,
यात्री किससे कहे, कहो तो, अपने मन की बात ?
कुसमय में लप-झप करने लग गयी ज्योति अकुलाती
प्रिय, धीमी पड़ रही आज मेरे प्रदीप की बाती।

तुम प्रकाशपति, तुम दिन-मणिपति, सतत-सनातन ज्योतिपते !
संशय-दाहक, अनल प्रवाहक, हे जग पावक, अग्निमते !
निज प्रचण्ड किरणांगुलियों से उकसा दो मेरी बाती,
फिर से इसे बना दो प्रिय, तुम अग्नि-अरुण-धुन-मदमाती।

डिस्ट्रिक्ट जेल, बरेली
२६ जनवरी, १९३३

■

घनश्याम

खूब पधारे सजन यहाँ, घनश्याम बने, जलधार बने,
चपला बने, बने नभ कल्पन, झंझानिल - संचार बने;
शीत बने ठिठुराते आये माघ मेघ साकार बने,
नभ - गर्जन बन हृदय कँपाते आये भय - आगार बने,
इस कारा में, तुम करुणाकर मम जीवन आधार बने
खूब पधारे, यह छवि धारे, मुझ दुखिया का प्यार बने !

डिस्ट्रिक्ट जेल, बरेली
२३ जनवरी, १९३३

■

पावस-पीड़ा

सखि मेरे कारागृह में भी आती हैं मेघावलियाँ,
कभी सुना जाती हैं याँ भी निज कूजन केकावलियाँ,
कारागृह का अन्तरिक्ष भी रस - फुइयाँ बरसाता है,
छिन में कौतुक दरसाता है छिन हियरा तरसाता है;
सजनि यहाँ भी होती रहती हैं ऋतु-क्रीड़ाएँ सारी,
अरी यहाँ भी कसका करती हैं गत-पीड़ाएँ सारी !

सूना हिय-आकाश, कल्पना सूनी, यह जीवन सूना, –
यह अस्तित्व निपट सूना है, मानस दिङ्मण्डल सूना;
उधर, भरा आकाश मेघ से, प्रकृति-कल्पना सजल हुई,
नभ दिङ्मण्डल में बिजली यह चमकी संसृति सफल हुई;
हृदय रिक्त, जग हरा-भरा है, टूट गया मन का मोती,
मेघों के मिस आयी है मम अभिलाषा रोती-रोती !

ये अनजान प्राण, पावस में, ना जानें, क्यों तड़प उठे ?
जाने क्या हो गया, ठगों के ये मोती बे मोल लुटे ?
जल धाराएँ तो बहती थीं, अब ये आँखें भी बरसीं,
अलि, हो गयीं त्रस्त आँखें ये जल-विप्लावित अम्बर-सी;
लो, सरकार ! थाम दो आकर पावस धाराएँ मेरी,
मन-मण्डल निर्धूम बना दो क्यों करते हो अब देरी ?

आ जाओ, हा हा ! आ जाओ इन जँगलों के पास ज़रा,
ज़रा दिखा दो स्वप्न भरे युग दृग् की नवल छटा अपरा,
खड़ी भींजती रहो तनिक तो इस कारा के आँगन में;
रंच देख लूँ जल - कण - मण्डित उत्फुल्लित जलजानन में,
काल कोठरी के जँगलों से मुझको हाथ बढ़ाके दो,—
सजनि, बलायें ले लेने दो, हियरा ज़रा चढ़ाने दो ?

तुम भींजो, मैं सीज पसीजूँ, तुम मुसक्याओ मैं रोऊँ,
तुम आँसू पोछो, मैं इनसे कोमल युगल चरण धोऊँ !
अर्घ्य - ग्रहण करती तुम भरती नेह हिये, हरती पीड़ा,
नत - मस्तक 'नवीन' के कुन्तल से करती कोमल क्रीड़ा —
लोचन से कुछ-कुछ टपकाती गोल-गोल बूँदें प्यारी —
आ जाओ, लहरा दो मेरी सुघड़ साधना की क्यारी !

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैजाबाद
१९३२

■

ओ मुरली वाले

ओ मुरली वाले, ओ लकुटी-कामलिया वाले, आओ
छा जाओ इस देस, छबीले, मन्द-मन्द मुसका जाओ;
कब से खड़ी गोपियाँ मग में सद्य नेह नवनीति लिये,
वृष भानुजा खड़ी हैं कब से हिय में प्रीति अतीत लिये
बीते दिवस, महीने बीते, बरसें बीतीं, युग बीते,
निरखो, निठुर पड़े हैं कब से ये सब मन-मन्दिर रीते;

साजन, निक्वण मधुर मुरलिया का अन्तरतर में भर दो;
हिय मन्थन-शीला स्वर-पीड़ा सकल चराचर में भर दो !
छन्दहीन, गतिहीन, बेसुरा ताल - रहित जीवन जग का,
ज्ञान नहीं है, सम का लय का, छुटा ध्यान स-नि-ध-प-म-ग का
तुम स्वर-लय-यति-पति मुरलीपति कम्पित कर दो स्वर लहरी,
आज बहा दो स्वर-रस धारा कुछ गहरी, कुछ-कुछ ठहरी ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैजाबाद
२४ नवम्बर, १९३२

■

तड़पन

सपने की खिड़की से झाँको मत इस निंदियारे घर में
सजनि, मत किया करो कँपकँपी पैदा यों अन्तरतर में
विकल प्राण, म्रियमाण हृदय यह आकुल आँखें, नींद कहाँ ?
सूने मन को लिये जा रहा स्मरण तुम्हारा यहाँ-वहाँ ।
थकित व्यथित मस्तिष्क हुआ है शिथिल अंग प्रत्यंग हुआ,
ओ मूरत, देखो तो कितना फीका सब रस रंग हुआ ।

कस लेने को तुम्हें भुजाएँ अकुलाती हैं घड़ी-घड़ी,
सजनि, डबडबा आती हैं ये चंचल अँखियाँ बड़ी-बड़ी;
खड़ी - खड़ी कब से मुरझी है साध बलायें लेने की;
सोचो, कितनी विकट प्रतीक्षा सजनि, तुम्हारी मैंने की ?
इस सूने चौराहे पे मैं कब तक बैठूँ ? बोलो तो
रानी, चिर वियोग की ठण्ढी फाँसी आकर खोले तो ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२७ अक्टूबर, १९३१

■

मनोरथ

अलमस्त हुई मन झूम उठा, चिड़ियाँ चहकीं डरियाँ-डरियाँ;
चुन ली सुकुमार कली बिखरी मृदु, गूँथ उठी लरियाँ-लरियाँ;
किसकी प्रतिमा हिय में रखके नव आर्ति करूँ थरियाँ-थरियाँ ?
किस ग्रीव में हार य' डाल सखी बस रो दूँ लगें झरियाँ-झरियाँ ?

सुकुमार, पधार खिलो टुक तो इस दीन ग़रीबिन के अँगना।
हँस दो, कस दो रस की रसरी खनका दो, अजी, कर के कँगना।
तुम भूल गये कल से हलकी चुनरी गहरे रँग में रँगना ?
कर में कर थाम लिये चल दो रँग में रँग के अपने सँग-ना ?

निज ग्रीव में माल-सी डाल, ज़रा कृतकृत्य करो शिथिला बहियाँ।
हिय में चमकें मृदु लोचन वे, कुछ दूर हटे दुःख की छहियाँ।
इस साँस की फाँस निकाल, सखे, बरसा दो अभी रस-की फुहियाँ।
हरखे हियरास रसे जियरा, खिल जायँ मनोरथ की जुहियाँ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१५ दिसम्बर ,१९३०

■

पन्थ

यह जग - मग भी अजब अटपटा टेढ़ा - मेढ़ा है सजनी,
धूल त्रिशूल, बबूल - शूल का यहाँ बखेड़ा है सजनी !
अँधियाला ले रहा यहाँ क्या खूब बलायें इस पथ की,
कौन बता सकता है गाथा इस पथ की इति की अथ की ?
अकथ सुरथ-रत विरथ पथिक मथ-मथ हिय कथा अधीर बना।
चलते - चलते इस पगडण्डी की वह क्षीण लकीर बना !

हँसती हुई निराशा आयी, रोती आयी लघु आशा,
मिली मार्ग में बहती-सी यह, उद्विग्नता कर्मनाशा;
शब्द ढूँढ़ती झुकी डगर में दीख पड़ी करुणा भाषा,
धूल-धूसरित सतत मचलती चली हृदय की अभिलाषा;
संचित शोणित कण बन-बन मन-मोती नयनों से बिखरे,
थकित पथिक को इस जग-मग में क्या ही साथी मिले खरे !

हँस - हँस पूछो हो कि मंज़िलें कितनी रहीं जवानी की ?
मुझे क्या पता कितनी घड़ियाँ बाक़ी हैं नादानी की ?
नयनों ने अपनी-सी की; मन में अपनी मनमानी की
मूरख हिय ने कई व्यथाएँ, देखो पानी-पानी की !
मत पूछो कितनी है बाक़ी मंज़िल इस अज्ञानी की !
इतना जानूँ हूँ कि कहीं है नगरी हिय - ठकुरानी की !!

■

डुबकी

आज वह बाँकी छबि वह छटा अटपटी
स्मरण दिगन्त में उदित हुई सहसा,
मोती टपकाते सद्य स्नात ये तुम्हारे केस
बरसा गये हिय में रस-फुई सहसा,
स्नानोत्तर शीतलता युत पाणि पल्लवों के
स्पर्श की स्मृति से कँपकँपी चुई सहसा
अधर-सम्पुटों के मिलन की बेला, कुमारि,
भोली-भोली आँखें हुईं छुई-मुई सहसा।

विह्वल कम्पन युत आलिंगन वह, वह,
अन्तिम मिलन, वह झंकृति हृदय की,—
निजत्व विस्मृति के वे क्षण अनमोल, वह
घटिका मुहूर्तमयी मृदु आत्म लय की,
अस्फुट वचन-कलिकाओं की सुगन्ध वह,
अश्रु-सिक्त वाणी अनुनय की विनय की,
आज इन सब की अतीत स्मृति जाग उठी,
किंवा एक हूक उठी विजित प्रणय की।

याद पड़ता है वह दिन, वह घड़ी जब
कुछ क्षण को मेरी सौभाग्य रेख चमकी,
उदित हो गये पुण्य, प्रमुदित हिय, खुले
भाग्य, हुई पूरी साध जनम-जनम की।

गोद में बिठा के, दुलरा के, खूब याद है
बिसार दी थी सुध-बुध धरम-करम की
छोटे से नवीन के हृदय में, भरी हैं कई
बातें उस पुरातन भेद की भरम की।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
१२ अगस्त, १९३२

-

मत तोड़ो गहरा सपना

कुछ सुख की परछाहीं से, कुछ दुख से, कुछ आशा से,
कुछ उनकी हाँ-नाहीं से, कुछ कुण्ठित अभिलाषा से,
हिय टूक-टूक तो था ही, इतने में घन घिर आये,
सूने मानस-मण्डल में संस्मरण विगत फिर आये;
जीवन का सोया सपना, जग उठा आज यह सहसा,—
हिय-तल में खटक रहा है, युग-युग के अमिट विरह-सा।

जिसने सपने में देखी सत्यता सकल संसृति की,
जो जीवन बिता रहा है, लकुटिया लिये संस्मृति की,
उसको सव जग कहता है, है बड़ा ढालने वाला,
कहते हैं सुध-बुध बिसरो पीकर जीवन का हाला;
जग को वह क्या समझाये? जग है आँखों का अन्धा;
जग समझ-बूझ वाला है, वह ना समझी का बन्दा।

सपने ही की क्रीड़ा में, सब जीवन बिता दिया है,
माया की मृदु - मूरत पे, सर्वस्व निसार किया है;
छिन खिली धूप - जग - मग में, छिन में अँधियारी आयी,
यों निपट धूप - छहियाँ में जीवन की अवधि बितायी;
थोड़ी - सी बाक़ी घड़ियाँ, अब कट जाने दो यों ही,
मत तोड़ो गहरा सपना, ओ जी पीतम निर्मोही।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
१० अगस्त, १९३२

■

पुकार

ओ मेरे गोपाल छबीले कुछ ठुनका दो पाँजनियाँ,
झुन-झुन-खुन-खुन-टुन-टुन-धुन की तुम बरसा दो याँकनियाँ;
पाँजनियाँ-किंकिणियाँ गूँजे हुलस उठें ब्रज की जनियाँ,
मैं बलि जाऊँ, तुम कुछ ठुमको, डोलो, मम घर - आँगनियाँ,
प्यासे श्रवण, हृदय अकुलाया, धुन सुनने को नूपुर की
अहो, हठीले ज़रा ठिठक, टुक आज हरो पीड़ा उर की

एक-एक रुन-झुन में उलझीं आकांक्षाएँ कई - कई;
तुम क्या जानो, निठुर, जगी है क्या-क्या पीड़ा नयी-नयी
रही-सही यह लाज निगोड़ी बह-बह गयी नयन जल में
उझक-उझक मग जोह रही है कठिन प्रतीक्षा पल-पल में
कुटिया के दरवाज़े बैठा कब से कान लगाये मैं,
निष्ठुर, अब तो आ जाओ, इस घनी कुहू के साये में।
डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैजाबाद
२७ नवम्बर, १९३२

■

अज्ञान

क्या जानूँ यम-नियम-उपनियम, सनम, तुम्हारी गलियों के ?
यों ही उलझ गयी फन्दे में मैं तो तुम-से छलियों के
मैं ग़रीबिनी क्या जानूँ तव पूजन की विधियाँ सारी ?
मैं क्या जानूँ क्या होती हैं योग - नियम-विधियाँ सारी ?
आँख लगी, अरमान जगे, अब कहते हो कि नियम पालो ।
अब तो आन पड़ी हूँ दर पे जैसे जी चाहो टालो

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैजाबाद
२४ नवम्बर, १९३२

■

स्थिति वैचित्र्य

कुछ हिसाब नहीं कि क्या-क्या है मेरे अन्तस्तल में,
क्या गणना है कितनी बातें धँसी हुई इस दल-दल में ?
आकांक्षाएँ डूब गयी हैं कितनी ही इस हिय-तल में ?
ज्ञात नहीं कितने बुदबुद हैं उठते इस पंकिल जल में ?
हिय में उत्पल है कि उपल है ? इसका भी कुछ ज्ञान नहीं
इस हिय-थल की उथल-पुथल पर जग देता है ध्यान कहीं ?

मेरी भर्रायी कण्ठ-ध्वनि में है आह भरी जग की,
कौन जान सकता है पीड़ा मेरे शब्दों के मग की ?
खींच-तान होती है बैठे हुए गले की, रग-रग की,
तब भी नहीं सुनाई देती कल-ध्वनि शब्दों के खग की,
रुद्ध कण्ठ के पिंजर में है वचन-कीर अवरुद्ध यहाँ
शब्दों की चातुरी सलौनी आज हुई हत बुद्धि यहाँ ।

आँखों के पलड़ों में तुलते हैं मोती दिन - रात यहाँ;
क्या जानूँ किसके कहने से होता बिन्दु - निपात यहाँ ?
जब से आँख सँभाली तब से हुई अनोखी बात यहाँ–
दीखा सदा गगन धुँधला-सा मुझको सायं-प्रात यहाँ;
रात यहाँ, मध्याह्न यहाँ, है प्रात यहाँ इन नैनों में,–
शयन, जागरण, नवोत्थान हैं इन नैनों की सैनों में।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१४ जनवरी, १९३१

■

रुन-झुन

क्या-क्या भरा हुआ है नूपुर की इस रुनुक-झुनुक में ?
सखि, बतला दो क्या भर लायी हो इस ठुनुक-ठुनुक में ?
इन झाँझों की खन-खन में यह क्या ध्वनि सुन पड़ती है ?
बोलो, मुई सुई-सी यह मृदु रुन-झुन क्यों गड़ती है ?
मत डोलो आँगनियाँ में यों खनकाती पाँजनियाँ;
कभी-कभी तो माना करो बात मेरी, हाँ, रनियाँ !

पाँजनियों के मिस हिय - झंकृति की क्रीड़ा करती हो;
सहज चाल के मिस जीवन में क्यों पीड़ा भरती हो ?
कोमल चरणों के आभूषण में बोलो तो, रानी,
किसने भर दी पीड़ा ? है वह कौन वेदना दानी ?
अमल कमल सम पद-विन्यासों की कोमल झंकारें –
हिय में क्यों ठनका देती हैं पीड़ा की टंकारें ?

चरण - नूपुरों से उठती है कम्पित - सी स्वर - लहरी,
मानो लोहित दीप - शिखा कुछ कँपती हो, कुछ ठहरी;
चरणों के तलुओं की लज्जित - सी मेंहदी की लाली –
भरी हुई है, सजनि, तुम्हारी रुनझुन में मतवाली;
पाँजनियाँ, किंकिणियाँ, झाँझें गूँज रही हैं बाले।
सरसा रहे वेदना हिय में ये नूपुर धुनवाले॥

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१५ जनवरी, १९३१

■

कुण्डल

केशावृत युग कर्णों में –
क्या छटा रुपहरी छिटकी ?
इस कच - निशीथ में आकर
क्यों प्रखर दुपहरी ठिटकी ?

तारों मिस क्या अँधियारी,–
यह चमक रही है क्षणदा ?
अथवा यह विहँस रही है ?
घन तिमिर विजयिनी रणदा ?

हीरक ताटङ्क सलौने–
युग श्रवणों में लटके हैं,
मानो दिङ्मण्डल - पथ में
दो इन्द्रधनुष अटके हैं।

कुण्डल की यह झाईं है ?
या चमक रही है आशा ?
या दीप सँजोये बैठी—
यह मेरी हिय - अभिलाषा ?

झुक झूम-झूम डुलते हैं,
आगे - पीछे झूले - से;—
दायें - बायें हिलते हैं
कुण्डल फूले - फूले - से।

'हाँ' — कहते ही, ऐ बाले,
झूले की पैंग बनें ये;
'नाँ' कहते दायें - बायें—
हिल उठें लाज सने ये।

कुण्डल संकेताक्षर हैं—
'हाँ - नाँ' की हिय - भाषा के;
सखि, टँगी निराशा इनपे,
ये हैं बन्धन आशा के।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
३ मार्च, १९३१

■

वह बाँकी झाँकी

वसन्तोत्सव के दिन तुमने
निज विद्यालय में, रानी,
बाल - कृष्ण - लीला खेली थी,
निपट नवल रस में सानी;

लम्बे सघन कुन्तलों का संखि, –
तुमने बाँधा था जूड़ा;
कोमल पाणि युगल में ली थी
स्वनित मुरलिका रस - गूढ़ा;
सुकुमारी चूड़ियाँ तुम्हारी, कर - कंकण बन आयी थीं,
अली, सुना है उस दिन श्यामल जल-घन बन तुम छायी थीं।

कम्पित जल की परछाईं-सी, –
औचक चपला चलिता-सी, –
रंग मंच पर तुम आयी थीं, –
कृष्ण रूप धर ललिता-सी;
मोर मुकुट थिरकाती थी वह, –
सलज चाल की ठुमक भली;
बजा रही थी किंकिणियाँ
वह चरण-न्यस्ता झुमक, अली;
मोहित हुईं दर्शिकाएँ सब जगमग हुई नाट्यशाला;
कुछ जादू कर गया, सजनि, वह रूप तुम्हारा मतवाला।

एक बार वैसे ही धारे –
मोर पंख का मुकुट नया, –
कुछ लज्जित-सी कुछ खिलती-सी–
ठिठक-ठिठक आओ कृपया,
एक बार वह दरस दिखा दो,
जिसकी इतनी है चरचा;
सखी-सहेली मन में जिसकी–
करती हैं अब तक अरचा;
मेरे हिय में सदा बसो उस कृष्ण रूप में तुम, मृदुले;
नारी बनी, नटेश्वर मेरे हिय में सरसो तुम अतुले!

श्याम बनो, अभिराम बनो,
अविराम करो हिय में क्रीड़ा;
परदे की इस ओर, सजनि, तुम,
प्रकटो, छोड़े निज व्रीड़ा;

मुरली लिये पधारो, हिय में
मृदु स्वर की पीड़ा भर दो;
मेरे सूने वृन्दावन में—
आज रास-क्रीड़ा कर दो;

जूड़ा बँधा, मयूर-मुकुट, कर मुरली, हाँ क्या छवि बाँकी।
कृपा रूप धारिणि स्वामिनि, अब दिखला दो अपनी झाँकी!

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१२ जनवरी, १९३१

■

माँग

बोलो, किसने माँग भरी यह,
सजनि, तुम्हारी सुकुमारी?
इन कालों के ऐन बीच यह—
दीप-शिखा - सी मृदुला, री,

सुनते हैं कि दीप कालों के—
आगे नहीं जला करता;
सुनते हैं नागों के सम्मुख—
कोई दीप नहीं धरता;

रंच बता दो किसने लौ यह आन लगायी है प्यारी?
बोलो किसने माँग भरी यह सजनि, तुम्हारी सुकुमारी?

कौन साहसी है वह जो यूँ–
खेल रहा है कालों से ?
कैसी होगी वह कंघी–
जो उलझी हो इन बालों से ?

हम नौसिखिये लहर खा गये–
देख - देख क्रीड़ा इनकी;
ख़ूब फँस गये कुण्डलियों में,
अनुभव की पीड़ा, इनकी,

अरी फूँक दो विष के मन्तर की कड़ियाँ न्यारी-न्यारी
वोलो किसने माँग भरी यह सजनि, तुम्हारी सुकुमारी ?

सेंदुर की सीधी रेखा यह,
खींची बड़ी चतुरता से,
अलि, किसने अरुणिमा छबीली
भर दी है आतुरता से

क्या धारे हो मस्तक पर सखि,
इसका तुम्हें पता क्या है !
लोहित, विजित, हमारे हिय की
यह तो अरुण पताका है।

करुण हमारी मूक वेदना आज निखर आयी सारी;
वोलो किसने माँग भरी यह सजनि, तुम्हारी सुकुमारी ?

आज निखिल ब्रह्माण्ड हो गया–
है विभक्त दो भागों में;
अथवा दो रातें उलझी हैं
अरुण उषा के धागों में ?

यह कौमार्य और यौवन का
किंवा सन्धिकाल आया ?
या परिणीता अमल माधुरी
की है मदमाती छाया ?
सजनि, माँग है ? या आया है कोई यहाँ क्रान्तिकारी ?
बोलो किसने माँग भरी यह आज तुम्हारी सुकुमारी ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१५ जनवरी, १९३१

■

मेरी टूटी गाड़ी

ढचर - ढचर करती जाती है मेरी टूटी गाड़ी,
जर्जर हुईं आज मेरी सब नस - नस, नाड़ी - नाड़ी ।
दौड़े चले जा रहे हैं सब अपने - अपने रथ पे,
भागा - भाग मची है स्पर्धा- मिश्रित जीवन पथ पे ।
धूल उड़ रही है, क्षण - क्षण में उठे गर्द - .गुब्बारे;
मँडरा रहे बवण्डर पथ में कैसे न्यारे - न्यारे;
घोर अशान्ति, क्रान्ति की क्रीड़ा करती है पल-पल में;
धुँआधार मच रहा विकम्पित विचलित अन्तस्तल में,
सभी सभी से आगे रहना चाह रहे इस मग में,
अजब बावलों का समूह है एकत्रित इस जग में;
इस जग-मग में आन फँसा हूँ मैं भी एक अनाड़ी,
ढचर-ढचर करती जाती है मेरी टूटी गाड़ी ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
११ जनवरी, १९३१

■

घड़ियाल बजाने वाले

घन-घन करते चले जा रहे हैं ये बैठे-ठाले,
क्या पागल हो गये आज घड़ियाल बजाने वाले ?

सुबह-शाम, दिन-रात गिन रहे हैं ये बीती घड़ियाँ
जमा हुए हैं यहाँ निठल्ले देखो, बड़े निराले।

मुगरी लेकर धमा-चौकड़ी मचा रहे मनमानी,
या एकत्रित समय - कोष पर डाल रहे हैं ताले !

काल बली के टुकड़े-टुकड़े कर के ये कहते हैं :—
'इतनी तो निभ गयी, अरे, थोड़ी-सी और निभा ले !'

क्षण-क्षण चली आ रही है अति निकट अन्त की घटिका
अरे, आखिरी घड़ी टली है कभी किसी के टाले ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१० जनवरी, १९३१ रात्रि, २-३०

■

पत्र

मेरी रानी,

पानी पानी हुई सियाही यह मेरी,
हाथ कँप रहे, लगा रही है निष्ठुर क़लम वृथा देरी,
घेरी हैं आँखें पलकों ने, चिर, दुविधा हिय में छायी,
लिखूँ ? न लिखूँ ? क्या लिखूँ ? कैसे लिखूँ ? समस्या घिर आयी;

होंगे कैसे प्रकट वुलवुले चपल, सरस नीके - जी के ?
फैल रही है स्याही, आखर उभर रहे फीके - फीके !

हे कल्याणि,

पाणि-युग लतिका - से आडोलित डोल रहे,–
छिन उलझाते छिन सुलझाते हृदय ग्रन्थियाँ खोल रहे;
आँसू घोल रहे स्याही में अजब सुर्खियाँ नयी - नयी,
एक - एक अक्षर से छिटकीं आतुरताएँ कई - कई;
धुल-धुल कर धुँधले अक्षर वह चले नयन के जल-कण से,
अन्तर्हित हो रहे शब्द सब मम मृदु विगत संस्मरण - से।

कामिनि,

यामिनियाँ - सी चमके हूक हिये में रह - रह के,
इधर भिगोतीं पत्र व्यर्थ ही फूहड़ आँखें वह - वह के,
कह - कह चहक रहा है बीती गाथा मनुवाँ कीर मुआ,
आज हृदय के अटल उपल से कुछ लोहित-सा नीर चुआ,
ना जानूँ क्या हुआ कँटीली क़लम जिस घड़ी से थामी,
भटक रहा हूँ, देवि, हुआ हूँ जब से इसका अनुगामी।

स्वामिनि,

यामिनियाँ घन छायीं इधर - उधर सब ओर यहाँ;
फैल रही आँखों के पथ में अँधियाली घनघोर यहाँ;
ओर छोर है कहाँ ? पन्थ की दिखती नहीं तनिक रेखा;
इधर तुम्हारी छबि दिखलाती आशा वनी चित्रलेखा;
जाऊँ किधर ? कहाँ मन्दिर है ? ओ मूरत, कुछ वोलो तो;
कुम्हला रहे कुसुम ये मेरे पूजा के पट खोलो तो।

अनुरागिणि,

विरागिणी बनकर विचर रही है लगन यहाँ,
घूम रही है भसम रमाये अलमस्तानी मगन यहाँ,
कहाँ - कहाँ यह अलख जगाती फिरती यों पगली - सी है,
दिखने में विक्षिप्ता - सी है, पर, यों भली - भली - सी है,
संन्यासिनी बनी फिरती है अन्वेषण रत लगन, अली,
सूनी है, धूमायित भी है देखो उसकी गगन - थली ।

प्रमदे,

भ्रम देखे हैं, सम्भ्रम भी देखे इन आँखों से,—
आँख लड़ायी हमने भी दस - बीसों से क्या, लाखों से ?
कुछ दुनिया हमने भी देखी हम भी इधर - उधर भटके
पर क्या कहें ? तुम्हारे दर पर ही आकर लोचन भटके ।
तब से कुछ ऐसा जुनून यह छाया है अलमस्ताना,
अपने पागलपन पर हमने जाना कभी न पछताना ।

वाले,

छाले पड़े हुए हैं; क्यों पड़ जाते हैं छाले ?
यह अपने रसज्ञ हिय से तुम चुपके - से पूछो, बाले,
पाले बड़े नाज़ के ये, क्या जानें जग के रँग - ढँग ये ?
नेह - भरे भोले - भाले हैं, रखते सदा व्यथा सँग ये;
हिय - फुलवारी में तुमको ये पारिजात - से फूल मिले,
आकर्षण - संघर्ष - विकर्षण - बल्लरियों के कुसुम खिले !

सजनि,

रजनियाँ निस्तब्धा जब उपवन में छा जाती हैं —
तब मानस के शून्य गगन में लहरें कुछ घहराती हैं;

कभी तुम्हारे नूपुर की ध्वनि खन-खन करती है मन में,
कभी चूड़ियाँ झंकृत होतीं मधु-समीर के निःस्वन में;
सलज तुम्हारी हँसी सलौनी मैं निर्जन में सुनता हूँ,
नीरव उपवन में मुसक्यानों की नव कलियाँ चुनता हूँ।

ललिते,

तुम्हीं बता दो क्या-क्या लिक्खूँ छोटी पाती में?
कुछ लिखता हूँ तो होती है धुक-धुक मेरी छाती में,
इसे कहूँ संकोच? भीरुता? या, लज्जा? इसको, बाले,
क्यों पड़ जाते हैं यों मेरे शव्दों पर सहसा ताले?
संकोची है, निपट निरक्षर है यह मेरा प्यार, सखी,
निरी असंस्कृत, शब्द-हीन है उत्कण्ठित मनुहार सखी।

प्रेम, प्यार, आकर्षण, घर्षण बोलो किसको कहते हैं?
झर-झर करते लोचन झरने क्यों उमड़े-से वहते हैं?
रहते हैं किस देश छबीले रोदन-गायन के स्वन ये?
सिमिट छुपे किस मंजूषा में मुझ अति निर्धन के धन ये;
कौन देश की यह विदेशिनी प्रीति-रीति मग में छायी?
जावन-संचालन की कैसी नयी-नयी विधियाँ लायी?

सजनि, बता दो तनिक, कँपकँपी क्यों होती दिन-रात यहाँ?
क्यों होते इस बैरिन के ये घात, और प्रतिघात यहाँ?
इस रोमांचकारिणी ठगिनी का है नीरव नीड़ कहाँ?
तनिक बता दो वह थल, भावों की उमड़ी है भीड़ जहाँ;
देखो तो यह कम्पन रह-रह स्मरण-करण्डक खोल रहा,
करता है उत्पात, देख लो, रोम-रोम में डोल रहा!

सुनता हूँ कँपकँपी व्याप्त है इस जगती के कण-कण में,—
जड़ में; चेतन में, विकास के अणु-अणु के संघर्षण में;
सुनता हूँ, कम्पन होता है अचल उपल के अन्तर में,—
धुक-धुक होती ही रहती है इस सूने-से अम्बर में;
सजनि, दुरूह जनश्रुति है यह, इसमें मुझे प्रतीति नहीं,
तुम तो दिखलाती हो कम्पन-हीन प्रीति की रीति नयी !

कम्पन से कम्पन होता है - यह भी गुरुजन कहते हैं;
सुनते हैं कि एक के लोचन देख अन्य के बहते हैं;
क्या प्रतिवाद भयंकर मेरे लिए नियम सब हैं जग के ?
मेरे लिए त्रिशूल हो गये क्या सब फूल नियति-मग के ?
रग-रग रोम-रोम निशि-वासर नाम सुमरनी फेर रहे;
देखो, कितनी आतुरता से वे सब तुमको टेर रहे।

ओ मृदुले, क्या लिखूँ बताओ इस बिलखाती पाती में ?
कैसे हिय निचोड़ रख दूँ मैं इस पाती अकुलाती में ?
खींच रहा हूँ टेढ़ी - मेढ़ी रेखाएँ कँपते कर से;
विभ्रम सम्भ्रम - भाव चुआ है मेरे अक्षर - अक्षर से;
भाषा की दीनता, शब्द की दरिद्रता खल रही मुझे
पत्र लेखनोत्सुकता की यह ज्वाला कैसे, अहो, बुझे ?

क्यों लटकी हो तुम आशा की फाँसी-सी जीवन-मग में ?
पड़ी तुम्हारी स्मृति की बेड़ी हिय-उत्कण्ठा के पग में;
भीगे पंख, सजनि, मेरे इस कृष्ण कल्पना मधुकर के;
छिटक रहे हैं धवल लवण-कण, लोल लोचनों से ढरके,
काँप रही है जीवन मग के कृश-तरु की डाली - डाली;
सूख रही स्निग्धता रसीली, लुप्त हो रही हरियाली !

है क़सूर किसका कि जवानी चिर वियोग की रात हुई ?
किसका दोष कि जीवन की षड् ऋतुएँ चिर बरसात हुईं ?
दोष किसी का नहीं हृदय अभिलाषा हुई विरानी, री,
जब से सुरत सँभाली, तब से करता हिय मनमानी, री,
जाने दो, मत सुनो, व्यथा है मेरी बहुत पुरानी, री,
सदा रहो, तुम नव 'नवीन' के हिय में ओ ठकुरानी री !

गाज़ीपुर
जनवरी, १९३१

■

किमिदम्

जीवन की दोपहरी में ही आज साँझ हो गयी, सखे,
आशा की किरणें आँखों में निशा आँज सो गयीं, सखे,
गल-गल हिय का उपल बह चला बूँद-बूँद टपकी ज्वाला;
सकल विधान उलटने को यह क्रान्ति आ गयी विकराला

छलनी-छलनी हृदय हो रहा,
मन क्रम वचन हताश हुए;
जीवन-भर के विमल मनोरथ
एक साथ गतआश हुए !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ अप्रैल, १९३१

■

फिर से

फिर से क्या आफ़त आयी।
दिल कहाँ गया वह अपना ?
है अजब हाल इस मन का
देखे हैं दिन में सपना।

कँपना हिय ने सीखा था
आँखें सीखी थीं झपना,
पर रसना ने सीखा है–
अब किसी नाम का जपना।

अलमस्त सदा के ठहरे
अल्हड़ नवीन ये झेले,
फिर आज बह चले इनके–
हिय के सुकुमार फफोले।

थे गये सहज ही कासी
गल-फाँसी ले आये ये,
कासी - करवत के बदले
हिय - गाँसी ले आये ये।

विभ्रम सम्भ्रम की अपनी–
भूली - सी अकथ कहानी,–
इनने मूरखता करके
फिर से कहने की ठानी।

अपनी पोथी के पन्ने
ये उलट रहे हैं फिर से;
अन्तर में इनके ज्वर है
बाहर दिखते सुस्थिर से।

मानस के कोरे पट पे
छवि चित्रित कर लाते हैं;
फिर देख उसी को निशि - दिन
आँखें भर - भर लाते हैं।

समझाये से समझें क्या?
ये तो हैं बड़े हठीले
हैं हाथ बढ़ाते लेने
उत्फुल्ल प्रसून कँटीले।

अपनी हिय ठकुरानी का
दिन रात ध्यान धरते हैं,
हैं क्षणिक बुद्धि ये ऐसे
छिन जीते छिन मरते हैं।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१० सितम्बर, १९३१

एक घूँट

एक घूँट, हाँ एक घूँट, बस दे जाओ हे प्राण, मुझे,
तनिक समीप अधर-सम्पुट ले आओ, कुछ तो प्यास बुझे;
एक घूँट उन अधरों का मधुरस ले लेने दो कृपया,
एक घूँट देकर, स्वामिनि, यह प्यास बुझा दो, करो दया;
तड़पा हृदय, गला चिटका है व्याकुल मन, जीवन सूखा;
एक घूँट, हाँ एक घूँट में, लहरे रोम - रोम सूखा।

आधे खुले, मुँदे आधे, यों साधे नयनों में व्रीड़ा,
धक - धक करते हिय में धारे तन्मयता की मृदु पीड़ा,
ग्रीवा उठा, अरुण, मादकता लिये कपोलों में आओ,
झूम-झूम झुक आओ, मेरे बाहुपाश में बँध जाओ;
ललित - लाज से झगड़ा करती आतुरता को संग लिये,
एक घूँट, हाँ एक घूँट में सरसा दो मधुरंग, प्रिये !

एक घूँट की मादक स्मृति में डूबा मेरा जग सारा,
अव तो सूने मानस - मग में आन बहा दो रस - धारा,
मेरी लघु माधवी कल्पना, एक घूँट की मतवाली,
कव से खड़ी हुई है अपनी लिये हुए खाली प्याली,
आज अधर से अधर हमारे ये प्यासे मिल जाने दो,
एक घूँट, हाँ एक घूँट में दो दिल मिल हिल जाने दो।

रेलपथ : इटावा से इलाहाबाद
२५ सितम्बर, १९३१

■

उजड़ धाम

उजड़ गया हिय-भवन हमारा, उजड़ी प्रेम - नेम-डगरी,
बरबस आज छुट रही सहसा अपने पीतम की नगरी;
रह-रह ये लोचन लालायित फिर-फिर पन्थ निहार चले,
अथवा अपनी निधि न्योछावर करते वारम्बार चले;
अटक-अटक कुछ ठिठक-ठिठक कुछ मटक-मटक झुकते-झुकते,
अलस, थकित हम यात्री चलते जाते हैं रुकते - रुकते ।

सदा राज महलों में भटके हम हिय का सौदा करते,
बड़े जतन से गाहक ढूँढ़ा, आँखों के झरते - झरते,
हिय हारिणी रुझान देखकर, लज्जा से मरते-मरते,
अपनी चीज़ सामने रख दी हमने कुछ डरते - डरते,
गाहक उठे, — बलाएँ लीं हिय - निधि की जीवन - ऊषा में,
फिर कह उठे कि वस्तु सुघड़ है, रख लो निज मंजूषा में ।

यों ही हम नवीन मतवालों का हिय - भवन उजाड़ हुआ;
इस जीवन का एक-एक क्षण अव तो विकट पहाड़ हुआ;
विफल जवानी में मनसूबे आये, ठहरे, चले गये,
हमसे नव नवीन ज्ञानी भी देखो सहसा छले गये;
भले गये - हाँ भले गये वे चंचल मनसूबे मन के,
वुरा हुआ जो छोड़ चले वे कुछ संस्मरण विगत क्षण के ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ अक्टूबर, १९३१

■

व्याकुल

क्या ही अदा तुम्हारी, क्या ही शग़ल तुम्हारा!
दिन-रात खोजते हो जीवन का इक सहारा।

नत ग्रीव क्यों हुए हो? लोचन उठा के देखो,–
अब ढल चुका है सूरज, है शून्य पन्थ सारा।

घनघोर कामनाएँ - हिय में उमड़ घुमड़तीं,
बरसायेंगी कभी ये रस की अटूट धारा?

पागल समझती तुमको दुनिया 'नवीन' भोले;
तुम तो बताओ लेकिन उपनाम क्या तुम्हारा!

शौक़ीन तुम बड़े हो, उनको बुला रहे हो;
यह तो कहो कि तुमने उनको कहाँ निहारा?

सरकार, न आओ तो नूपुर तो मत बजाओ–
इससे तड़प उठे है आकुल हृदय हमारा :

इतना तो करो मालिक झिलमिल की ओट ही से–
मेरी सदा पे परदा हिल जाये कुछ तुम्हारा!

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
२ जनवरी, १९३०

■

भोली मूरत

ओ भोली मूरत, मत आओ
तुम मेरे लोचन पथ में;
अभी नहीं विस्मरण खण्ड का
कर पाया हूँ यह, पथ मैं!
सुनो, सीख लेने दो मुझको
नव विस्मृति का पाठ ज़रा;
ज़रा सुखा लेने दो मुझको
अपना हियरा हरा - भरा;
अपनी मुसकाती आँखों की—
झाँकी तुम मत दिखलाओ;
बाले, अवगुण्ठन में रहकर
तनिक भूलना सिखलाओ।

मधुर मधुर फुहियों-सी रिमझिम,
मत बरसाओ विमल हँसी,
लह - लह कर अंकुरित बनेगी
मम आशा - क्यारी हुलसी;
झुलसी हुई पड़ी है मेरी,—
खेती यों ही रहने दो;
ज़रा रोक लो तुम अपनी यह
स्मिति-धारा, मत बहने दो;
सूखा खेत, मड़ैय्या टूटी,
फटी बाँस की बाँसुरिया,
अब न गुदगुदाओ, दुखती हैं
सखि, 'नवीन' की पाँसुरियाँ!

■

वेणी

अरी ओ उत्कण्ठित सुकुमारि,—ज़रा सुलझा लो उलझे बाल।
ये काले लाँबे भँवराले,
अलि, ये बड़े नाज़ के पाले,
बिखर रहे हैं ये मतवाले,
सुन्दरि, कर दो इन्हें निहाल — ज़रा सुलझा लो उलझे बाल।

तन्तु नाम के विरल जाल-से,
लोचन कण की तरल माल-से,
वायु विडोलित कमल-नाल-से,
झूम रहे हैं बाल विशाल — ज़रा सुलझा लो उलझे बाल।

कर में ले लो कंघी पैनी,
आज गूँथ लो सुन्दरि, वेणी;
यहाँ बहा दो श्याम त्रिवेणी
उठने दो तरंग उत्ताल — ज़रा सुलझा लो उलझे बाल।

धूमशिखा-सी हिल डुलती हैं,
निशि-तम से मिलती-जुलती हैं,
सजनि, लटें रह-रह खुलती हैं,
कैसा इनका हाल विहाल — ज़रा सुलझा लो उलझे बाल।

गौर वदन पर फहराते हैं,
युग कपोल पर लहराते हैं;
श्यास - जलद-से घहराते हैं;
बाल हैं कि मेघों की माल ? ज़रा सुलझा लो उलझे बाल !

वेणी अली, बाँध लो कमकर,
ललित कुसुम गूँथो हँस-हँस कर,
देखो इधर नैन में रस भर,
तुमको विश्व विजय की चाल—ज़रा सुलझा लो उलझे बाल।

बाँधो चोटी बड़ी चुभीली
अति अनियारी, बड़ी नुकीली,
लगन, देख हो जाय, चुटीली,
भरे वेदना से हिय-थाल – ज़रा सुलझा लो उलझे बाल।

तन्मय-सी मत देखो दर्पण,–
कर दो कहीं न आत्म-समर्पण,
है ऐसा केशों का कर्षण,
मानो सिखवन, भोली बाल,–ज़रा सुलझा लो उलझे बाल।

चित्र लिखी-सी सस्मित-सी तुम–
केश न देखो, विस्मित-सी तुम;
मन-मोती होवें न कहीं गुम–
है अति सघन, सुमुखि, कच-जाल,–ज़रा सुलझा लो उलझे बाल।

एक-एक कुन्तल से, रानी, –
बँधी हुई हिय लाज सयानी,
अब गूँथो वेणी कल्याणी,
आया है यह यौवन - काल, – ज़रा सुलझा लो उलझे बाल।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
२० जनवरी, १९३१

■

एकाधिपत्य

देखो तो 'नवीन' है कैसा शूल तुम्हारी पसली में ?
कौन करकराहट भर लाये तुम नैनों की तसली में ?
वह झुँझलाहट सखे, तुम्हारी, यह अनमना भाव मन का,–
साफ़ कह रहा है कि लगी है जंग गले की हँसली में ।

बड़े शौक़ से तौक़ गले में डाले तुम घूमो हो, जी,
नहीं समझ पाये ? यह तो है लौह खण्ड, ऐ मनमौजी,
इन खनखनती लौह-शृंखला की कड़ियों को गिन-गिन के,
आज सुस्त - से याद कर रहे तुम अपने किन-किन को जी ?

मन में जो खुट - खुट होती है, यह क्या है, कुछ बोलो तो ?
ज़रा सँभल कर अपने मन के पलड़े पर कुछ तोलो तो;
नेह - हाट में फैल रही है नित एकाधिकार चिन्ता,
क्या तुम भी फँस गये इसी में ? अपना हृदय टटोलो तो ।

देख तौक़ की यह कड़ियाँ तुम याद करो हो इन - इन को,
जिनके कारण गुण - बन्धन का पाठ मिला तुम निरगुन को;
आज तुम्हारे कहाँ रहे ? वे सभी पराये ख़ूब हुए;
फिर एकाधिपत्य के पीछे और अधिक क्यों हो ठुमको ?

तुम भी क्या अनुभव करते हो, अरे डाह का दाह सखे ?
तुम तो बड़े मस्त-मौला हो, तुमको क्या परवाह सखे ?
तुमने दिल देना सीखा है, यह लेना कब से सीखा ?
हठी ! यहाँ जग में क्या रखना कुछ लेने की चाह सखे ?

जानू हूँ एकाधिकार तो दिल का एक तक़ाज़ा है,
प्रेम - पन्थ पर नित चलने का यह भी इक खमियाज़ा है;
किन्तु पूर्ण अधिकार तुम्हारा यदि उनको अस्वीकृत हो,
तो फिर चुपके - चुपके सह लो हृदय - घाव जो ताज़ा है।

करने को खिलवाड़ यहाँ पर आये हैं कैसे - कैसे,
खूब याद है उनकी सारी अदा, और वे थे जैसे;
छिन-भर करके चुहल रसीली बिदा हुए दिलदार सभी,
अब तो केवल मन समझाना यहाँ रहा जैसे - तैसे ।

■

कृपाकोर ?

क्या मेरे मालिक रीझे हैं,
सचमुच मेरी रचना पे ?
नाच उठीं क्या मम कवित्व की—
कड़ियाँ उनकी रसना पे ?
आज पूछते हैं : वे मेरी
कविता-कोकिल-कूक कहाँ ?
कहते हैं कि अजी, रख दो तुम
अपना हिय दो-टूक यहाँ
आँखें चार हुईं; यह अटपट
सन्देसा आया प्यारा
दिखला दो नवीन तुम अपना
हिय - सम्पुट न्यारा - न्यारा ।

क्या ही भोलापन है, क्या ही–
मीठा - सा अल्हड़पन है।
हृदय गुदगुदाना विनोद में,–
क्या ही नवल सुघड़पन है।
तुम क्या जानो कैसे मेरी–
कविता मूक हुई, बाले?
तुम क्या जानो पड़ जाते हैं
कैसे प्राणों के लाले?

तुम तो इठलाती, यौवन के–
प्रांगण में हो डोल रहीं;
एक - एक पद संचालन में
हिय का सब कुछ मोल रहीं।

हँस - हँस पूछो हो कि सुनाई–
देती नहीं तान मेरी?
पूछ रही हो : कहाँ गयी वह–
पहले की उड़ान मेरी?
किसने मेरे गीत-विहग के
मृदु पंखों को नोच लिया?
तुम्हीं कहो, किसने ठुकरा दी
मेरे फूलों की डलिया?

निठुरे, ओ निठुरे, बोलो तो,
यह भी लापरवाही क्या?
अपने ही जन के ऊपर यह
ऐसी नादिरशाही क्या?

सूखी तृण-शय्या पर सोती–
है मेरी कविता-बाला,
सजनि, पिन्हाओ मत तुम –
उसको अपनी सुस्मृति की माला;
धीरे से धक्का लगते ही –
उमड़ेगा निःश्वास, अरी !
खुल जायेंगी आँखें, होंगी
विगत वेदना हरी-भरी;

एक-एक विस्मृति-तृण चुन-चुन –
सूखी सेज सजायी है;
बड़ी कठिनता से थोड़ी-सी–
कच्ची निंदिया आयी है।

■

पान

सुन्दरते, किन भावों की तुम मुग्धा-सी व्रीड़ा हो ?
किस मधुरी चंचलता की तुम रमणमयी क्रीड़ा हो ?
धीरे-धीरे, इन हाथों पर आकर रख देती हो–
निज कर निर्मित पान – देवि, क्या बदले में लेती हो ?
झुक जातीं ये पलकें – यों ही विनिमय हो जाता है।
लिये पान आता हूँ; चरणों में मन खो जाता है।

■

पिला दो

मुसकाती, मधु छलकाती-सी सखि, तुम साक़ी बन आओ,
निज मधु-भरी सुराही लेके, मदमाती बन-ठन आओ;
सीधा नहीं, तनिक टेढ़ा-सा किये मधुभरा सुघट नया,
सजनी, यौवन के पावस में सरसा दो कुछ रस कृपया;

अंजलि भर-भर ख़ूब पिला दो,
मेरे मृण्मय प्राण जिला दो,
कुछ क्षण मेरी बा - होशी को —
बे - होशी के संग मिला दो,

सुरस दान देती आतुर-सी, सजनी, मेरे मन भाओ,
मुसकाती, मधु छलकाती - सी सखि, तुम साक़ी बन आओ;

सूखे प्यासे अंग संग को, मधुरे, हरा - भरा कर दो,,
मेरे रीते अन्तरतर में तन्मय मधु पीड़ा भर दो;
सुध - बुध के कर्कश बन्धन को छिन्न - भिन्न कर दो कृपया,
लोक - लाज को मधु-धारा में आन बहा दो, करो दया,

पाया बहुत ज्ञान का परिचय,
जानूँ हूँ मैं ख़ूब नीति - नय;
यह असमंजस दूर हटाओ,..
मानो मेरा इतना अनुनय,

अपने नख से मधु रस का वह भरा कटोरा ठनकाओ,
मुसकाती, मधु छलकाती-सी सखि, तुम साक़ी बन आओ;

अपना ऐसा रंग जमा दो, कुछ ऐसी रस - धार बहे-
कि बस तुम्हारा ही दीवाना मुझे सकल संसार कहे;
उमड़ी नदिया-सी बह आवे तन्मय तान तरंगमयी,
उतरावे तादात्म्य भाव की उन्मत्तता अभंग नयी,

एक ख़ुमारी - सी छा जावे,
आँखों में मस्ती आ जावे,
आत्म विस्मरण के रजकण में—
हियरा अपनी निधि पा जावे,

ऐसी ढलवा दो सजनी, मत रीता प्याला खनकाओ,
मुसकाती, मधु छलकाती-सी सखि, तुम साक़ी बन आओ।

मन के मथित कथित भावो में चकित नया संसार जगे,
मधु रस में सरबस हो ऐसे दे दो प्याले प्यार पगे,
जिन प्यालों के एक घूँट में नये चाँद-सूरज चमकें,
दे दो ऐसे अतुल मद भरे जिनकी नव आभा दमके,

है यह दुनिया बड़ी पुरानी,
मुझे नयी गढ़ने दो, रानी,
आज तुम्हारे मधु प्यालों से,
नयी सृष्टि होगी कल्याणी,

पुरुष बना मैं, प्रकृति बनी तुम मदमाती बन-ठन आओ,
मुसकाती, मधु छलकाती-सी सखि, तुम साक़ी बन आओ!

■

नाविक ?

किस घाट औ घट पे तरी–
अटकी है आकर के कहाँ ?
यह लूमती, कुछ झूमती,–
है कगार ऊँची उठी यहाँ।

है कटाव का बड़ा ज़ोर याँ
विकराल - सी य' कगार है
घबरा के जर्जर नाव, रे,
पटकी है लाकर के कहाँ ?

यह टीला सम्भ्रम का खड़ा
है नहीं किनारा यहाँ कहीं,
अरे खेने वाले, सँभल ज़रा,
तू फँसा है आकर के कहाँ ?

नहीं लंगरों की पहुँच यहाँ,–
न दरख़्त का कोई आसरा।
सपने का मोहक जाल है
सब ओर फैला जहाँ - तहाँ !

चल लौट नाविक, ऐ मेरे,
तरी डाल दे मँझदार में
लहरों में, भवरों में पड़ी
बहने दे नैया यहाँ - वहाँ !

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
८ जनवरी, १९३१

■

बढ़े चलो

टूट गया, हाँ टूट गया – यह मेरा सुन्दर सपना;
छूट गया, हाँ छूट गया सब राग रंग रस अपना;
रूठ गया, हाँ रूठ गया अपना माशूक़ निराला,
फूट गया, हाँ फूट गया वह अलमस्ती का प्याला;
फूटा प्याला, टूटा सपना, संग लिये इठलाते,
बढ़े चलो, हाँ बढ़े चलो तुम पे नवीन मदमाते!

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ नवम्बर, १९३१

■

दिवाली

जगमग - जगमग हुआ आज यह टूटा-सा घर आली,
इतनी कृपा? सँजोयी तुमने आके यहाँ दिवाली?
ज्योति जगाने वाली, ओ तुम दीपक - बाती वाली,
ख़ूब किया जो आज इधर भी छिटका दी उजियाली!
मेरी सन्ध्या की अँधियाली की तुम सुन्दर लाली,
लहराओ मेरे आँगन बन दीप - शिखा मतवाली।

मुझे बहुत.. कुछ लिखनी हैं जीवन गायन की कड़ियाँ,
भला किया – आलोकित कर दीं तुमने श्यामल घड़ियाँ,
तुम सिरहाने बैठो - मैं लिक्खूँ कुछ अपनी बीती,
देखो तो कैसी है गाथा यह मेरी मनचीती;

लिखी - अधलिखी, कही - अधकही, टूटी - फूटी बातें,
तुम झुक - झुक कर पढ़ती जाओ शरमाते सकुचाते।

आज अमा के नभ में चमकें झिल-मिल झिल - मिल तारे,
मेरे टूटे घर में चमकें दीपक सजनि, तुम्हारे;
बड़ी कृपा की शून्य साँझ यह तुमने जगमग कर दी
दीप - दान देकर वन्ध्या - सन्ध्या की गोदी भर दी !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
९ नवम्बर, १९३१, दीपावली

■

नहीं - नहीं

आज ? नहीं; कल ? नहीं, खूब है
सहज रसीली 'नहीं - नहीं ।'
मन्दस्मित है कहीं, अनोखी
झुँझलाहट है कहीं - कहीं;
सजनि तुम्हारी 'नहीं - नहीं' यह
'नेति - नेति' हो गयी भली,—
नेहाराधन के वेदों में
क्या ही चरचा नयी चली
इधर नहीं, उस ओर नहीं, इस ओर नहीं, सब ओर नहीं !!
देवि, आज क्या पा न सकूँगा नहीं - नहीं का छोर कहीं ?

'न - ना - निन्नी' ही की क्या तुम
लिखती हो बारहखड़ियाँ ?
क्यों नकार के धागे में हैं
गुथीं वचन की मृदु लड़ियाँ ?

खूब गुनगुनाती गीतों की
कड़ियाँ न-न-न-न-न-न धुन में
क्या ही मधुर नकार छुपाया
किंकिणियों की रुनझुन में !
इस नकार की मीमांसा का अर्थ ज़रा समझा देना–
मेरी उलझी हृदय ग्रन्थि को और ज़रा उलझा देना – !

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१० दिसम्बर, १९३०

■

ढुल-मुल

आज तुम्हारी आँखों में आँसू देखे तड़पन देखी
अमित चाह देखी, रिस देखी, लोक-लाज अड़चन देखी,
आज तुम्हारे नयन पुटों में सपनों को जगते देखा,
आज अचानक सजनि, तुम्हारे हिय की सब धड़कन देखी।

अलस शिथिलता लिये, विवशता लिये, पराजित भाव लिये,–
निपट दीनता लिये, सलौने हिय का संचित चाव लिये,–
करुणा भरे दृगों से तुमने क्यों देखा यों अकुला के ?
आज सभी कुछ प्रकट हो गया, रहा न रंच दुराव, प्रिये।

हो जायेगा धीरे - धीरे वही घाव इतना गहरा,
यह न पता था, क्योंकि सदा का जो मैं नौसिखिया ठहरा,
यदि मैं यही जानता होता, तो क्या यों बढ़के आता ?
सच कहता हूँ, बिठला देता मैं निज पुतली पर पहरा !

आधे खुले, मुँदे आधे दृग्, यों तुम मुझे निहार रहीं;
विकल छलकती उन आँखों से अपना सब कुछ वार रहीं;
ओ मेरे प्राणों की पुतली, बड़ा विकट यह जीवन है
नित्य लोक संग्रह में आड़े आती हैं दृगधार कहीं ?

आकांक्षा, एषणा, वासना, सुख का नित स्वाहा - स्वाहा !
और सनातन निर्दयता से मन का निपट दमन, हा हा—
यही, यही असि धारा - पथ है, ओ मेरी अच्छी रानी,
कैसे कोई कर सकता है इस जीवन में मनचाहा ?

कैसे दिखलाऊँ कि पड़े हैं मेरे हिय में भी छाले ?
तुम्हें चाहता हूँ कितना, यह कैसे जतलाऊँ बाले ?
किन्तु चाह का दाह मात्र ही इस जीवन का लक्ष्य नहीं;
कर्तव्याकर्तव्य - तत्त्व के पड़े हुए हैं हम पाले।

मेरा जीवन तो आँसू ही आँसू की है एक लड़ी,
पर, आँसू को उपल बनाना, है बस, यह है साधना कड़ी;
आज हृदय की अमल तरलता अश्म रूप बन जाने दो;
ओ कलिकाक्षि, न भर-भर लाओ अपनी आँखें घड़ी-घड़ी।

आज ज्वार आया है हिय में ? हाँ तूफ़ान भयंकर है;
मुझे सँभालो, प्रिये, तुम्हारा यह प्रवाह प्रलयंकर है;
बँधी हुई है ब्रह्मपाश के कच्चे धागे में जगती,
यों ही रहने दो, न बहाओ, यह बन्धन शुभ शंकर है।

आज पान देते ही देते, छलका नयनों से पानी,
देख तुम्हारी यह आतुरता मेरी मति-गति अकुलानी;
मेरे धीरज की भी कोई सीमा है, कुछ सोचो तो ?
देख अश्रु ये, भड़क उठेगी मेरी भावुक नादानी।

ओ सजनी, अब तो आ पहुँची मदन-दहन की यह बेला,
दीख पड़े है अब उखड़ा-सा केलि कुतूहल का मेला;
उजड़ चला है प्रेम-प्राण का हाट, बाट सूनी-सी है;
रहने दो एकाकी मुझको, हूँ एकोऽहं अलबेला।

यों ही, इस सूने जीवन में, संग मिला है कभी-कभी,
किन्तु अचिर ही रहे हृदय के मेरे ग्राहक वर्ग सभी;
कुछ क्रीड़ा-सी करते आये, कुछ शरमाये, कुछ झिझके,
एक मधुर सौदा तो, देखो, टूट चुका है अभी-अभी।

कुछ ऐसा ही-सा विधान है, मेरे इस लघु जीवन का,
कि बस नहीं मिलने का मुझको चिर संगी मेरे मन का;
तुम हो ! ओ भोली, पगली हो, बन्धुर मेरा पन्थ बड़ा,
बड़ा कठिन है, सजनि, निभाना किसी मस्त प्रेमी जन का।

यह ठगिनी आशा यौवन की, यह विषादमय स्फूर्ति निरी,
मदिर चाह यह, विकट प्यास यह, यह सन्तोष-अपूर्ति निरी,
ये सब बना चुकी हैं, मेरा जीवन एक तमाशा-सा,
देख चुका हूँ मैं बहुतेरी शून्य मृत्तिका-मूर्ति निरी।

अब तो रंच सँभल जाने दो, इतना यौवन बीत चुका,
एक बार तो कह लेने दो, कि मैं स्वयं को जीत चुका;
अब झटके पर झटके मत दो, तनिक रज्जु ढीली कर दो,
ग्रीव झुक गयी है यह मेरी, यह मस्तक भी, अहो, झुका।

हाथ जोड़ता हूँ, न बहाओ यों लोचन-मुक्ता धारा;
जीवन-पथ में कीच मचेगी, फिसलूँगा मैं बेचारा;
मेरे ऊँचे, नीचे, सँकरे पथ को पंकिल तुम न करो,
कीच और क्यों ? पहले से ही है जीवन-पथ अँधियारा।

■

उस पार

एक बार आओ हम दोनों चलो चलें उस पार, सखी,
जहाँ बह रही हो सनेह के विमल नीर की धार, सखी;
चलो, चलें, उस देस, जहाँ हो छिटका मंजुल प्यार, सखी,
जहाँ सकुचकर हो जाते हों दो-दो लोचन चार, सखी,
जहाँ कुंज की गलियों में हों मिलते दो दिलदार, सखी,
चलो चलें उस देस, ज़हाँ हो छिटका मंजुल प्यार, सखी !

लोक लाज सकुचे बैठी हो जहाँ द्रुमों के झुरमुट में,
जहाँ नेह की चाह खिल रही हो कलियों के सम्पुट में,
अन्धे नियमों की निर्मम यह क्षमता सुप्त ज़हाँ होती,
गतानुगति के अन्धकार की छाया लुप्त जहाँ होती,
सुन पड़ती हो जहाँ शृंखला-खण्डन की झनकार, सखी,
चलो चलें उस देस, जहाँ हो छिटका मंजुल प्यार, सखी !

जहाँ नया आसमाँ छबीला नीला चँदुआ ताने हो,
नये चाँद सूरज की आभा जहाँ नया रन ठाने हो,
नयी ज़मीन, नये बादल, ये नव तारे, दिक्शूल नये,
नये शकुन, अपशकुन नये, हों जहाँ खिलें नित फूल नये।
जहाँ हुलसती बर आती हो हिरदे की मनुहार सखी,
चलो, चलें उस देस, जहाँ हो छिटका मंजुल प्यार सखी !

सजनि, तुम्हारी इस दुनिया में कसक-सिसक को ज़ोर बड़ा,
टूटे दिल की हाय-हाय का मचता रहता शोर बड़ा,
आतुरता अटकी रहती है आँखों की गहराई में,
आशा मूर्च्छित पड़ी उपेक्षा की एकान्त तराई में,
छोड़ चलो यह देस, मनोरथ हुए जहाँ हिय-हार सखी,
चलो चलें उस पार, जहाँ हो छिटका मंजुल प्यार सखी !

ताना बाना पूरे बैठा जीवन की चादर बिनने,
उसी समय तुम आयी मेरे संचित तार-तार गिनने,
तारतम्य मिट गया, सिमिट कर सिकुड़ा सब ताना-बाना,
आफ़त ही हो गया तुम्हारा, सजनि, यहाँ आना जाना;
श्वास और निःश्वासों के हैं टूटे सारे तार, सखी,
अब तो ज़रा आन छिटका दो अपना मंजुल प्यार सखी !

मेरी आराधना परिधि का केन्द्र-बिन्दु सुकुमार, सखी,
सहसा ढलक पड़ा नैनों के सम्पुट से इस बार, सखी;
उमड़ा है बे-परवाही का याँ यह पारावार, सखी,
कँपे अधर, रह गया सिसक कर हिय का विमल दुलार, सखी,
यहाँ हो रहा है बाधाओं का स्वच्छन्द विहार, सखी
चलो चलें उस देस, जहाँ हो छिटका मंजुल प्यार सखी !

डिस्ट्रिक्ट जेल, ग़ाज़ीपुर
६ दिसम्बर, १९३०

■

भ्रम-जाल

जिस दिन उठती हुई जवानी आयी मेरे द्वार–
वदल गया है उसी दिवस से जीवन का व्यापार;
टुकड़े - टुकड़े हुई श्रृंखला लोक-लाज की, देवि,
हर दम यहाँ चढ़ा रहता है एक अजीब बुख़ार।

मन में रंग - विरंगापन है, अधरों में है प्यास,
आँखो में अधीर अन्वेषण का भर रहा प्रयास;
श्वास और निःश्वासों में है चिन्तन का रण रंग
हिय की द्रुति गति मय धड़कन में भरी हुई है आस।

देवि, भुजाओं में आलिगंन का भर रहा उछाह,
रोम-रोम में समा गयी है घुल मिलने की चाह;
छिन-छिन में यह देह कण्टकित हो उठती है खूब,
होता ही रहता है निशिदिन इस जीवन में दाह।

इस मेरे मस्तिष्क देश में है असीम उन्माद,
और एक अप्राप्त वस्तु का मन में भरा विषाद;
जीवन में शून्यता भरी है और तीव्र अनुराग,
धरम करम की, पाप-पुण्य की, भूल चुका हूँ याद।

पथ के टेढ़े - मेढ़े - पन की मुझे न थी परवाह;
पर, न याद था मुझे कि यह तो गहरी भी है राह;
कितना गहरा उतर गया हूँ सहसा मैं अनजान,
नहीं पा सका हूँ अब तक, सखि, मैं अपनी थाह।

इस घहरे में घना अँधेरा फैल रहा है प्राण,
और तरल - भावना - वीचियाँ लहरा रहीं अजान,
डूबा - डूबा - सा लगता है मेरा सब संसार,
धोया - धोया-सा लगता है यह जीवन सुनसान।

पाप-पुण्य के फलाफलों को, देवि, न दो उपदेश,
नय-अनयों के इस विमर्श का तुम न करो अब क्लेश;
सजनि, कौन हलका है, मेरे इस यौवन का बोझ,
फिर कैसा यह पाप-पुण्य का बोझा और विशेष ?

यूँ भुज भर कर हिये लगाना है क्या कोई पाप ?
या अधखुले दृगों का चुम्बन है क्या पाप-कलाप ?
कुन्तल से क्रीड़ा करना भी है क्या कोई दोष ?
देवि, बताओ तो इसमें है कहाँ पाप-सन्ताप ?

मदमाते होकरके फिरना, रहना नित अलमस्त,
निशि दिन अपनी वस्तु खोजना होकर तन्मय, व्यस्त,
इसमें कहाँ पाप है प्रमदे ? कहाँ अनीति विकार ?
यह तो है जीवन की महिमा, नित्य अचल, कूटस्थ ?

नीति-अनीति-विचारों में है मन-सम्भ्रम मय भूल,
जग की पाप पुण्य की बातें ! हैं ये ऊल-जलूल,
जीवन के जो प्रबल तक़ाज़े, वे कहलाते पाप,
क्या ही झोंक रही है दुनिया यूँ आँखों में धूल;

यदि..अस्तित्व पाप का है तो जग है पाप-प्रसूत,
तो फिर, कैसे हो सकता है यहाँ पुण्य उद्‌भूत ?
धर्म-पुण्य की शिथिल भावना है मनकल्पित बात,
देवि, मुझे तो नहीं हुआ है यहाँ पाप अनुभूत !

ज़रा झूम उठना लहराकर, हो जाना मदहोश,
ज़रा थाम लेना मुट्ठी में इस हिय का आक्रोश;
मिट्टी के कूज़ों को देना हलके-हलके प्यार;
क्या है यही पाप, सखि ? यह तो है यौवन का जोश।

हिय के लेन-देन में बाले, कहाँ पाप की रेख ?
पाप-पुण्य का है कुछ यों ही उलटा-सीधा लेख;
उलझ रहा है जग शतियों से इस भ्रम में अनजान,
पाप कहाँ है ? पाप मुझे तो कहीं न पड़ता देख।

पाप ? देवि, है पाप निगोड़ी जड़ता का अविवेक,
पाप-भाव है कायरता का आध्यात्मिक अतिरेक;
अपनी छाया से भी डरना, बस, है यही अधर्म !!
लोगों ने भी बना रखा है अजब तमाशा एक !!!

दो-दो आँखें लड़-लड़ कर जब हो जाती हैं चार,
जब अपने ही से ढरता है नयनों से नीहार;
आग और पानी जब खेलें मानस में, तब देवि,
पाप-पुण्य की व्यर्थ भावना हो जाती है क्षार।

अगर पाप है तो वह है इस जीवन का सोपान,
अगर पाप है तो वह है इस यौवन का सम्मान;
जोग-छेम की, प्रेय - श्रेय की मुझे नहीं परवाह,
इतना जानूं हूँ कि नेह में नहीं पाप नादान,

इसी लिए कहता हूँ, बाले, तोड़ो यह भ्रम - जाल,
रंच निहारो आ पहुँचा है अब तो यौवन - काल;
हाथ सुमिरिनी नहीं फबेगी, इस यौवन में, देवि,
कुसुमों की भी हो सकती है लम्बी - लम्बी माल !

■

निमन्त्रण

उड़ आ बैठो, अरी कुहुकिनी, है मेरी डाली सूनी।
अपने श्वास - पवन से इसको सिहरा दो तुम दिन-दूनी।
चहको कोई तान, भैरवी नव-स्वर-मंजूषा खोलो।
कोई गान, अरी, अलबेली, छोड़ो; कुहू-कुहू बोलो।
घोलो रस, नीरस पादप की सिहर उठे रोमावलियाँ।
डाली-डाली हो मतवाली, फूल उठें आतुर कलियाँ॥

मेरे मानस मगन-गगन में सघन अँधेरा फैल रहा।
अन्धकार का भार विकम्पित स्मर-दीपक यह झेल रहा।
तुम आओ मम दिङ्मंगल में नव ऊषा-सी विहँस, लली।
अलसाने लोचन - पुट खोले छा जाओ इस देस अली।
नये सवेरे के शुभ क्षण में भर दो ये रिक्तांजलियाँ।
लोल लोचनों की लाली से रंजित हों जीवन-गलियाँ॥

मेरा हिय आकाश शून्य है, ध्वनि-विरहित, लय-हीन बना।
शब्द-हीन निस्तब्ध भाव से है वह तो अति क्षीण-मना।
यहाँ वायु में तरल तंरगें उठतीं नहीं अहो, सजनी।
लहरा दो इस घटाकाश को कुछ तो आन कहो सजनी।
रजनी यहाँ, यहाँ अँधियारी, निःस्तब्धता यहाँ छाई।
यहाँ गुनगुना दो, फैला दो, आकर आभा मनभाई॥

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१९ दिसम्बर, १९३०

■

दीवानी लगन

मेरी रानी, दीवानी-सी डोल रही है लगन, यहाँ,
इक टक जोह रही उत्कण्ठित, मेरा मानस-गगन यहाँ;
लगन बावरी खोज रही है मेरे नभ में तुम्हें, लली,
मूर्त रूप में आ जाओ, मत बिलखाओ अब उसे, अली,
जग-मग जग-मग गगन हो उठे, तुम प्रकटो, हिय-द्वार खुलें
होवे मथित हृदय का माखन, रस की गाँठें तनिक घुलें।

गाज़ीपुर,
२६ दिसम्बर, १९३०

■

सिंगार

आओ, मुख देखो, हैं दो-दो–
दर्पण मेरी आँखों में;
ये दर्पण प्रतिबिम्बित करते
तुमको चुन के लाखों में
कहाँ मिलेंगे तुम्हें चयन-पटु–
ऐसे दर्पण ? कहो, लली,
मत भटको मुकुरों का सौदा–
करती फिरती गली-गली।
इन आँखों में सजनि, देख लो तुम भी तो अपनी झाँकी।
हँस दो, मुसका दो, सिसका दो हिय, कसके सनेह-टाँकी।

ये हैं वे आईने जिनमें
अँकी तुम्हारी छबि बाँकी।
आन सुधारो अलकावलियाँ
अपनी चंचल प्रतिमा की।

सिर से साड़ी का पल्ला यह
खिसक रहा है ज़रा - ज़रा;
आईनों में आकर देखो
कैसा अल्हड़पन निखरा।

मृदुले, मम दृग् के मुकुरों में चमकी तव सुकुमार छटा।
दर्पण पोंछो, अंचल से तुम असफलता - रज हटा - हटा॥

आओ, बैठो सन्निधान मम,
मैं, गूँथूँ वेणी हलकें;
कंघी बनें अँगुलियाँ मेरी,
नेह - फुलेल उमड़ छलके;

माँग काढ़ दूँ मैं, झुँझलाकर
तुम बालों को उलझा दो।
इसी तरह मम हिय की गाँठें
सुकुमारी तुम सुलझा दो।

उलझ सुलझ लाँबे लोलुप कच जूझें काले भौंराले,
भर लेने दो माँग वेदना के सेंदुर से, ऐ बाले!

हिय का हार कहाँ से लाऊँ?
हैं मेरी भुज-वल्लरियाँ।
पहना दूँ, हँसने दो यदि ये,–
हँसे संग की छोहरियाँ।

लोक लाज का भास रहेगा–
यों कब तक मग में अटका ?
सजनि, तोड़ दो तो यह बन्धन
दे कर एक विमल झटका।

मेरी यह सिंगार-मंजूषा कर - कमलों में अर्पित है।
ज़रा खोल के इसे देख लो कैसी वस्तु समर्पित है!

सोच रहा हूँ आज पिन्हा दूँ
पैरों में मृदु किंकिणियाँ,–
ऐसी किंकिणियाँ जो चमकें
ज्यों मुक्ता गुम्फित मणियाँ।

इसी लिए गढ़ता जाता हूँ
कविताओं की ये कड़ियाँ;–
ऐसी कड़ियाँ जो बन जावें
नेह-शृंखला की लड़ियाँ।

ठुमुक-ठुमुक तुम चलो, बज उठें, मीठी-मीठी पाँजनियाँ।
खनका दो कविता की कड़ियाँ रानी, मम हिय-आँगनियाँ!

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१६ दिसम्बर, १९३०

■

पराजय

कापालिक सेव्य भूतनाथ के शरीर की
विभूति उड़ती है जहाँ रज कण-कण में;
चट चट हू हू हा हा करती ज्वालाएँ जहाँ
भेद भुला देतीं नव जीवन मरण में;

लक्ष-लक्ष आशाएँ, निराशाएँ ये लक्ष-लक्ष
एक संग सूझे जहाँ घनघोर रण में;
बाट जोहती है स्वयं वराचिता मेरी वहाँ
आकाश मण्डप तले श्मशान प्रांगण में।

यौवन दिशा के स्वप्न का मधुर मधु - मद
उतर गया सो कैसे जानूँ मैं अजान नैंक;
सुध - बुध बिसरा के, भर - भर अंजली
बेहोशी में कर गया हूँ मधवा मैं पान नैंक;
अटपट पाँव पड़ते हैं, बात फैल गयी आकर,
सँभलती लोक लाज के सुजान, नैंक;
भूल के, नशे में कहीं घूम न जाऊँ उधर
छिटकी है जहाँ चन्द्रिका - सी मुसकान नैंक।

गिरते, पड़ते, झूमते, झुकते, ऐ 'नवीन',
चलो उधरी को जहाँ लय है प्रणय का,
निर्दय नियम जहाँ भस्मक स्वरूप लिये
नाश करते हैं अनुनय का विनय का;
इस बेहोशी में इतना तो होश रखना कि
पराजय ही में मज़ा आता है विजय का,
भूल मत जाना हे 'नवीन' पुरातन - सत्य
सृष्टि के विकास में छिपा है तत्त्व लय का।

डिस्ट्रिक्ट जेल, कानपुर
नवम्बर, १९३०

■

बिंदिया

लघु केन्द्र बिन्दु है क्या यह—
मेरी वेदना परिधि का ?
लोहित मोती यह क्या है ?—
मम अतल विरह - वारिधि का ?

कितने - गहरे से उसको—
सुकुमारि, उठा लायी हो ?
कितनी हिम निधियाँ, बोलो,
तुम आज लुटा आयी हो ?

क्या नृत्य चतुर नयनों की,
है सुघड़ ताल की ठुमकी ?
यह बिन्दी है सिन्दुर की ?
या टिकली है कुंकुम की ?

भृकुटी - संचालन से ही,—
या उथल - पुथल होती थी,
यह बिगन (?) विचारी यों ही
अपनी सुध - बुध खोती थी;

यह भ्रू - विशाल तो था ही,—
टिकली भी आन पधारी;
भौंहों के मृदु फन्दे में—
पड़ गयी गाँठ सुकुमारी !

क्या सुन्दर साज सजा है—
मृदु नयनों की गासी का !
है ख़ूब इकट्ठा सामाँ
इन प्राणों की फाँसी का !

यौवन की मव अँगड़ाई–
यह बिन्दु रूप वन आयी;
घूँघट के झीने पट से,
अरुणाभा छन - छन आयी;

मानस की मदिर हिलोरें–
भर गयी बूँद में आकर;
इठलाते आते अल्हड़पन को,
क्या ही छलकाया लाकर।

लोकोक्ति सदा सुनते हैं–
गागर में सागर भरना;
याँ, एक बिन्दु में, सजनी,
देखा था सिन्धु का लहरना;

सखि, गोरे भाल-क्षितिज पै–
यह अरुण इन्दु उग आया;
किस सुघड़ विधाता ने यह,
आरक्त बिन्दु छिटकाया ?

इस एक बूँद में; बोल !
कितना विष भर लायी हो,
हिय कब से तड़प रहा है,
क्या जादू कर आयी हो ?

जीवन-ऊषा की प्राची
हो गयी आज अरुणा-सी;
मेरी उत्कण्ठा सजनी,
छिटकी लोहित करुणा-सी;

आकुल आँखों में छायी,
कुछ लाल-लाल झाँई - सी;
आकर देखो यह क्या है ?
टिकली की परछाईं - सी;

बिंदिया की परछाँईं का–
नैनों में अक्स उतारे–
कब से बैठा हूँ रानी,
प्रतिबिम्ब हिये में धारे;

मत जाओ ये मुँह फेरे,
अब यों आँखे न चुराओ;
विन्दा विलसित मुख प्यारा,
घूँघट-पट में न दुराओ !

कितने भावों को मथके,
सिन्दूर बनाया तुमने,
अलि बलि कितनी लै ली है,
बोलो तो इस कुंकुम ने;

सन्ध्या की सकल अरुणिमा–
ऊषा की सारी लाली–
हो सार रूप बन आयी–
यह एक बूँद मतवाली !

मेरी वेदना व्यथा की–
रंजित अरक्त कहानी;
आँसू में धुल - धुल रानी,
बिंदिया बन गयी सयानी !

■

निद्रोत्थित नेह

जिस दिन उठा सहज नेह का –
अलस भाव सोते से आली;
उस दिन शैशव की चंचलता –
बन - ठन गयी लाज की लाली।

अरुणाई - सी अँजी नैन में,
हुए पलक कुछ भारी - भारी;
चपल चाल गति हुई अचंचल,
मन की मौज हुई मतवाली।

दिखने लगी नयी - सी दुनिया,
दिखने लगा नया - सा जीवन;
छिटक उठी मेरे पार गये
नयी चाँदनी - सी उजियाली

रिमझिम - रिमझिम नेहा बरसा,
रिमझिम बरसी रस की बूँदें;
यों आकण्ठ भर गयी सहसा, –
मेरी यह छोटी - सो प्याली।

नये भाव उभरे हिय - तल में,
कुछ उलझन - सी मन में आयी।
मेरे छोटे - से जीवन में –
अली, चली कुछ नयी प्रणाली।

समझ गयी मैं कि है मदमयी
घनी साँझ की नीरवता यह,
अब समझी, हिय क्यों दुखता है,
जब आती निशि काली-काली।

नये - नये ये शब्द रसीले,
स्फुरित हुए हिय में, रसना में;
अब तो बहुत मधुर लगती है —
यह मद - भरी लाज की गाली;

नेह नवेला रंग छलकाता
मचल पड़ा मेरे आँगन में;
खूब भर गया है सहसा वह,
जो अब तक था ख़ाली - ख़ाली;
मैं बौरानी - सी लगती हूँ,
पर मेरा क़सूर ही क्या है?
सहज नेह का अलस भाव यह
सोते से उठा है आली!

■

आँसू के प्रति

मत बह, मत बह अरे हठीले, तनिक ठहर, मेरी सुन ले,—
छुपा खेद का भेद, उसे तू खोल न, औ बैरी, सुन ले;
कण्ठ द्वार पर ही रुक, रुक तू,
आगे को न रंच भी झुक तू,

अरे, लौट जा फिर अपने गृह,
मेरी कही मान जा टुक तू,
लोचन की झिलमिल के ओझल ही रह, ओ वैरी, सुन ले,
मत वह, मत बह, अरे हठीले, तनिक ठहर, मेरी सुन ले !

रुक जा, झूला तुझे झुलाऊँ,
अन्तरतर में तुझे सुलाऊँ,
श्वास और विश्वासों के मृदु–
पलने में तुझको दुलराऊँ,
आजा, सोजा, मेरे राजा, आजा, ओ वैरी, सुन लें
मत वह, मत वह छलक-छलक तू, तनिक ठहर मेरी सुन ले !

उमड़ आया है तू बिन वोले,
बिना कहे तू हिय में डोले
झाँक - झाँक क्यों देख रहा है–
मेरी नयन - खिड़कियाँ खोले ?
ओ बेशरम, भरम जीवन का खोल न तू, चित में गुन ले
मत बह, मत बह, अरे हठीले, तनिक ठहर मेरी सुन ले ।

मेरी अकथ कहानी के कण–
विगलित कर न, अरे तू क्षण-क्षण,
गोपनीयता ठान चुकी है–
निर्दय, तुझसे आज मृदुल रण,
जूझ न उससे, अरे झगड़ मत तनिक ठहर, मेरी सुन ले
छुपा खेद का भेद, उसे तू खोल न, ओ बैरी सुन ले !

है यह जग विकराल मरुस्थल,
मत बरसा फुहियाँ तू पल-पल;
हैं उत्तप्त बालुका के कण,
यहाँ अरे तू छलक न छल-छल;
निश्चल अटल-उपल-सा हिय-तल में रम जा, मेरी सुन ले
गुपत खेद का भेद-भरम तू खोल न, ओ बैरी सुन ले।

गाज़ीपुर
२३ दिसम्बर, १९३०

■

खोज

'हे नवीन' क्या ढूँढ़ रहे हो झुक-झुकके रुक-रुकके ?
ठिठक-ठिठक क्या देखे हो यूँ छिप-छिपके लुक-लुकके ?
ढरक पड़ा है क्या कोई नग सम्पुट, से आँखों के ?
क्या हैं शिथिल उड़ान-भाव मन मधुकर की पाखों के ?
क्यों तुम खाक छानते फिरते हो यों गली-गली में ?
आतुर, भेद भूल मत जाना नक़ली में, असली में ?

बड़ा कठिन है, यहाँ खोजना मोती अपने मन का;
बड़ा कठिन है मिलना संगी इस टूटे जीवन का;
ढूँढ़-खोज में अब न गँवाओ यह ज़िन्दगी अधूरी,—
तै करनी है अभी बहुत कुछ जीवन-पथ की दूरी;
कोई नहीं किसी का, है याँ यूँ ही-सा कुछ नाता,
आदि काल से, हंस अकेला ही है उड़ता आता।

गलत फ़हमियाँ भरी हुई हैं जीवन की थाली में;
दुख की छाया छिपी हुई है पथ की अँधियाली में;
काली - काली मतवाली घन छाया पथ में फैली
बीहड़ निविड़ बिपिन मग में है आशा खड़ी अकेली,
ऐ 'नवीन' इस अँधियाले में ढूँढ़ो हो उजियाला ?
बन्धु, तुम्हारी अक़ल-समझ का निकला क्या दीवाला ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
३० दिसम्बर, १९३०

■

तुम्हारे सामने

सोच-सोच कर गाँठ बाँधता जाता हूँ मैं,
सब बातों को गिन-गिन रखता जाता हूँ मैं;
जब तुम आओगे तब सब कुछ कह डालूँगा,
और तुम्हारी सस्मित 'हाँ' वह कहला लूँगा ?
किन्तु तुम्हारे सामने, क्या हो जाता है मुझे ?
खोये हुए विमुग्ध-सा कौन बनाता है मुझे ?

प्यारे प्राणों के परितप्त पवन के झोंके,
निखरायें कुछ फूल सामने उन चरणों के;
ऐसी ही कल्पना किया करता हूँ निशि-दिन,–
शून्य हृदय आकाश कुसुम चुनता हूँ गिन-गिन।
किन्तु तुम्हारी मृदुल-सी, मंजुल मूर्ति निहार कर,
वह परितप्त बयार रुक जाती कण्ठ-द्वार पर !

■

प्यासा

विना पिये मानता नहीं वह,
विगड़ गयी है कुछ ऐसी आदत;
कहाँ के रोज़े, कहाँ की पूजा ?
छुटी परस्तिश, मिटी इबादत।

है ध्यान उसको तो और ही कुछ,
धरम-करम से उसे न राहत;
वो छोड़ बैठा है सारे झंझट,
हुई है बर्पा य' जब से आफ़त।

न बोलता-चालता है वह कुछ
कभी जो बोला तो अपनी कहता;
अजब सिड़ी से पड़ा है पाला,
वो अपनी धुन ही में मस्त रहता।

दबाये ख़ाली बग़ल में बोतल;
सँभाले टूटा-सा एक प्याला,
वो पीने वालों में नाम लिखवाने
आन पहुँचा, हुज़ूरेबाला।

वह कह रहा है कि नाम लिख लो—
समझके अपनी क़लम चलाना;
बड़ी अजब खोपड़ी का है वह,
नहीं बताता पता-ठिकाना।

उधर-उधर तैरती हैं आँखें—
य' सुर्ख़ डोरे पड़े हुए हैं;
सुरूर छाया है लोचनों में,—
तुम्हारे दर पे अड़े हुए हैं।

घड़ी-घड़ी आह से निकलती
शिक़स्ता दिल की कथा पुरानी,
हुज़ूर, रह-रहके कह रहा है,–
नयन का पानी अकथ कहानी।

फटे-से कुरते में इक फटा-सा –
छुपाये काग़ज़ बड़े जतन से
व' कह रहा है कि इसमें क्या है,–
य' जाके पूछो उन्हीं के मन से।

तुम्हारे आगे वो खाली बोतल –
हिला-हिलाकर यूँ कह रहा है :
'ज़रा इधर भी ग़रीब परवर,
फ़िज़ूल मघवा क्यूँ बह रहा है?'

हो गर इज़ाज़त तो दोनों हाथों से–
फोड़े बोतल को वह इसी दम,
पिला दो भर-भर के चुल्लू उसको–
मिटा दो हस्ती का यह विकट भ्रम।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१ जनवरी, १९३१

■

चिन्ता

आज निशा के सघन तिमिर में उठ आयी हिय हूक;
सुषमे, अन्तर में आ पैठा स्मृति का बाण अचूक;
टूक-टूक हो गया हृदय, सखि, नयन हुए जब चार;
लोहित-सा हो गया आज उर, अन्तर का व्यापार;
कौन सुने? करता है हा! हा! मम हिय का अनुराग,
चुपके, कान लगाकर सुनता मेरा फूटा भाग।

ऊँची - ऊँची दीवारों को कर के सहसा पार
कुहु निशा में छिटकाते शशि किरणें-सी दो - चार,
आ पहुँचे कारा में स्मृति के संग वे लोचन आज—
लिये सरलता की व्रीड़ा का मोहक साज - समाज ।
सहसा उगे नैश अम्बर में ये दो - दो नक्षत्र;
काँप रहा मेरा दिङ्-मण्डल यत्र - तत्र - सर्वत्र !

आज घूमकर देख रहा हूँ मैं पीछे की ओर,
जीवन की पगडण्डी टेढ़ी, दिखे न ओर न छोर,
कब का चला ? कहाँ आ पहुँचा ? क्या जानूँ अनजान ?
क्यों चलता हूँ अह - निशि मैं इसका मुझे न ज्ञान ?
चलते - चलते चमक जाय है बिजली की - सी रेख
तभी दिखाई दे जाता है कुछ - कुछ एकाएक ।

हिय में गड़ी हुई आँखों का है सँभालना काम
तड़प जाय पर आह न निकले तभी बहादुर नाम
खण्ड - खण्ड आशा यदि होवे तब भी क्या परवाह ?
धुआँ उठे, हो भस्म हृदय का चाहे सब उत्साह;
जो होना हो, हो जाये पर, न हो रंग में भंग
सदा उमड़ती रहे हृदय की नवल अनन्य उमंग ।

अश्रु बिन्दु करते हैं मेरी स्मिति का नव अभिषेक,
बनी तुम्हारी निठुराई मम विरह-गान की टेक;
सतत निराशा लिखती है इस जीवन का अनुलेख
सजनि, खिंच चुकी है अभाग की उलटी-सीधी रेख;
निरानन्द घड़ियों ने लूटा जीवन का आनन्द,
चिन्ता ही घेरे है जब से उठी उमंग अमन्द !

कोमल चरण तुम्हारे, बन्धुर मेरा जीवन-पन्थ,
तुम नाज़ों की पली, नहीं है मम विपदा का अन्त;
अन्तवन्त जीवन;—अनन्त है सजनि, तुम्हारी चाह,
होने दो हौले-हौले इस दग्ध हृदय में दाह;
कैसे कहूँ कि, स्वामिनि, चल दो इस मौजी के साथ ?
कैसे कहूँ कि आओ चल दें लिये हाथ में हाथ ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
५ दिसम्बर, १९३०

■

दुपहरी

आन पहुँचा जीवन मध्याह्न,
तज रहे दोपहरी में प्राण;
शीश चढ़ आया यौवन-सूर्य
चलाता तीखे तीखे बाण;

सिमिटकर चरणों में छिप गयी—
लोक-लज्जा की छाया दीन;
उमड़ती आकांक्षाएँ हुईं—
स्वेद के कण-कण में तल्लीन;

खून पानी बन-बन बह चला,
भाल पर फैला मुक्ता जाल,
पन्थ सुनसान, सामने खड़ीं
घेरकर चिन्ताएँ विकराल !

तरणि की निपट प्रखर करवाल—
कर रही गुण-बन्धन का नाश;
चित्त में आ पैठी उद्भ्रान्ति,
पड़ा है मन में मोहन-पाश,

अनोखो चकाचौंध की चमक—
दिशाओं में फैली सब ओर;
मार्ग में उठे धुआँ-सा सदा,
निबल आँखों में रहा न ज़ोर,

तड़पता मन कुरंग फिर रहा—
ढूँढ़ता अमल सजल कासार
यहाँ यह मृग मरीचिका डोल रही
हैं धरे रूप साकार।

यहाँ उद्भ्रान्ति ! कहाँ है शान्ति ?
सघन छाया का रहा न लेश,
धूप ही धूप विशेष, अशेष
भस्म करती है विपिन-प्रदेश,

सफलता के वृक्षों से हीन—
कामनाओं का निबिड़ अरण्य,—
सामने फैला, आकर फँसा,—
भटकता फिरता पथिक नगण्य;

क्लेश ही क्लेश रहा निःशेष,
कौन पूछे यात्री की बात ?
घात-प्रतिघातों से है बना
विश्व के जीवन का संघात।

उभड़ उट्ठी है भीषण आग,
तप रहा है मेरा संसार,
प्रज्वलित अंगारों से बने
सजनि इस जीवन के व्यवहार;
उमड़ छा जाओ मेरे गगन—
नवल श्यामल बदली-सी आज,
घटा-सी घिर आओ, सुकुमारि,
कि हो तुम बड़ी ग़रीब निवाज।
विहँस सरसा दो सूखे प्राण,
मधुर बरसा दो रस की धार
सजनि, यौवन-निदाघ की आग
जलाती है मेरा संसार।

■

उस दिन

उस दिन विजयी सैनिक-सा मैं आया द्वार तुम्हारे,—
लिये अंजली में अधखिलते-से कुछ सुमन दुलारे;
सोचा था कि पराजित-सा कुछ नीचे झुकके, बाले,—
बिखरा दूँगा चरणों में ये बड़े नाज़ के, पाले।
पर, सहसा उलझी कुसुमों की ये पंखुरियाँ सारी
क्या जानूँ क्या हुआ देखते ही मृदु छटा तुम्हारी !

उस दिन सोचा था कि कहूँगा अपनी अकथ कहानी,
कह दूँगा मैं आत्म-निवेदन-समवेदना पुरानी;
चुन-चुनके एकत्रित की थीं हिय में शब्दावलियाँ,
जैसे माली चुन लेता है डलिया में नव कलियाँ।
किन्तु तुम्हारे आगे भूला मैं सब कुछ ही अपना
सोच न पाया, जाग रहा या देख रहा हूँ सपना।

उस दिन, किरणें शिशिरातप की आती थीं छन-छनके;
मन्द वायु में नाच रही थीं शाखाएँ बन - ठनके;
आशाओं के पुंज कुंज में थे सोते - से जागे,
सोचा था : मैं हिय रख दूँगा खोल तुम्हारे आगे;
किन्तु अधर-पुट पर कुछ सहसा झूल गया ताला-सा
छलक न पाया यह भावों से भरा हृदय प्याला-सा ।

उस दिन सोचा था कि हृदय के अतल सिन्धु की निधियाँ—
आँखों से ढरका दूँगा मैं पूरी होंगी विधियाँ ।
सोचा-था था कह दूँगा चुपके - चुपके मैं कुछ बतियाँ,
शायद कट जावे मन चकवे की वियोग की रतियाँ ।
पर, मनसूबों की सब सेना हुई पराजित क्षण में ।
कौन टिका है अब तक सम्मुख आत्मनिवेदन-रण में ?

उस दिन असमर्पित फूलों की वे पंखड़ियाँ, रानी,—
भूल-शूल-सी साल रही हैं अन्तर में अरुझानीं ।
पानी-पानी बनकर जो बह सके न भाव सलौने,—
वे, होके उत्कण्ठ, हिचकियों के बन गये खिलौने ।
सजनि, तुम्हारे युग कपोल की सहज लाज की लाली—
अपना रंग चढ़ा देती है सब पर वह मतवाली ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१८ दिसम्बर, १९३९

■

प्रलयंकर

युगीन चेतना को स्वर देती राष्ट्रीय
कविताओं का संग्रह

अदृष्ट चरण-वन्दना

वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणों में,
जिनकी महिमा रही अगीता जन-साहित्यिक अधिकरणों में !

तुम अज्ञात नाम जन सेवक, तुम सैनिक, तुम धीर, वीरवर,
तुमने नव सन्देश-श्रवण की क्षमता दिखलाई साहस कर;
चरण तुम्हारे चले अशंकित, अति सत्वर अनजाने पथ पर,

मानव प्रगति हुई प्रतिलक्षित तव चरणों के आचरणों में;
वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणों में !

चरण तुम्हारे वे कि जिन्होंने दुर्गम शैल किये अतिलंघित,
जिनकी निर्भय अच्युतता ने किये अनेक हृदय निस्पन्दित;
जो नवीन निर्दिष्ट मार्ग पर मुदित बढ़ चले निपट अशंकित;

वे दृढ़ चरण छिप गये हैं जो सहज विस्मरण - आवरणों में;
वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणों में !

वे तव शतशः चरण कर गये अभिनव जन-यात्रा-पथ निर्मित;
तुम वे सैनिक जो आज्ञा पर समुद कर गये प्राण समर्पित;
आज तुम्हारे तप-प्रसाद से हैं भारत जन-गण-हिय हर्षित;

तव शोणित कण अब पुष्पित हैं नव यत्नों के अवतरणों में;
वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणों में !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२६ जुलाई, १९५४

■

भरत-खण्ड के तुम हे जन-गण !

भरत - खण्ड के तुम, हे जन - गण
चमक रहे हैं तव शोणित में इस भारत माता के रज - कण,
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण !

अहंकार, मस्तिष्क, बुद्धि, मन, यह भव-रूप और अभ्यन्तर, —
कला, काव्य, इतिहास पुरातन, ललित कलित कोमल गायन-स्वर,—
तत्त्व-लक्ष्य, एकान्त साधना, दर्शन, चिन्तन, मनन निरन्तर, —

यह प्रपूर्ण सम्पत्ति तुम्हारी है भारत की माटी का धन;
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण !

आमन्त्रण यह तुम्हें है कि इस माटी का शृंगार करो तुम;
आवाहन है तुम्हें कि अपनी जननी का भण्डार भरो तुम;
युग कहता है कि इस भूमि का यह दरिद्रता - भार हरो तुम, —

स्नायु - तन्तु - सारंगी में हो सह-श्रम वृन्द-वाद्य की झन-झन;
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण !

एक धाम तुम, एक नाम तुम, एक बान तुम, एक प्राण हे तुम;
एक रागमय, इक यति-गतिमय, सर्व-उदय के गेय-गान हे तुम;
श्रेय-प्रेय-साधना पूर्ण तुम, मानवता के नव विहान हे तुम,

स्वेदोदक का अर्घ्य चढ़ाकर करो प्रात का सन्ध्या-वन्दन;
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण !

५ विण्ड्सर प्लेस, नयी दिल्ली
१८ फ़रवरी, १९५५

■

गरजे मेरे सागर पहाड़

गरजे मेरे सागर, पहाड़
सिंहों की-सी करके दहाड़ !

मेरे सागर गम्भीर गहन,
करते हैं जो बड़वाग्नि वहन,
कहते हैं : मानव, जाग-जाग,
सुलगा दे ज्वाला सर्व दहन
बाधाओं को जड़ से उखाड़
सिंहों की-सी करके दहाड़ ।

मेरे ऊँचे-ऊँचे भूधर,—
गर्जन करते हैं हर-हर-हर;
बोले : मानव तू क्यों उदास ?
तू भी गर्जन कर हहर-हहर !
इस लौह भीम को दे पछाड़
सिंहों की-सी करके दहाड़ !

मेरे सरवर, मेरी सरिता,
चिर स्नेहमयी, पुण्याचरिता,
कल-कल-कल स्वर भर बोल उठी,
यह अमल नवल जीवन - भरिता;
रे मनुज, खोल अपने किवाड़
सिंहों की-सी करके दहाड़ !

मेरी आँधी, मम मलय पवन,—
छू - छूकर मेरे युगल श्रवण,—
हैं पूछ रहे मुझसे क्षण - क्षण,
क्यों हुए भग्न तव सुखद भवन ?
किसने यह घर डाला उजाड़,
सिंहों की - सी करके दहाड़ ?

मेरी धरती हिल डोल उठी,
निर्गति में गति - रस घोल उठी,
अन्तस्तल में कल्लोल उठी,
धरती माता यों बोल उठी :
सुन रे, कड़के मम वृद्ध हाड़ !
सिंहों की - सी करके दहाड़ !

मानव, क्या तू न सुनेगा यह,—
युग - वाणी का गर्जन अह - रह ?
यह सर्व - नाश - सन्देश अभय,
यह निर्वाणाह्वाहन दुर्वह;
तू बन विजयी, जय - ध्वजा गाड़
सिंहों की - सी करके दहाड़ !

यह शताब्दियों का पाप महा,
एकत्रित है बेमाप यहाँ,
इसको तू खोद बहा दे, रे,
तेरा जो यह अभिशाप महा;
सब परिपाटी का वक्ष फाड़;
सिंहों की - सी करके दहाड़ !

तेरा स्वरूप, जो अति अनूप
वह बिगड़ बना है अति कुरूप;
तू अपना स्वामी स्वयं, अरे,
तेरा कोई भी नहीं भूप !
अन्तस्तल की ज्वाला उभाड़
सिंहों की-सी करके दहाड़ ।

दुर्दम रण-चण्डी चेत उठे
कर महा प्रलय संकेत उठे !
सर्वस्व-नाश का रुद्र रूप
नव-नव निर्माण समेत उठे;
आये विनाश की एक वाढ़,
सिंहों की-सी करके दहाड़ ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
२२ अप्रैल, १९४३

■

तू विद्रोह रूप, प्रलयंकर !

अरे, अरे, ओ निपट निराशा की श्वासें भरनेवाले,
अरे पराजित, अरे पराजयवादी, ओ मरनेवाले,
ओ शंकित चितवनवाले, ओ आत्म-रूप-विस्मृतिवाले,
ओ विजयेच्छुक, ओ गमनोत्सुक, ओ निदाघ-संस्कृतिवाले,
दूर पार से आज आ रही अनल-गान की तान नयी,
आज वायु में निष्पन्दन है, कण-कण में है जान नयी !

तू नाशक ध्वनियों का गायक, तू विकराल क्रान्ति द्रष्टा,
तू विद्रोह रूप प्रलयंकर, तू है अनल-राग-सृष्टा;
तेरे प्राणों में तड़पन है, नीच भावना अब कैसी ?
यह विश्वासघात अब कैसा ? दुष्कृतियाँ क्यों, अब ऐसी ?
कर दे क्षार-क्षार अपनी इन प्राण मोहिनी कृतियों को,
खण्ड-खण्ड कर दे, रे मोही, निज निर्बल संस्मृतियों को !

ओ बरसों से शिथिल पाश में जकड़े रहने वाले, तू,
आत्म-दीनता की दाहकता में नित दहने वाले तू,
ध्रुव-विश्वासान्तर्ज्वाला से भर दे अन्तरिक्ष जल, थल,
आज अनल-ताण्डव होने दे मच जाने दे तू हलचल;
तत्त्व निखर आये, असत्य यह होवे भस्मीभूत सभी,
अग्नि-परीक्षा-विधि पूरी हो, जग हो पावक-पूत अभी !

ध्वंस-कार्य यह अभी-अभी ही शुरू हुआ है ज़रा-ज़रा;
गत प्रणालियों का वन-उपवन अभी बना है हरा-भरा;
तुझे इसे उन्मूलित करना है, करना है क्षार, सखे,
तुझे मेटना है जगती के तल से सब अविचार, सखे,
अनल गीत गा उठ तू निर्भय, घिर आये ज्वलन्त ज्वाला;
तू पहिना दे जग-ग्रीवा में, यह अंगारों की माला !

शोलों के फूलों से सज्जित सुख-शय्या हो जाने दे,
भर ले अंगारे करवट में, हूक-लूक उठ आने दे;
अरे, अकर्मण्यता शिथिलता भस्मसात हो जाने दे;
अग्नि-चिता में विजित भाव को तू अब तो सो जाने दे;
त्राहि ? त्राहि ? रे, त्राण कौन-सा ? आज प्राण की होली है ?
तेरी दाहक स्वर-लपटों में स्वयं त्राण की होली है !!

■

गरल पियो तुम ! गरल पियो तुम !!

आज रुद्र ललकार रहे हैं : अमृत पुत्र, लो, गरल पियो तुम,
आज अमर बेला आयी है, गरल पियो, चिरकाल जियो तुम;
ओ तुम चिर जीवन के प्यासे, सुन लो यह भैरव आवाहन;
हिम गिरिवर के तुंग शृंग से गूँज रहा है घण्टा घन-घन !
प्रलयंकर शंकर बैठे हैं खोले वरदानों की झोली;
जागो, ग्रहण करो वर उनका, बढ़े चलो टोली की टोली ।

हहर हहर हर शिखर-शिखर से गरज उठे हैं आज पिनाकी,
आमन्त्रण है आज सभी को, अब क्या चिन्ता भव-बाधा की ?
हिम-आच्छादित शिला-खण्ड सब प्रतिध्वनित हैं उनके स्वर से,
भूधर के सब पार्श्व-देश भी अनुकम्पित हैं स्वर हर-हर से !
हर-हर करती गहर सुरधुनी, ले आयी सन्देश सर्व-हर;
रे, गरजे हैं आज महेश्वर, काँप रहे हैं गिरिगण, गह्वर !

जगती का कण-कण कम्पित है सुन यह महानाश की वाणी,
भारत के रज-कण काँपे हैं सुन-सुन यह वाणी कल्याणी;
आज महाकालेश्वर का ही प्रतिनिधि एक यहाँ आया है;
जिसकी छाया परम अमृत है ! महामरण जिसकी माया है !
अटल हिमाचल से कुमारिका कन्या तक विस्तृत जन-पद में
हैं उसका सन्देश प्रचारित, प्रति गिरि में, गह्वर में, नद में !

देखें कौन वीर सुनता है गरलपान के इस गर्जन को;
नीलकण्ठ के भव-भय-हारी चिर मंगलकर इस तर्जन को,
चिर जीवन के औघड़दानी आज दे रहे मरण - सँदेसा,
सर्व प्राप्ति के इच्छुक हो तो ग्रहण करो यह हरण-सँदेसा !

सुनो: बजा डिम-डिम-डिम डमरू; बोला निपट दिगम्बर, गाँधी:
अरे मरण भी जीवनक्रम है! कैसा प्रलय ? कहाँ की आँधी ?

आज वही सागर-मन्थन है जो होता है कालान्तर में,
आज वही भीषण घर्षण है, कर्षण है जग के प्रान्तर में!
जन-उद्यम का मेरु-गिरीश्वर : मन्थन-दण्ड बना बलशाली;
भोग-भाव के शेषनाग की मन्थन-रज्जु बनी विकराली;
यह अथाह, अज्ञात तत्त्व का अतल महार्णव लहर रहा है।
मथित व्यथित उसका अन्तस्तल उफ़न रहा है, घहर रहा है!

जगती के जनगण, अवलोको यह विकराल महार्णव-मन्थन;
घूर्णित मन्थन-दण्ड निहारो, जिसकी गति का रंच न स्तम्भन;
यह फेनिल आडोलन देखो, निरखो यह प्रशान्त का विप्लव!
कितनी त्वरित चलित है देखो मन्थन-रज्जु विडोलित, विक्लव!
इस विकराल फणीन्द्र-रज्जु के रन्ध्र-रन्ध्र से बहा हलाहल,
जिससे दग्ध हुआ-सा लगता मन्दर-मेरुदण्ड यह पल-पल

देखो इस अथाह जलनिधि के गहन, गभीर, अतल से तल में—
क्या-क्या उद्वेलनमय बुद्-बुद आ उठते हैं इस खल-भल में!
तुम तो अमृत चाहते थे इस सपरिश्रम समुद्र-मन्थन से;
किन्तु हलाहल ही निकला है भोग-विलास-रज्जु-बन्धन से!
तुमने उद्यम मेरु - मथानी चालित की है भोग-पाश से
तब कैसे बच पाओगे इस शेषनाग के विष-विलास से?

लो निकला यह गरल हलाहल, पर तुम मत भागो! मत भागो!
निज उद्बोधन करो! कहो: हे नीलकण्ठ, जागो! अब जागो!!
अरे निहारो समाधिस्थ है विषपायी शंकर अन्तर में;
बम् भोले! बम् भोले!! बोलो, जाग उठेंगे क्षण-भर में;

सुनो, तुम्हीं को पीना होगा अपनी कृति का विषम हलाहल
आज स्ववश करनी ही होगी भीति-भावना की यह हलचल !

अवाप्तव्य अनवाप्त ध्येय के इस अज्ञात अतल का मन्थन,—
तुमने किया; किन्तु फैलाया जग में कैसा भीषण क्रन्दन !
हाहाकार भरा दिशि-दिशि में, नभ रक्ताक्त अश्रु रोता है;
लोहित सब दिङ्मूल हुआ है; रणचण्डी नर्तन होता है;
अन्तरिक्ष से अग्नि-अँगारे बरसाते हो तुम ओ जग-जन,
कहाँ तुम्हारी अमृत-साधना ? कहाँ तुम्हारा यह उत्पीड़न ?

क्या यों ही अज्ञात तत्त्व का अम्बुधि अवगाहन होता है ?
अरे, इस तरह तो मानव-हिय अनपावन पाहन होता है !
निःसन्देह तुम्हारा उद्यम-मन्दर चक्रित चलित हुआ है,
निःसन्देह तुम्हारा सागर - मन्थन कुछ-कुछ फलित हुआ है,
पर, देखो, तव मन्थ-रज्जु से — जो है भोग - विलासी बन्धन,
निकला है यह गरल हलाहल जीवन-भंजन, प्राण-निकन्दन ।

इस दानवी क्रोध, हिंसा का गरल हलाहल कौन पियेगा ?
कौन आज निज को मारेगा ! अरे, कौन चिरकाल जियेगा ?
ओ तुम मानव, ओ मनु-वंशज, तुम्हीं करोगे पान हलाहल !
गगन-विहारी तुम्हीं बनोगे, जो कि धँसे हो आज तलातल !!
मानव हो तो फिर उपमानव, दानव क्यों बनते जाते हो ?
अपनी ही कृति के दल-दल में क्यों फँसते, सनते जाते हो ?

नर हो तो क्यों भूल रहे हो कि तुम शुद्ध नारायण छवि हो ?
यदि लव हो तो अग्नि-पुंज हो, एक किरण हो तो तुम रवि हो !
आओ तो निर्लिप्त भाव से निज विकार अन्तर में धारो;
यदि न कर सके इतना भी तो सर्वनाश है, ज़रा विचारो !

इतनी यह विज्ञान-सम्पदा, इतना यह बल-बुद्धि पराक्रम,–
भस्मसात् होवेगा क्षण में, त्यागो अपने मन का सम्भ्रम !

कहता जा, रे परम तपस्वी, रे अति मानव अरे दिगम्बर !
लख विनाश उन्मुख मानवता, कहता जा तू, रे विश्वम्भर,
यह सन्देश - धारण का यह शंखध्वनि नवल, सनातन,–
अरे कदाचित् सुन न सकेंगे निपट अल्प विश्वासी हम जन !
किन्तु अरे तू तो कहता जा, देता चल सन्देश सुहावन,
इसी तरह मानवता का मन, शायद हो जाये कुछ पावन !

तुझ-जैसा पथ - दर्शक पाकर, यह मानवता धन्य हुई है,
नर में नारायण की झाँकी यहाँ विशेष अनन्य हुई है;
जग ने देखा कि हाँ गुहा का वह मानव-पशु गुप्त हुआ है,
तुझमें देखा कि वह हिंस्र-नर जाने किधर विलुप्त हुआ है;

ओ करुणाकर मेरे बापू, जियो जियो, शत वर्ष जियो तुम !
मानवता के अर्थ, शम्भु हे, गरल पियो तुम! गरल पियो तुम!!

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
१ अक्टूबर, १९४२

■

पथ-निरीक्षण

सुन लो ओ नवीन दीवाने, सुन लो मेरी बात ज़रा,–
अरे, रही है विजय जगत् में सदा काल से स्वयंवरा;
जिसके गट्ठे में ताक़त हैं, है उसकी ही वसुन्धरा;
देकर सीस, असीस मिलें हैं यही विश्व की परम्परा;
विजय और वसुधा ये दोनों बड़े बाप की बेटी हैं;
कापुरुषों की नहीं, सदा ये बलवानों की चेटी हैं।

वरण करोगे विजय ? बनोगे जग में क्या तुम धरणीधर ?
तो सीखो कैसे देते हैं जन शोणित अंजलि - भर - भर ?
विजय वरण करने निकले हो, पग धरते हो यूँ डर - डर ?
कायर ! समझाया कि चले हो तुम अपनी खाला के घर ?
खबरदार ! पीछे मत देखो, लानत है गर तुम झिझको,
क्या है मोल तुच्छ जीवन का, अरे खपा दो तुम निज को !

विजय ? न सोचो कि वह मिलेगी, कब, किस दिन, किस घड़ी, अरे,
विजय नहीं कंकड़ी मिले जो यों ही पथ में पड़ी अरे ?
पहले कुछ चुकते तो कर दो साँचे - चोखे दाम अरे,
भीरु चाहते हैं कि मिले वह विजय बिना कुछ भेंट धरे,
तुम हो अग्निकुमार अरे ओ युवक धुनी, ओ मतवाले,
इस स्वातन्त्र्य-चण्डिका को दो भर निज शोणित के प्याले ।

जब जग विचलित होता दीखे, जब सब छोड़ें संग अहो,
जब दुनिया - दारों की होवे धीमी हृदय - उमंग अहो,
जब कि पड़े जय-जय की ध्वनि का कुछ-कुछ फीका रंग अहो,
तब तुम, अरे युवक, मत डोलो, पथ पर डटे अभंग रहो,
निरुत्साह की, तिरस्कार की यदि तुमको भावना मिले,
तो उसको, हे अटल हिमाचल, सह जाओ तुम बिना हिले ।

तुमको करना है पुरखों के सब पापों का प्रक्षालन,
तुम्हें तोड़ना है सदियों की विकट शृंखला का बन्धन,
है बलि-वेदी,, सखे, प्रज्वलित माँग रही ईंधन क्षण-क्षण,
आओ युवक, लगा दो तो तुम अपने यौवन का ईंधन,
भस्मसात् हो जाने दो ये प्रबल उमंगें जीवन की,
अरे सुलगने दो बलि-वेदी, चढ़ने दो बलि यौवन की ।

आज अग्नि-ताण्डव होने दो, लप - लपटें लहराने दो,
रंजित अग्नि - शिखा उठने दो, अम्बर लौं हहराने दो,
निज ध्वंसावशेष दुर्गों में विजय ध्वजा फहराने दो,
एक बार फिर से जय-जय की विजय गूँज घहराने दो;
हारी थकी अस्थियाँ लेकर करते जाओ कूच सखे,
पथ जैसा है वैसा ही है निरखो नीच न ऊँच सखे !

डिस्ट्रिक्ट जेल, अलीगढ़
२१ जनवरी, १९३४

■

भैरव नटनागर

अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
ओ जगती की पुण्य गन्ध तू, आ गान्धी जीवन-भय हर, हर;
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
चार बरस तक अनहद डमरू खूब बजाया, ओ बम् भोले,
नाच उठा सब जगत् देखकर तेरा वह ताण्डव प्रलयंकर;
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
विकट नाच नाची सब दुनिया तेरे भृकुटि-विलास-मात्र से,
नारी-नर नाचे, शिशु नाचे, नाची युवक-युवतियाँ थर-थर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
रग-रग रोम-रोम, सब, नाच उठे लोहित शोणित-कण,
अहंकार नाचा, हिय नाचा, कम्पित हुआ निखिल मन-अम्बर,
अरे भयंकर ओ शिवशंकर !

हम जड़ भी गतिचलित हो गये, उस तेरे गतिमय नर्तन से,
अवश डुला तव ताण्डव-गति से अचल राष्ट्र-निद्रा-गिरि-मन्दर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
हम नाचे तो, किन्तु हो गये, देव, बहुत कुछ हम बे-ताले,
तव ताण्डव-यति-गति को हमने,विकृत कर दिया था, हे शशिधर;
अरे भयंकर, ओ प्रलयंकर !
तू मति दाता तू, कृति-दाता, गति-दाता तू औघड़ दानी,
अब निष्कृति-निर्गति दाता बन प्रकट रहा है तू, हे नटवर;
अरे भयंकर, ओ प्रयलंकर !
जब जग-जन की आँखों में तू बन जाता है अगति-अकृति-मय,
तभी रुद्र गतिमय होता है तेरा अति गभीर अन्तर-तर;
अरे भयंकर, ओ प्रलयंकर !
नाचा स्वयं, नचाया सब को, और समेटी हैं अब लीला,
'ठहरो!'—यों कहकर तू गुप-चुप नाच रहा है स्वयं ताल पर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
अपना नाच आप नाचेगा ? क्या न नचायेगा अब हमको ?
भर दे रे, तू इसी अगति मिस, भर दे गति हिय में विश्वम्भर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
हम फूहड़ ! हम कैसे नाचें तेरी सुघड़ ताल-गति-यति पर ?
तू ही सदा नाचता रह, रे, एकाकी भैरव नटनागर,
अरे भयंकर, ओ प्रलयंकर !
तेरे रक्त-बिन्दु, श्रम-कण बन, झलक रहे हैं तव ललाट पर,
उसी स्वेद-कण-दर्पण में हम निरखेंगे निज शुद्ध रूप वर ।
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
८ अप्रैल, १९३४

■

मर-मर हम फिर-फिर उठ आये

मर-मर, हम फिर-फिर उठ आये !
अब तक तो कवलित न कर सका, महाकाल मुँह बाये,
मर-मर, हम, फिर-फिर उठ आये !
हम अक्षर, हम अमर सदा के, हम मृत्युंजयकारी,
हम अनादि, हम सतत सनातन, हम न काल के जाये;
मर-मर, हम, फिर-फिर उठ आये !
हम समझे सब भेद : मृत्यु है पट-परिवर्तन-लीला,
जीवन अमर, अनन्त, अनामय, फिर हिय क्यों घबराये ?
मर-मर, हम, फिर-फिर उठ आये !
यह वह रही सजीवन धारा तोड़ प्रकृति पाषाणी,
महा मृत्यु के अन्तर में भी जीवन-बिन्दु समाये,
हम, मर-मर, फिर-फिर उठ आये !
जनम-मरन की भेद-भावना हृदय छोड़कर भागी,
जगी प्रतीति; हिये में हमने अजर अमर पिय पाये,
हम, मर-मर, फिर-फिर उठ आये !
कोटि-कोटि मन्वन्तर से यह जीवन धार पुरानी,—
नित-नूतन-सी उमड़ रही है जड़ता मत्यु नसाये,
हम, मर-मर, फिर उठ आये !
अरे, सहस्रों वर्षों पहले मृत्यु-तत्त्व हम समझे,
धिक् हमको, यदि मरण-भीति यह आकर आज सताये,
हम, मर-मर, फिर-फिर उठ आये !

डिस्ट्रिक्ट जेल, अलीगढ़
२३ जनवरी, १९३४

■

पराजय-गीत

आज खड्ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ,
विजय पताका झुकी हुई है, लक्ष्यभ्रष्ट यह तीर हुआ,
बढ़ती हुई क़तार फ़ौज की सहसा अस्त - व्यस्त हुई,
मस्त हुई भावों की गरिमा महिमा सब संन्यस्त हुई
मुझे न छेड़ो इतिहासों के पन्नों में गतधीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ !

मैं हूँ विजित, जीत का प्यासा विजित, भूल जाऊँ कैसे ?
वह संघर्षण की घटिका है बसी हुई हिय में ऐसे –
जैसे माँ की गोदी में शिशु का दुलार बस जाता है,
जैसे अंगुलीय में मरकत का नवनग कस जाता है,
'विजय-विजय' रटते-रटते मेरा मनुआ कल-कीर हुआ,
फिर भी असि की धार कुण्ठिता है, ख़ाली तूणीर हुआ !

गगन भेदकर वरद करों ने विजय प्रसाद दिया था जो,
जिसके बल पर किसी समय में मैंने विजय किया था जो,
वह सब आज टिमटिमाती स्मृति-दीपशिखा बन आया है,
कालान्तर ने कृपा आवरण में उसको लिपटाया है,
गौरव गलित हुआ गुरुता का निष्प्रभ क्षीण शरीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ !

एक सहस्र वर्ष की माला मैं हूँ उलटी फेर रहा,
उन गत युग के गुम्फित मनकों को फिर-फिर हेर रहा,
घूम गया जो चक्र उसी की ओर देखता जाता हूँ,
इधर-उधर सब ओर पराजय की ही मुद्रा पाता हूँ !
आँखों का ज्वलन्त क्रोधानल क्षीण दैन्य का नीर हुआ,
आज खड्‌ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ !

विजय-सूर्य ढल चुका अँधेरा आया है रखने को लाज,
कहीं पराजित का मुख देख न ले यह विजयी कुटिल समाज,
अंचल, कहाँ फटा अंचल वह ? माँ का प्यारा वस्त्र कहाँ ?
अर्धनग्न, रुग्णा, कपूत की माँ का लज्जा-अस्त्र कहाँ ?
कहाँ छिपाऊँ यह मुख अपना ? खोकर विजय फ़क़ीर हुआ,
आज खड्‌ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ !

जहाँ विजय के पिपासार्त हो गये, आँख की ओट कई,
जहाँ जूझकर मरे अनेकों, जहाँ खा गये चोट कई,
वहीं आज सन्ध्या को मैं बैठा हूँ अपनी निधि छोड़े,
कई सियार, श्वान, गीदड़ ये लपक रहे दौड़े-दौड़े !
विजित साँझ के झुटपुटे समय कर्कश रव गम्भीर हुआ,
आज खड्‌ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ !

रग-रग में ठण्डा पानी है, अरे उष्णता चली गयी,
नस-नस में टीसें उठती हैं, विजय दूर तक टली सही,
विजय नहीं, रण के प्रांगण की धूल बटोरे लाया हूँ,
हिय के घावों में वर्दी के चिथड़ों में ले आया हूँ !
टूटे अस्त्र, धूल माथे पर, हा ! कैसा मैं वीर हुआ,
आज खड्‌ग की धार कुण्ठिता है, ख़ाली तूणीर हुआ !

वर्दी फटी, हृदय घायल, कारिख मुख भर, क्या वेश बना?
आँखें सकुच रहीं, कायरता के पंकिल से देश सना !
अरे पराजित, ओ ! रणचण्डी के कुपूत! हट जा, हट जा,
अभी समय है, कह दे, माँ-मेदनी ज़रा फट जा, फट जा,
हन्त ! पराजय-गीत आज क्या द्रुपद-सुता का चीर हुआ ?
खिंचता ही आता है जब से ख़ाली यह तूणीर हुआ !!

■

अग्नि-कायर-संवाद

अग्नि शिखा ने धधक कहा, "मैं प्यासी हूँ"
कायर बोला, "मैं तो एक उदासी हूँ"
"मुझे क्या ग़रज़ तू प्यासी है या भूखी ?
बता, कहाँ से लाऊँ मैं समिधा सूखी ?"

हवन कुण्ड की आग उगलने लगी वचन:
"अरे भस्म कर दे तू अपना जीवन-धन
मेरी प्यास बुझे, अब मत कर देरी,
तेरे द्वारे आज लगाती हूँ मैं फेरी।

मुझको मत निराश कर तू आलसी अरे,
वरनौ मँडराऊँगी मैं बहु रूप धरे,
कभी बनूँगी मैं परतन्त्र भाव पीड़ा,
कभी खेत खाऊँगी बन अकाल-क्रीड़ा।

अरे कापुरुष, दे-दे तू मुझको पानी
बुझने दे मम प्यास, निपट-से अज्ञानी,
वरना, मैं हूँ आग तुझे खा डालूँगी।
बन कर हिय की हूक हृदय में सालूँगी !"

सुन करके ये वचन भीरु हिय मुरझ गया
पर, वारों के हिय का बन्धन सुरझ गया
उरझ गया बलिदानोत्कण्ठा का फन्दा
मर मिटने के भाव हुए फिर से ज़िन्दा !

■

शिखर पर

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत, रे बलि-बध के सुन्दर जीव,
उस कठोर शिखर के ऊपर है मन्दिर की नींव;
बड़े-बड़े थे शिलाखण्ड मग रोके पड़े अचेत,
इन्हें लाँघ तू, यदि जाना है तुझे मरण के हेत;
ऊपर, अगम शिखर के ऊपर, मचा मृत्यु का रास !
नीचे, उपत्यका में, है जीवन-पंकिल का त्रास।
चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे तू बलिदानों के पुंज,
देख कहीं न लुभावे तुझको यह जीवन की कुंज;
मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरोकर कर दे पूरी माँ की माल,
है जीवन अनित्य, कट जाने दे तू मोहक बन्ध;
कर दे पूरा आज मरण का तू अपना सुप्रबन्ध।

■

१९३०वें वर्ष की समाप्ति पर

जाते हो ? जाओ, सुखेन जाओ, हँसते जाओ, प्यारे,
पूर्ण भूत की सुघड़ जाल में, हँस फँसते जाओ, प्यारे,
हे उनीस सौ तीसवें बरस, क्रीड़ा-काल बीत आया,
तुम्हें बुलाने को, मुसकाता, देखो वह अतीत आया;
छिन-छिन बीत रही है आज, तुम्हारी क्रीड़ा की घड़ियाँ,
खिसक रही हैं खन-खन करतीं काल श्रृंखला की कड़ियाँ।

मुझे याद है वह दिन जब तुम, आये थे हँसते-मिलते;
उस निशीथ के अपर काल में, देखा था तुमको खिलते;
शरत्कृशा रावी के तट पे, छटा तुम्हारी देखी थी;
उस दिन इस जीवन में एक, नयी आभा अनुलेखी थी;
उस दिन लगा चुके थे, दावों पर जो कुछ भी पूँजी थी,
हे सुवर्ष, उस दिन, 'स्वतन्त्र भारत की जै' ध्वनि गूँजी थी।

उस दिन भारत के दिङ्मण्डल में, गूँजा उद्घोष नया;
उस दिन बन-ठनकर झुन-झुन करती, आयी आशा विजया;
मुझे याद है; उस दिन झण्डे के नीचे कुछ गान हुआ;
अथवा सोते हुए देश की, जागृति का कुछ भान हुआ;
वह प्यारा कप्तान जवाहर, उस दिन नाचा फिरा वहाँ;
आशाओं का पुंज याद है, उस दिन जैसा घिरा वहाँ !

लिखी हुई है अहो तुम्हारे, वक्षस्थल पर अमिट कथा;
कितनी मादकता, कितनी दाहकता, कितनी विकट व्यथा,
ये अनेक वलिदान, प्राण की यह, उत्सुक चटपटी भली;
रे सुवर्ष, देखी है तुमने, निपट वीरता गली-गली;
अनाचार, गोली, डण्डे की, क्रूर यातना देख चुके;
यह सब रख देना उन, अलक्ष्य चरणों में झुके-झुके।

पूर्ण भूत के स्वप्न दुर्ग का, मृण्मय सिंह द्वार खुला;
फहरा रही कँगूरों पर, विस्मरण ध्वजाएँ ये मृदुला;
खड़े पेशवाई को आत्म विसर्जन के ये दरबारी;
दर्शन करने को आयी हैं मदिर भावनाएँ सारी,
हे सुवर्ष नव हर्ष आज सब ओर वहाँ उच्छ्‌वसित हुआ,
महाकाल का देश तुम्हारे स्वागत में उल्लसित हुआ।

जाओ, सखे, थकित मानवता का, इतिहास बनाने को;
जाओ, शान्त, बिना बोले, विश्रम अवकाश मनाने को;
एक बार गिन-गिनकर अपनी, कृतियों की दुनिया छोड़ो,
जोड़ो नाता निष्कृति से, आविष्कृति की मणियाँ फोड़ो;
हे अशान्त, विश्रान्त घाट की, ओर छोड़ दो रिक्त तरी;
आशा और निराशाओं की छोड़ चलो अपनी गठरी।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
३१ दिसम्बर, १९३०

■

विप्लव गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि - त्राहि स्वर नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाये,
बरसे आग, जलद जल जाये, भस्मसात् भूधर हो जायें,
पाप पुण्य सद् - सद् भावों की धूल उड़ उठे दायें - बायें;
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक - टूक हो जायें,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये,

माता की छाती का अमृत मय पय काल कूट हो जाये,
आँखों का पानी सूखे, हाँ, वह ख़ून की घूँट हो जाये,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाये,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह अचल शिला विचलित हो जाये,
और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाये,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये !

नियम और उप नियमों के ये बन्धन टूक - टूक हो जायें,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें,
शान्ति दण्ड टूटे, उस महा रुद्र का सिंहासन थर्राये,
उसकी शोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्रांगण में घहराये,
नाश ! नाश !! हाँ, महानाश!!!, की प्रलयंकरी आँख खुल जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये !

"सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजराबें, युगलांगुलियाँ ये मेरी एठी हैं,
कण्ठ रुका जाता है महानाश का गीत रुद्ध होता है।
आग लगेगी क्षण में, हृत्तल में अब क्षुब्ध युद्ध होता है ॥
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं इस ज्वलन्त गायन के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्षुब्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से।

"कण कण में है व्याप्त वही स्वर, रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है कालकूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन ज्योति लुप्त है अहा ! सुप्त हैं संरक्षण की घड़ियाँ।
लटक रही हैं प्रतिपल में इस नाशक संभक्षण की लड़ियाँ।
चकनाचूर करो जग को गूँजे ब्रह्माण्ड नाश के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से !

"दिल को मसल-मसल मेंहदी रचवा आया हूँ मैं यह देखो —
एक एक अंगुल-परिचालन में नाशक ताण्डव को पेखो।
विश्वमूर्ति ! हट जाओ, यह बीभत्स प्रहार सहे न सहेगा।
टुकड़े - टुकड़े हो जाओगी, नाश-मात्र अवशेष रहेगा ॥
आज देख आया हूँ जीवन के सब राज़ समझ आया हूँ,
भ्रू - विलास में महानाश के, पोषक सूत्र परख आया हूँ;
"जीवन गीत भुला दो कण्ठ मिला दो मृत्यु गीत के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तरतर से !

जीवन में जंज़ीर पड़ी खन-खन करती है मोहक स्वर से —
अन्दर आग छिपी है इसे भड़क उठने दो एक बार अब,
दहल जाय दिल, पैर लड़खड़ायें, कँप जाय कलेजा उनका,
नाश स्वयं कह उठे कड़क कर उस गभीर, कर्कश-से स्वर से :

"बरसों की साथिन हूँ तोड़ोगे क्या तुम अपने इस कर से ?,
ज्वालामुखी शान्त है इसे कड़क उठने दो एक बार अब।
सिर चक्कर खाने लग जाये टूटे बन्धन शासन-गुण का।
'रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से'!

■

बसन्त

कविते, सूना है यह जीवन, भार भूत, नैराश्य भरा
फिर भी कारा में आया है, यह मधुपति कुछ डरा-डरा,
पदाक्रान्त मैं ज्वराक्रान्त हूँ, निस्साधन अति दीन अहो,
कविते, ऋतु राजा को कैसे आज रिझाऊँ ? तुम्हीं कहो ?

नहीं दिखा सकता हूँ दिल के शोलों की आतिश-बाज़ी
कहीं साफ़गोई न बढ़ा दे पिय की अगली नाराज़ी !

पीपल की डालें दिखती हैं मेरे छोटे जँगले से,
आज साँझ को मैंने देखे उनके रँग-ढँग वदले-से,
थिरक रही थी सान्ध्य-पवन में पीपल की हर-हर डाली,
खेल रही थी किरणों से पत्तियाँ सुनहली हरियाली,

डूब गया इतने में सूरज, पड़ीं पत्तियाँ वे काली
है ऐसा मेरा जीवन; छिन उजियाली, फिर अँधियाली !

डिस्ट्रिक्ट जेल, बरेली
३० जनवरी, १९३३, वसन्त पंचमी

■

तन-मन से तुमको प्यार किया

तन-मन से तुमको प्यार किया; धन से कैसे करते, बोलो ?
धन से न कभी उन्सियत रही; सम्पत्ति कहाँ धरते, बोलो ?
है तंग जगह इस जीवन में, है यहाँ वक़्त की भी तंगी;
थोड़े - से क्षण, छोटा बरतन, इनमें क्या - क्या भरते बोलो ?

हमने बटोर दीवानापन, लाकर इनमें रक्खा, यारो,
दुनियादारों के लेखे तो खाया हमने धक्का, यारो,
लेकिन इस निःसाधनता में है एक लुत्फ़ कुछ अपना ही,
वह क्या है, क्या बतलायें हम ? गूँगे ने गुड़ चक्खा, यारो;

कह सकते हो : हम असफल हैं इसलिए हुए हम वैरागी;
कह सकते हो : हम पराभूत हैं इसीलिए बनते त्यागी;
पर, प्रेम नहीं है विजितवाद, है आदि-प्रेरणा वह मन की
जिसने सनेह-धूनी तप ली, वह तो सचमुच है बड़भागी,

इक हैरत होती है हमको; कुछ ज़रा तरस भी आता है,—
मुख़्तसर ज़िन्दगानी में यह मानव कैसा गुर्राता है;
तानाशाही, नाना गर्दी, ख़ूँरेज़ी, यह बे - ईमानी।
गर आज मरे कल, कल दूजा दिन; फिर भी नर यों इतराता है !

ये चन्द ज़िन्दगी के लमहे गर धन बटोरते ही बीते, —
गर, इस कोशिश से पा जाये मानव सब फल मन के चीते,—
तौ भी क्या दिल भर जायेगा सोने-चाँदी की झन - झन से ?
यदि हिय टटोल कर देखोगे, पाओगे अपने को रीते,

सोचा, जीवन-कूज़े में हम क्यों जमा करें कंकड़-पत्थर !
सोचा, सनेह के नव रस से लें क्यों न लबालब इसको भर ?
जब नयी जवानी में दुनिया बढ़ती है धन-संचय करने,—
उस वक़्त चल पड़े हम जोगी इस उलटे-सीधे मारग पर;

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
६ नवम्बर, १९३०, रात्रि १२-४०

■

हम अलख निरंजन के वंशज

हमने भी पाया अजब हृदय,
हम जग को करने प्यार चले,
पर अजब तमाशा हुआ यहाँ :
हम सबके हो हिय-भार चले;
जिस - जिसको हमने अपनाया
वह बेगाना हो गया यहाँ,
मरु में सनेह वर्षण करते
इस जग में हम बेकार चले

हम रहे फुट्ट फैयल याँ पर,
हम इधर - उधर हिय - हार चले
जीवन की इस डगरी में हम
अपना सब कुछ ही वार चले
जिनको हमने अपना समझा
वे ही अब हम से कहते हैं :
'तुम कौन हमारे होते हो ?
तुम ग़लत धारणा धार चले';

हम जन्मजात बौड़म ठहरे,
हमको कब आयी अक़ल ज़रा?
इस दिन भी तो उन सबके हित
हम ही जाते हैं विकल ज़रा;
ऐसा कुछ लगता है : गोया,
अपने ही दिल के टुकड़े को—
अपना-सा कर पाने में हम
हो गये यहाँ पर विफल ज़रा;

हम पास बढ़े जितना उनके
वे उतना हमसे दूर हुए;
वत्सलता, स्नेह, दुलार प्यार—
सब उनको नामंज़ूर हुए;
हम थे मुग़ालते में अब तक
जब ठेस लगी, तब होश हुआ;
इक खरी आँच के लगते ही
हिय के सम्भ्रम बे-नूर हुए;

फिर भी हम तो हैं मस्ताने,
है हमें न ख़्वाहिश दानों की,
हम नहीं भिखारी दर-दर के,
परवाह न निज अरमानों की,
हम अलख निरंजन के वंशज;
निज मनोरथों के हम हन्ता;
अपना सब कुछ देने में ही
है सार्थकता इन प्राणों की?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२ दिसम्बर, १९३८, रात्रि २ बजे

■

सम्भाषण

आज चाँद ने ख़ुश-ख़ुश झाँका,
काल-कोठरी के जँगले से;
गोया मुझसे पूछा हँस कर,
कैसे बैठे हो पगले-से ?

कैसे ? बैठा हूँ मैं ऐसे—
कि मैं बन्द हूँ गगन-विहारी,
पागल-सा हूँ ? तो फिर ? यह तो,
कह हारी दुनिया बेचारी,

मियाँ चाँद, गर मैं पागल हूँ—
तो तू है पगलों का राजा;
मेरी तेरी ख़ूब छनेगी,
आ, जँगले के भीतर आ जा

लेकिन तू भी पार फँसा है—
इस चक्कर के ग़न्नाटे में;
इसी लिए तू मारा-मारा—
फिरता है इस सन्नाटे में;

अम्याँ, चकरघिन्नी फिरने का—
यह भी है कोई मौजूँ छिन ?
गर मंजूर घूमना ही है,
तो तू ज़रा निकलने दे दिन

यह सुन वह आदाब बजाता—
खिसक गया डण्डे के नीचे;
और कोठरी में 'नवीन' जी
लगे सोचने आँखें मींचे।

डिस्ट्रिक्ट जेल, अलीगढ़
१९३३

■

उत्सीदेयुरिमे लोकाः

किसने हमें सुनाया आकर यह कठोर सन्देश !
कि तुम डटे ही रहना, विचलित मत होना लवलेश ?
किसने भरे हमारे दृग् में ये सपने साकार ?
किसने पहनाया है हमको यह यात्री का वेश ?

थक जाते हैं तब भी रहता ही है इतना ज्ञान :
कि हम प्रवासी हैं; हमको क्यों व्यापे आज थकान ?
हमें निभानी ही है अपनी निष्ठा, अपनी लीक;
जान-बूझकर आज बनेंगे क्या हम निपट अजान ?

हमने जान-बूझ कर ओढ़ा जन-संग्रह का भार;
जान-बूझ कर लादा हमने सिर पर यह अम्बार;
समझ-बूझ कर जब लिखवाया इस सूची में नाम, —
कहो, त्याग बैठें क्या तब हम निज पथ-क्रमण-विचार ?

आज थके हैं प्राण, थके हैं पाँव, थकी है देह;
किन्तु, बन्धु, हम कैसे छोड़ें निज प्रवास का नेह ?
'उत्सीदेयुरिमे लोका:' यदि हम हों तन्द्रित आज !
इसी लिए हमको रहना है अथकित, नित्य अगेह !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१२ जून, १९४४

■

क्यों रोते हो, यार ?

क्यों रोते हो, यार, सिपाही, क्यों रोते हो यार ?
क्या घर की चिट्ठी को पढ़कर जीवन लगा असार ?
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

घर पर विवश छोड़ आये थे तुम जो मनहर मीत,–
क्या मालूम हुआ है, तुमको, हुआ वही विपरीत ?
क्या, बस, रोने लगे इसी से ओ तुम अचल अभीत ?
बड़ी कठिनता से मिलता है यहाँ अचंचल प्यार !
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

मुँह देखे की प्रीत यहाँ है, मुँह देखे की लाज,
कोई अपनी माँग भरे क्यों निर्वासित के काज ?
नित्य समागम पर ही स्थित है अपना मनुज समाज !
यह ध्रुव सत्य परख लो, भाई, मत बैठो मन-मार;
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

तुम्हीं नहीं हो यहाँ अनोखे, निज पीतम से त्यक्त,
तुम-जैसे हैं कई, – व्यथाएँ जिनकी हैं अव्यक्त;
निज प्रिय छोड़, लाम पर जाते हैं जो भी अनुरक्त–
उनमें बहुतों को मिलता है यही अथिर व्यवहार !
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

बुरा मानने का इसमें है, तुम्हीं कहो क्या काम ?
आकर अन्य बसेंगे ही जब रीता होगा धाम !
'प्रकृति यौति मानवी'–समझो यह रहस्य हिय थाम !
यह है शती बीसवीं; प्रचलित हैं अब नये विचार !
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

सामूहिक उत्थान हेतु हैं अर्पित जिनके प्राण,—
उनको निज का वैयक्तिक सुख क्यों रोके हठ ठान ?
निवेदितों में तुमने जब निज नाम लिखाया आन,—
तब, अब कहो, शिकायत कैसी ? क्यों यह हा-हा-कार ?
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

तुम कहते हो : अरे ! पराया हुआ वही रसखान,—
जिसने हुलस दिये थे हमको नित्य अमित वरदान !
हाँ ! पर, कब तक बाट तुम्हारी जोहें आतुर प्राण ?
यों, अधर में लटके, कब तक चला करे संसार ?
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

तुमने पकड़ा समझ - बूझकर ऊबड़ - खाबड़ पन्थ;
ऐसा पन्थ, कि नहीं दिखाई पड़ता जिसका अन्त !
तुमने ओढ़ी जान - बूझकर विपदा अतुल - अनन्त;
तब क्या आशा कि संग चलेगा कोई प्राणाधार ?
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

क्या अधिकार तुम्हें कि अन्य पर डालो अपना भार ?
पथ का साथी ढूँढ़ो, ऐसा तुमको क्या अधिकार ?
तुम्हीं कहो, कब हुआ दुकेला इकतारे का तार ?
तुम भी करते रहो अकेले झन-झन स्वन संचार !
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२३ अप्रैल, १९४४

■

खिचड़ी

आशु-तोष, क्यों असन्तोष की धधक रही है ज्वाला ?
भस्म कर रही है क्यों मेरे हिय को यह विकराला ?
असन्तोष है ? या है केवल यह दुश्चिन्ता प्रबला ?
अथवा इस हिय में छायी है आत्म-दीनता अटला ?
लप-लप लपक रहीं ज्वालाएँ ये सब यहाँ घनेरी,
यह जीवन होने को है क्या आज राख की ढेरी ?

क्या यह पतनोन्मुख भावों की द्योतक है बेचैनी ?
क्यों चलती है हिय में क़ैंची - सी यह पैनी - पैनी ?
पतन प्रेरणा है यह ? या यह उन्नति - द्योतकता है ?
या यह केवल मति-विभ्रम की प्रखर विमोहकता है ?
भोले बाबा, रंच बता दो है कैसी यह माया ?
मेरे नभ - मण्डल में छायी है यह कैसी छाया ?

इन संकल्प - विकल्पों ने है डाला हिय में डेरा,
चपला उद्विग्नता आ गयी करने रैन - बसेरा;
यह प्रमाद है ? अलस भाव है या विराग - गैरिकता ?
है जीवन-शर्करा ? या कि यह है केवल मरु-सिकता ?
अहो वृषभ वाहक, दाहकता उठती है क्षण-क्षण में
रह-रहकर क्यों होने लगती है तड़पन तन-मन में ?

खद-बद, खद-बद हिय की हाँड़ी निशि-वासर करती है;
है यह क्या जो उथल-पुथल यों मम हिय में भरती है ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
९ जनवरी, १९३१

■

क्रान्ति ?

क्रान्ति ? क्रान्ति ? मेरे आँगन में
यह कैसा हुंकार मचा ?
बोलो तो यह किसने अपने–
श्वासों का फुंकार रचा ?

झंकारों, धनु टंकारों का
यह चिर परिचित स्वर छाया;
रण-भेरी का यह भैरव-रव,
कहो कहाँ से घिर आया ?

क्या सचमुच ही महा प्रलय की आँधी उठ आयी क्षण में ?
ऐं ? क्या महा क्रान्ति मतवाली आयी मेरे प्रांगण में ?

क्रान्ति जगी, आँधी आयी, यह
उठी ज्वाल, चीत्कार हुआ;
नभ काँपा, धरती भर्रायी,
जग में हाहाकार हुआ;

वार हुए छाती पर; मन के–
मन्सूबे मिस्मार हुए
प्रलयंकर प्रवाह में पड़कर
कितने बे-घर-बार हुए ?

शोक कहाँ ? वेदना कहाँ है ? मिटने का उल्लास यहाँ;
मोह उठा, सब पाप कटा, अब रहा न जीवन-त्रास यहाँ !

आओ क्रान्ति, बलायें ले लूँ,
अनाहूत आ गयी भली;
वास करो मेरे घर - आँगन;
विचरो मेरी गली - गली;

सड़ी - गली परिपाटी मेरी,
इसे भस्म तुम कर जाओ;
विकट राज-पथ में मँडराओ
जन-पद में डोलो आओ;

नयी अग्नि ज्वाला भड़का दो तुम मेरे अन्तरतर में
अरी, नये, नक्षत्र जगा दो मेरे धूमिल अम्बर में।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२० दिसम्बर, १९३१

■

अनल गान

अरे, अरे, ओ निपट निराशा की श्वासें भरने वाले,
अरे पराजित, अरे पराजयवादी, ओ मरने वाले,
ओ शंकित चितवन वाले, ओ आत्म-रूप-विस्मृति वाले,
ओ विजयेच्छुक, ओ गमनोत्सुक, ओ निदाघ-संस्कृति वाले,

दूर पार से आज आ रही अनल-गान की तान नयी,
आज वायु में निष्पन्दन है, कण-कण में है जान नयी।

अनल गीत सुन ले, ओ यौवन के मदमाते वीर बली,
अग्नि गीत की यह स्वर लहरी अन्तरिक्ष को चीर चली;
तारक माला-सी स्फुलिंग स्वर-श्रुतियाँ सब दिशि फैल रहीं,
अनल-कुमार, आज तू पावक स्वर-तरंग से खेल यहीं;
आज अग्नि - संस्कारों की तू हो जाने दे रस्म, सखे,
अग - जग की जड़ता - चंचलता हो जाने दे भस्म; सखे !

स्वर-सप्तक कुछ नहीं, ताल-यति-गति को भस्मीभूत किये,—
निपट अटपटी विकट तान से चिनगारियाँ प्रसूत किये—
अरे, चला चल सर्व दहन का वैश्वानर-सन्देश लिये;
आज लुकाठी की वीणा ले चल, दाहक का वेश किये;
अग्निमयी ही नहीं, अनल-सम्भूता हो. वीणा तेरी !
अरे क्रान्तिदर्शी, उठ आये अग्नि-शिखा, अब क्या देरी ?

तू नाशक ध्वनियों का गायक, तू विकराल क्रान्ति-द्रष्टा,
तू विद्रोह रूप प्रलयंकर, तू है अनल-राग-स्रष्टा,
तेरे प्राणों में तड़पन है, नीच भावना अब कैसी ?
यह विश्वासघात अब कैसा ? दुष्कृतियाँ क्यों, अब ऐसी ?
कर दे क्षार-क्षार अपनी इन प्राणमोहनी कृतियों को,
खण्ड-खण्ड कर दे, रे मोही, निज दुर्बल संस्मृतियों को।

कितनी सदियों से लादे है तू उर पर यह भार बड़ा ?
अरे, तनिक तो बता कि कैसे तेरा यह अविचार बढ़ा ?
जीवन-कन्दुक ठुकराने का तू ने स्वांग भरा, क्यों रे ?
रंच बता तो, किन ग़लियों में अब तक तू विचरा यों, रे ?
अब उठ, आज जला दे सत्वर निज व्यक्तित्व, मोह, ममता,
माँग अलख से भीख कि तुझको मिले ज्वलित पावक क्षमता।

ओ बरसों से शिथिल पाश में जकड़े रहने वाले, तू,
आत्म-दीनता की दाहकता में निज दहने वाले, तू,
ध्रुव विश्वासान्तर्ज्वाला से भर दे अन्तरिक्ष, जल, थल,
आज अनल-ताण्डव होने दे, मच जाने दे तू हलचल,
तत्त्व निखर आये, असत्य यह होवे भस्मीभूत सभी,
अग्नि-परीक्षा-विधि पूरी हो, जग हो पावक-पूत अभी।

ध्वंस-कार्य यह अभी-अभी ही शुरू हुआ है ज़रा-ज़रा,
गतानुगति का वन - उपवन अभी बना है हरा - भरा,
तुझे इसे उन्मूलित करना है, करना है क्षार, सखे,
तुझे मेटना है जगती के तल से सब अविचार, सखे,
अनल गीत गा उठ तू निर्भय, घिर आये ज्वलन्त-ज्वाला
तू पहना दे जग-ग्रीवा में, यह अंगारों की माला।

शौलों के फूलों से सज्जित सुख-शैया हो जाने दे,
भर ले अंगारे करवट में हूक-लूक उठ आने दे;
अरे, अकर्मण्यता शिथिलता भस्मसात् हो जाने दे;
अग्नि-चिता में विजित भाव को तू अब तो सो जाने दे;
त्राहि ? त्राहि ? रे, त्राण कौन-सा ? आज प्राण की होली है !
तेरी, दाहक स्वर-लपटों में स्वयं त्राण की होली है !

■

हे क्षुरस्य धारा पथगामी

हे विशुद्ध, हे पूर्ण बुद्ध, सुनिरुद्ध तृष्ण, हे संन्यासी,
हे ज्वलन्त, हे सन्त, शान्त हे, हे अनन्त के अभ्यासी,
मानवता की तुम प्रहेलिका, जगती के तुम अचरज हे,
हे विकास की विकट समस्ये, श्रेष्ठज हे, जय अन्त्यज हे,
योग-युक्त हे, शोक - मुक्त हे, यज्ञ-भुक्त, हे बलिदानी,
हे अपमानित, हे सम्मानित, श्री गुरुदेव परम ज्ञानी,

हे प्रलयंकर, हे शंकर, हे किंकर, हे निष्ठुर स्वामी,
परम सेव्य, हे तुम चिर सेवक, ओ कर्मठ, ओ निष्कामी,
हे क्षुरस्य धारा - पथ - गामी, हे जगमोहन जय, जय हे,
युद्धवीर हे, रुद्धपीर हे, नीति - विदोहन, जय जय हे,
अनय-क्षय हे, अभयनिलय हे, सदय हृदय पाप - क्षय हे
हे कृतान्त-से काल-कूट तुम, जीवन दायक मधु पय हे,

धन्य हुई यह वसुधा वृद्धा, मानवता यह धन्य हुई,
तव विप्लवकारी प्रसाद से भय-भावना नगण्य हुई;
ये मिट्टी के पुतले भी बढ़-बढ़ लड़ गढ़ चढ़ने दौड़े,
क्या ही फूँके प्राण कि इनने सदियों के बन्धन तोड़े;
आज उठी है अश्रुत स्वर लहरी जगती के अम्बर में,
एक नवल उत्साह - वीचि फैली है सकल चराचर में;

आज शस्त्र-अस्त्रों की घातें खूब कुण्ठिता हुईं भली,
'अक्कोधेन जिने क्कोधम्' की क्या ही चरचा नयी चली !
अहो विश्व के हृदय - पटल को कम्पित कर देने वाले,
अहो कराल, मृदुलता से मानव हिय भर देने वाले,

आज सत्य, शान्ति की, व्यक्तिगत परिधि विश्व व्यापिनी बनी
यह आकुंचित तटिनी जग - विप्लावक मन्दाकिनी बनी,

देव, तुम्हारे एक इशारे में है उथल - पुथल जग की
उदधि गभीर कण्ठ-ध्वनि में है आभाविप्लव के रंग की।
अस्थि-पुंज में यज्ञ - कुण्ड की ज्वालाएँ ये धधक रहीं
ओ प्रचण्ड तापस, बस-बस, जग भस्मसात् होवे न कहीं!

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
२४ सितम्बर, १९३२

■

ओ, सदियों में आने वाले!

आज सुनी फिर से जग जन ने
विकट गड़गड़ाहट अम्बर में,
इन्द्र-वज्र की गगन भेदिनी
ध्वनि गूँजी नभ के अन्तर में;
दिक्-गज डोले, काल कँप उठा,
जब कि दधीचि अस्थियाँ कड़कीं,
वृत्र अन्ध की असुरपुरी में
छल - भस्मक ज्वालाएँ भड़कीं;
इक तापस की डेढ़ पसलियाँ
कुलिश गर्जना फिर उट्ठी हैं,
विगत प्राक्-इतिहास कथाएँ
स्मृति पर आज उभर उट्ठी हैं।

विस्मृत युग में थे दधीचि वे
जिनने अपना देह - दान कर,–
हरण किया था वृत्रासुर का
अन्धकार घनघोर प्राण - हर;

एक दधीचि आज आया यह
जिसको यज्ञ-हुताशन - ज्वाला,–
प्राण-अरणि के संघर्षण से
धधकी देह बीच विकराला;

अस्थि - पुंज यह, यज्ञ-वेदि-सम;
ज्वलित हो उठा आत्म-ज्वाल से;
चिन्तन मग्न आज यह नरवर
घिरा हुआ है ज्वाल - माल से !

यह प्रचण्ड होलिका जल रही
उसके तपोज्वलित अन्तर में,
फैला है आलोक शोक हर,
दृग्-दृग् में, अवनी-अम्बर में;

निज तप के उत्तुंग शिखर चढ़,
सुलगा कर प्राणों की होली,
अलख जगाकर कहता है यह :
चेत ! अरी मानवता, भोली !

इसका तप सन्देश - दिवाकर
चमक रहा है गगनांगन में;
अरे, रहेगा अब भी क्या तम
मानवता के मन - प्रांगण में ?

कई युगों से ठना हुआ है
जड़ औ' चेतन में भीषण रण,
कई युगों से जूझ रहे हैं
चिर प्रकाश औ' निबिड़ तिमिर घन;

कई युगों से, अहो, हो रहा,
इन्द्र-वृत्र का यह संघर्षण;
युग-युग से होता आया है
दधीचियों का प्राणाकर्षण;

अगम काल-नद में होता ही
रहता है प्राणों का तर्पण,
अरे 'स्वधा' 'स्वाहा' से ही है
प्राण - विवर्द्धन है प्राणार्पण;

तम-प्रकाश के तुमुल युद्ध में
क्या तम की ही तूती बोली ?
क्या न हुई है पग-पग पर
अन्धकार की हँसी - ठठोली ?

घन तम ने तो, अरे सदा ही
अपनी कलुष कालिमा धो ली,
पर प्रकाश तो छिटकाता ही
रहा सदा निज कुंकुम-रोली;

फिर से आज धरा डोली है,
फिर से आज जली है होली;
फिर से आज एक तापस ने
निज प्राणों की झोली खोली !

इन चालीस करोड़ जनों की
आशाओं का पुंज सनातन,
इन चालीस करोड़ जनों के
गौरव का प्रतीक सु-पुरातन,

इन चालीस कोटि मूकों की
घन-गर्जन गम्भीर गिरा वह
तिमिर-ग्रस्त चालीस कोटि की
तेज-पुंज चिर ज्योति शिरा वह,

मुट्ठी - भर हाड़ों की ठठरी,
वह गान्धी जग-मोहन, जय-जय !—
प्राणों को रख चुका दाँव
पर, होकर अति निःसंशय, निर्भय !

जिनने प्राणों के बदले में
सीखा है प्राणों का लेना,—
जिनने सीखा है निष्कारण,
यों ही, पर को पीड़ा देना,—

क्यों न हँसे वे देख-देख यह
तिल-तिल प्राण-हवन की क्रीड़ा ?
क्यों न हँसे वे देख सन्त को
जग के कारण सहते पीड़ा ?

इसी तरह तो कभी हँसे थे वे—
वे येरुशलम निवासी ?
उनसे पहले विहँस चुके थे
यूनानी सुख - भोग - विलासी !

है अति गहन तमिस्रा जग में;
हाँ, छाया है आज अँधेरा;
पड़ा हुआ है आज विश्व में
भीषण अन्धकार का डेरा;

आज चुनौती हमें दे रहा
यह दुर्दम तम त्रास भयानक,
कहता है 'लो नष्ट हुए हैं
सभी ज्योति के स्वप्न अचानक !'

किन्तु महा मानव कहता है
'मम हिय में है प्रखर प्रभाकर,
मत घबड़ाओ, मानव
जग में मुसकायेगी ऊषा अमाहर !'

जग को ज्योति दान देने हित,
अपने कोमल अन्तर-तर में–
ओ अति मानव, किया निमन्त्रित
तू ने रवि निज-हिय-अम्बर में ?

सूर्य चक्र का बेधन कर तू,
मत कर यों ब्रह्माण्ड विद्ध, तू,
ऐसी विकट साधना मत कर,
ओ निर्मोही महासिद्ध, तू,

यह तव तप-उज्ज्वल अन्तस्तल,
यह तव दुर्बल देह पुरातन,
अरे, धधक उट्ठेगी, रुक जा,
ओ बलिदानी, ओ करुणा घन !

सहन कर सकेगी न, अरे यह
अति तप-तेज, पुरानी काया;
और, हमारा तो संबल है
यही जिसे समझा तू माया;

तुझ देही को इसी देह मिस
अब तक हम सबने पहचाना,
तेरे इस शरीर को ही तो
हमने अपनी निधि है माना;

तव जर्जर पंजर ही तो है,
हम दीनों का एक सहारा,
यह न रहा तो हो जायेगा
बस अनाथ यह देश विचारा।

डौंक रही है यह पामरता,
पशुता भी गर्जन करती है,
भावी की काली अँधियाली
हिय में चिन्ता-भय भरती है;

अरे, ज्योति तो है तेरे ही
इन सकरुण, स्वप्निल नयनों में,
ये यदि मिचें, अँधेरा होगा,
तेरे जन-गण के अयनों में;

खोले रह, रे तू खोले रह,
मत मिचने दे अपने लोचन,
इन्हीं टिमटिमाते दियलों से
होगा जग का संकट-मोचन!

जब युग उद्ग्रीवी होता है,
जब सदियाँ करवट लेती हैं–
मानवता की पुण्य सुकृतियाँ
जब वरदान अमित देती हैं,–

अरे, तभी तो जग-मरु-थल में
ऐसा कमल विहँस खिलता है,
बड़े भाग्य से जन-समूह को
ऐसा पथ-दर्शक मिलता है;

ना ज़ाने कितने चिर संचित
पुण्यों का प्रतिफल, तू आया;
यह न भूलना कि है हमारे
लिए, अमृत तेरी यह छाया !

हम तेरी वेदना-व्यथा को
क्या जानें ? कैसे पहचानें ?
तेरी अतला गहराई की,
कैसे जायें थाह लगाने ?

तुझ-सा तो तू ही है, नरवर,
तव समानधर्मा न यहाँ है;
ओ सदियों में आने वाले,
तेरी उपमा सुलभ कहाँ है ?

तू अपना अपमान स्वयं है,
अनुपमेय तू, अरे निराले,
तुझको तू ही जान सके है,
ओ आजानु भुजाओं वाले !

आज बनायें क्या हम तेरे
अगणित वरदानों की सूची ?
तव तप-बल ही से इस भू पर
उठी बहुत मानवता ऊँची;

रेंग रहे थे जो कि पेट के
बल, इस भूमि-खण्ड के जग-जन,—
वे ही अब तो उन्नत शिर हैं;
सबल हुए उनके दुर्बल मन;

तव प्रसाद से प्राप्त हुआ है
सदियों का खोया अपनापन,
अरे, आज हुंकार उठे हैं
ये नंगे, भूखे, जर्जर तन।

अपनों को मत होम, दया कर,
मत मर, मत मर, अरे अमानी;
ग्रहण कर सकेंगे न कभी हम
तेरा प्राण-दान, ओ दानी,

अल्प प्राण हम, महा प्राण तू,
स्वल्प निष्ठ हम, तू दृढ़चेता,
मरण-वरण मत कर, रे नरवर,
मत बन, मत बन, तू नचिकेता !

तुझसे हमें बहुत पाना है;
अरे अभी तो केवल अथ है,
'इति' मत कर; ले देख, हमारा
कितना विस्तृत, बन्धुर पथ है।

अभी कहाँ ? अब आने को है
तेरा युग तो, अरे प्रवर्त्तक,
तू तो अग्र सूचना लेकर
आ पहुँचा है सत्य समर्थक;

उस युग के निर्माण-काल का
तू ही तो होगा अधिनायक;
उस प्रभात की मधुर भैरवी
का तू ही तो होगा गायक;

इसी लिए तू टेर हमारी
सुन ले, ओ योगी ध्यानस्थित
तुझको तो अपने जन-गण को
करना ही है बहुत व्यवस्थित ।

यदि उस पार बुलावे कोई,
तो तू मत सुन, मत जा, प्यारे,
तेरे बिना, सोच ले क्या-क्या
हो जायेंगे हाल हमारे ?

घटाकाश-वाणी मत सुन तू,
तू मत सुन बलिदान निमन्त्रण;
प्राण-हवन की विकट क्रिया का
अब तो कर लें रंच नियन्त्रण ?

देह नहीं है तेरा बन्धन,
प्राण नहीं हैं तेरे बन्धन,
जन्म-बन्ध से विनिर्मुक्त तू,
ओ जग के तम तोम-निकन्दन !

मत जा गोकुल छोड़; न जा
यमुना पार, अरे, ओ मोहन,
तुझ बिन कौन सुरास रचेगा,
कोन करेगा फिर गो-दोहन ?

मुरली कौन बजावेगा फिर ?
ग्वाल-बाल कैसे नाचेंगे ?
नट नागर, तेरे बिन हम सब
नट-कछनी कैसे काछेंगे ?

तू जीवन-कालिन्दी मत तर,
रुक जा, रंच हमारी सुन ले;
कुछ दिन और इसी गोकुल की
गलियों की कंकड़ियाँ चुन ले !

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
२ मार्च, १९४३, अर्ध रात्रि

■

मस्त रहो

मानव, मस्त रहो जीवन में, तुम मत इतने व्यस्त रहो,
कर्मठ रहो, किन्तु कर दो निज कर्म - संग संन्यस्त, अहो,
रहो सदा ऐसी मस्ती में कि मिट जाये मन का खटका,
कुछ ऐसे उठो कि हो जायें सब चिन्ताएँ अस्त, अहो !

ऐसी मस्ती नहीं कि जिससे मदहोशी - सी आ जाये,
वह मस्ती भी नहीं कि हिय में अलस शिथिलता छा जाये,
ऐसी नहीं कि जिससे हो यह जीवन मद्यप - रूप निरा,
पर, ऐसी जिससे कि हृदय में समता अचल समा जाये ?

बहुत झूलते रहे अभी तक आश - निराश - हिंडोले में,
बहुत उड़े हो, मानव, तुम तो कल्पित उड़नखटोले में;
पर, बोलो, आकांक्षाओं ने तुमको क्या वरदान दिया !
हम कहते हैं कि कुछ नहीं है इच्छाओं के झोले में ।

इतना बल उनमें अवश्य है कि वे कर्म को विकृत करें;
इतना बल है कि वे तुम्हारे सब सुकृतों को अकृत करें
उनमें यह बल है कि तुम्हारे हिय की शान्ति त्वरित हर लें;
और, तुम्हारे सद्भावों को वे क्षण - भर में अनृत करें !

यही साधना साधो, मानव, कि तुम अडिग औ' अटल रहो,
प्रतिकूलता पधारे सम्मुख तब भी तुम नित अचल रहो;
समझो बन्धु कि आते ही हैं पथ में आँधी के झोंके;
क्या कर लेंगे ये बेचारे यदि तुम मन में सबल रहो !

निश्चय ही हम सब मनुजों को शिश्नोदर की व्याधि मिली,
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह की निश्चय हमें उपाधि मिली,
किन्तु मनुज ही को तो संयम रूपी अमित प्रसाद मिला !
मानव के ही हिय-सर में तो शतदल चित्त समाधि खिली !!

मनुज-प्रगति-इतिहास कह रहा आज ऊर्ध्व भुज होकर यों :
कौन पा सका है अपने को चिर निद्रा में सोकर यों ?
मानव का चिर प्रगति चिह्न यह जागरूकता ही तो है !
अपनापन पाओ, अपने को अपने ही से खोकर यों !

क्या आशा ? कैसी अभिलाषा ? कैसा राग ? द्वेष कैसा ?
ललक लपकना यत्र-तत्र, यह शूकर - श्वान-वेश कैसा ?
अपनी आकांक्षाओं का शव क्यों लादें हम कन्धों पर ?
धधके क्यों न विराग - चिता अब ? शव का मोह शेष कैसा ?

आओ मानव, भस्म रमायें, अपना यह शव-दाह करें !
आओ, आज श्मशान जगायें, हिय में नवल उछाह भरें;
आओ, आज मनायें होली, नव उत्सवका साज सजें;
शव जलता है ? तो जलने दो ! हम क्यों हिय में आह भरें ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
११ जनवरी, १९४४

■

विष-पान

तुम कैसे नवीन मतवाले ?
तुम कैसे पीने वाले ?
फेर रहे हो अपना मुँह तुम
देख हलाहल के प्याले ?

विकट नाम पीने वालों का,—
तुम न लजाओ उसे, अरे,
हँसते - हँसते, हाथ बढ़ा यों,
ले लो प्याले गरल - भरे।

अब विष की बारी आयी, ओ,
मधुरामृत पीने वाले;
फेर रहे हो क्यों अपना मुख
देख हलाहल के प्याले ?

यौवन के सपने का मधवा—
जागृति में विष रूप हुआ;
तनिक निछावर तो हो जाओ,
कैसा रूप अनूप हुआ;
ओ शौक़ीन ढालने वाले,
इससे क्यों घबराओ हो ?
वह भी चक्खा, चखो इसे भी,
क्यों मन में सकुचाओ हो ?
आज पड़ गये हो आकर तुम
काल-कूट विष के पाले !
पर, न फेरना तुम अपना मुख
देख हलाहल के प्याले !

मधु चक्खा मधवा भी ढाला,
अधरामृत का पान किया;
स्वाद-समस्या की उलझन का
भेद भरम कुछ जान लिया;
मान लिया, मधु रस चख कर ही,
अपने को पीने वाला ?
शायद, भूल गये थे विष को
देख सुधा - रस का प्याला !

हाँ देखो यह अमृत-अनृतता –
प्रकटी, ओ जीनें वाले,
फेर रहे अब क्यों अपना मुख
देख हलाहल के प्याले ?

असंलग्नता, सतत बिलगता,
निपट उपेक्षा आयी हैं,
कालकूट के विषम छबीले –
प्याले भर - भर लायी हैं;
भर नैनों में सपना, हिय में –
भर-भर सरस उमंग नयी, –
गरल भरे ये पात्र चढ़ा लो,
निखरे छबि रस रंग - मयी;
देखो तो प्यालों से छलके –
क्या फेने नीले - काले
फेर रहे हो क्यों अपना मुँह
देख हलाहल के प्याले ?

पीने वालों की भाषा में
अमिय गरल का भेद नहीं;
स्वाद - समीक्षा में होता है
मधु - कटु का विच्छेद कहीं ?
रस - अनेकता, रूप - भिन्नता,–
है नख़रा गुणवानों का;
सुधा हलाहल एक रूप है,
क़ौल यही मस्तानों का !

फिर कैसी यह अरुचि अधर में,
ऐ 'नवीन' पीने वाले ?
फेर रहे हो क्यों अपना मुख
देख हलाहल के प्याले ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ दिसम्बर, १९३१

■

नरक-विधान

उधर बिलबिलाते थे कीड़े
नाबदान में किलबिल-किलबिल;
इधर सड़ी, गन्दी, कच्ची-सी
नाली का पानी था पंकिल !

उठते थे अबख़रे भयंकर
सड़न और बदबू के वाँ पर;
और वहीं पर बने हुए थे
मानव नामक कीड़ों के घर !

क्या उन मलिन घरौंदों को भी
घर कह सकते हो तुम, यारो ?
घर कहने के पहले यदि तुम
साहस कर के वहाँ पधारो–

तो तुम देखोगे कि माँद-सी
तंग कोठरी है गीली-सी–
जिसकी दीवारें दिखती हैं
दरकी-सी, मैली, सीली - सी ।

जिन कोठरियों में कुत्ते भी
नहीं चाहते छिन भर रहना–
उनमें श्रमिकों के बच्चों को
पड़ता है दिन-दिन भर रहना।

गन्दी बदबू में पलते है
दुनिया के नागरिक सलौने;
चिथड़ों में लिपटे, बढ़ते हैं
मानवता के ये मृदु छौने !

ये दुनिया में आये; इनने
दुनिया में क्या देखा-भाला ?
उजियाले में भी तो देखा
इनने जीवन का अँधियाला।

मानव की निर्दयता देखी,
शोषण सहा, यातना भोगी;
और बन गये बचपन से ही
संक्रामक रोगों के रोगी !

तिल्ली बढ़ी, जिगर बढ़ आया,
ढाँचा हुआ सूख कर काँटा;
रोटी के टुकड़े के बदले
इन्हें मिला चाँटे पर चाँटा

नालदार बूटों के नीचे
रौंदा गया त्रस्त मानवपन;
धन, बल, पैदा करने वाला
स्वयं रह गया, निर्बल निर्धन !

यह कैसा विधान ? रे मानव,
वह कैसी विडम्बना नय की ?
अरे पराजित, अब भी क्या है
बहुत दूर वह घड़ी प्रलय की ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१४ सितम्बर, १९३७, रात्रि २ बजे

■

एक बार तो देख

एक बार तो देख, अरे जग मेरी डण्डा-बेड़ी;
एक बार तो देख : कट गयी है यह मेरी एड़ी;
टेढ़ी-मेढ़ी यह मदमाती मेरी चाल निहार,
झन-झन-झन-झन करता है हम मस्तों का संसार;
गुर्राते झन्नाते फिरते हैं ये मेरे शेर
ओ जग, ज़रा देख तो हैं याँ कैसे विकट दिलेर,!

यहाँ बेड़ियों की उठती है स्वर-झंकार-हिलोर,
बैरक और अड़गड़ों में, चक्कर में, चारों ओर;
झन-झन-खन-खन की यह जीवन-दर्शक मोहक टेक—
बार-बार उठ-उठ आती है यों ही एकाएक;
सुन ले, कान लगाकर सुन ले ओ जग, इसको आज,
अरे, देख तो इन बन्धुओं का फैला यहाँ स्वराज !

नहीं बेड़ियों की यह झन-झन यह है जीवन-मन्त्र,
काँप रहा है सुन कर जिसको क्षण-क्षण शासन-तन्त्र;
वे पशुबल के अधिनायक क्या जानें इसका तत्त्व !
निज सर्वस्व होम कर ही है मिलता मुक्त निजत्व ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
३१ अक्टूबर, १९३२

■

घूँट हलाहल

पराभूत, पददलित, प्रताड़ित, भीषण अत्याचार विमर्दित,–
दण्डित, व्रण-मण्डित, खण्डित तन, निरानन्द, पद-पद पर वर्जित,
मानव को मैं देख रहा हूँ आज सतत ठुकराये जाते;
देख रहा हूँ टूट रहे हैं मानव मन के सारे नाते !
देख रहा हूँ अनाचार का महा भयंकर ताण्डव नर्तन,
और सुन रहा हूँ मानव का यह विकराल पाशविक गर्जन !

दुर्दमनीय दानवी लीला, यह दुरन्त बर्बरता जागी,
आज सनी दौरात्म्य-पंक में नर की नरता स्वयं अभागी;
आज सुना है मेरे साथी दण्डित, ताड़ित, त्रस्त हुए हैं;
मेरे संयत भाव हृदय के सहसा अस्त-व्यस्त हुए हैं
आज हृदय में उमड़ रहा है फिर से यह सोया क्रोधानल !
पर मुझको पीना ही होगा अब की फिर यह घूँट हलाहल ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
११ जून, १९४३

■

अपना मृदु गोपाल

देखा बेड़ी पहने मैंने अपना मृदु गोपाल,
अपना मृदु गोपाल, सलौना वह मन मोहन लाल।

वह प्यारे मुख मण्डल वाला,
वह तेजस्वी, चपल निराला,
वह गोरा, वह कुछ-कुछ काला,
वह अपनी धुन का मतवाला,
जिसको देख उमड़ आती है, वत्सलता बेहाल,
सलौना वह मन मोहन लाल!
देखा बेड़ी पहने मैंने अपना मृदु गोपाल—
सलौना वह मन मोहन लाल।

वह इठलाता, मृदु मुसकाता,
खनन-खनन करता मदमाता,
इधर-उधर से आता-जाता,
नूपुर के स्वन को शरमाता,
कुलिश बेड़ियाँ झनकाता वह चलता मादक चाल,
सलौना वह मन मोहन लाल।
देखा बेड़ी पहने मैंने अपना मृदु गोपाल,
सलौना वह मन मोहन लाल।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
१ नवम्बर, १९३२

■

कारा में सातवीं श्रावणी रक्षा पूर्णिमा

सोच क्या रहे हो खोये-खोये-से, नवीन, तुम ?
आज फिर आयी राखी पूनम सुहावनी !
मेदिनी लहर रही, नभ से हहर बहीं
हर - हर कर जलधाराएँ लुभावनी;
अरि - दुर्ग बीच तुम अब लौं बिता चुके हो,
एक - दो क्या, अरे, देखो, सात - सात श्रावणी !
सोच क्या ? अवश्य ध्वस्त होगी, नष्ट - भ्रष्ट होगी
बैरियों की यह शस्त्र - अस्त्रवती छावनी

आज तो तुम्हारे भावी स्वप्न शील लोचनों में
झाँईं - सी पड़ी है किसी गत रस - रंग की,
तुम, जो भविष्य चिन्तनों में रहते हो लीन,
सुध कर बैठे हो क्या विगत प्रसंग की ?
रण-वाद्य-रत तव श्रवणों में गूँजी है क्या
कोई लुप्त गूँज किसी मदिर मृदंग की ?
ऐसा लगता है मानो तुम पे पड़ी हैं छीटें
नेह-स्मृति-सरिता की उच्छल तरंग की !

कोमल कराम्बुज थे, कोमल अँगुलियाँ थीं,
जिन पर लहराता था एक रक्षा का ताग !
होंठों से सुमन्द - मन्द बिखर रहे थे फूल,
उमड़ रहा था स्नेह-वत्सलता का पराग !

चिर वरदायिनी, अखण्ड भाग्यशालिनी,
पधारी थी सनेह भरी; जागे थे तुम्हारे भाग !!
आज उठ आया है तुम्हारे हिये, ओ नवीन,
क्या वही वात्सल्य? क्या वही अमन्द अनुराग ?

तुम तो हो बधिक पुराने, ओ नवीन, सुनो,
तुम पे हैं ना जाने कितनी स्मृतियों के ख़ून !
तुमने तो कितने ही अपने मनोरथ ये,
हठकर, बरबस ही डाले हैं भून - भून !!
जीवन के प्रात में औ' जीवन की सन्ध्या में,
रस कब मिला ? एक - सी हुई हैं दोनों जून
क्या करें ? पधारे आज शूल-हूल बनकर,
वे जो थे तुम्हारे अति कोमल स्मृति-प्रसून !

बढ़े चलो, अरे, मत पीछे मुड़ देखो आज,
राखी आयी, होली औ' दिवाली भी तो आयेंगी;
रस की लगेगी भीर, संस्मृतियाँ कसकेंगी,
आँखों में अतीत की घटाएँ घोर छायेंगी,
पर, तुम रुकना न एक क्षण को भी, बन्धु,
मानवता देख तुम्हें क्षण-क्षण सिहायेगी;
आँखें पोंछती - सी, हिय-कसक टटोलती-सी
जगती की करुणा तुम्हारे गुण गायेगी !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
श्रावणी पूर्णिमा, १५ अगस्त, १९४३

■

राखी की सुध

बिटिया, मेरी गुड़िया रानी, कहाँ तुम्हारा तार ?
कहाँ तुम्हारी स्नेहमयी मंजुल राखी सुकुमार ?
ओ तुम कच्चे धागे वाली, विहँस हुलसती बाल,
ओ तुम कुंकुम - अक्षत वाली लघुरक्षिका विशाल,
यह श्रावणी - पूर्णिमा कारागृह में आयी आज,
संग लिये सावन की मोहकता का हरित समाज !

नभ में, नेह-भरे दल - बादल, धरे विविध आकार,
दौड़ - दौड़ कर भू - मण्डल पर डाल रहे जलधार,
हहर-हहर करती लहराती बही वायु गम्भीर,
फुहियों के मिस टपक रही है रिम-झिम नभ की पीर;
ऐसे समय ओढ़ गत - संस्मृतियों का विरल दुकूल;
बरबस, राखी - पूनम आयी कारा में पथ भूल !

बहिना, यहाँ तुम्हारा भैया, निपट अरक्षित, मूक,
साधन हीन, छीन तन, बैठा किये हृदय दो - टूक;
आज, तुम्हारे कुंकुम - रोचन की स्मृति से ये प्राण,
ऐसे तड़प रहे हैं, जैसे घायल हिरन अजान,
बनकर याद, लहरता है तव अंगुलियों का तार,
बहन, आज आती है सुध राखी की बारम्बार !

उस दिन तुम आयी थीं लेकर कुंकुम, अक्षत, और—
अपने हाथों कते सूत की राखी की मृदु डोर;

थाल भरे मेवे संग में थे लगे हुए ताम्बूल,
रानी ये संस्मरण बने याँ मेरे हिय के शूल;
यहाँ बनी हथकड़ियाँ राखी, साखी है संसार
यहाँ, कई बहनों के भैया बैठे हैं मन - मार !

हम संक्रान्ति - काल के प्राणी बदा नहीं सुख भोग,
हमें क्या पता क्या होता है स्निग्ध - सुखद संयोग ?
हम बिछोह के पले, खूब जाने हैं पूर्ण वियोग
घर उजाड़ कर जेल बसाने का है हमको रोग—
फिर भी, हाँ, हाँ; फिर भी, दिल ही तो है यह अनजान
बरबस तड़प-तड़प उट्ठा करता है यह नादान !

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
श्रावणी पूर्णिमा, १९३२

■

आज क्रान्ति का शंख बज रहा

आज ठिठक कर खड़ा हो गया
विप्लव के पथ का यह राही,
टेक लकुटिया लगा देखने
पीछे को यह क्रान्ति सिपाही;
कितना बीहड़, कितना भीषण,
दुर्गम पथ यह तै कर आया !
कहाँ-कहाँ के अमित धूलिकण
निज वसनों में यह भर लाया

विगत काल की, वर्तमान की,
भावी की कुछ सोच रहा है,
चिन्तन-रेखा-खचित भाल से
अपने श्रम - कण पोंछ रहा है !

चलित चित्र-पट-सा आया है
सब अतीत नयनों के आगे,
वह गत, – जिससे जुड़े हुए हैं
सामाजिक जीवन के धागे
विम्बित हुई समष्टि व्यष्टि में
औ' समष्टि में व्यष्टि समायी,
मानो यों विप्लवकारी ने
अपनी सीमा आज गँवायी;
यों वैयक्तिकता में झलकी
मानो निखिल राष्ट्र की छाया;
मानो दर्पण बन आयी है
विप्लवकारी की कृश काया।

सप्त लक्ष वे ग्राम देश के
वे सब कोट्यावधि नर-नारी–
इस यात्री के दृग् में मानो
चमक उठे हैं बारी - बारी;
ऐसे ग्राम, भरा है जिनमें
अति अगाध अज्ञान भयंकर,
मँडराती हैं जहाँ भूख की
उत्कट ज्वालाएँ प्रलयंकर,

जहाँ चू रहा पूति, घृणित अति
परिपाटी का, कोढ़ दिवस-निशि
जहाँ भरी दुर्गन्ध भयानक,
जहाँ महामारी है दिशि-दिशि !

निज हतभाग्य राष्ट्र के वे सब
ग्राम समूह कुचैले, मैले,
जन-कृति के उपहास-चिह्न ये,
वे मानव के सदन विषैले;
वे कुरूप अति, वे चिर साक्षी
शताब्दियों के अधःपतन के,
ग्राम बन गये हैं प्रतीक ये
मानव के उपमानव - पन के;
शतयुग - चिता-धूम्र दुर्गन्धित,
सन्तत भस्मक त्रास, रास-रत,—
मानो फैल पड़ा है होकर
लक्ष-लक्ष ग्रामों में परिणत।

राज-मार्ग है कहाँ वहाँ पर ?
वहाँ बनी केवल पगडण्डी,
जिस पर आठों याम नाचती
खप्पर लिये बुभुक्षा - चण्डी !
वह पतली-पतली पगडण्डी,
जिस पर मानव नंगा, भूखा,—
चलता रहता है निशि वासर,
ले अपना मुँह रूखा - रूखा !

बनो हुई हैं टेढ़ी - मेढ़ी
लीकें बैलगाड़ियों की भी,
जिन पर झुक आयी हैं शाखें
झाड़ों और झाड़ियों की भी !

ग्राम नहीं हैं, ये सदियों की
आहें पुंजीभूत हुई हैं,
मानव की वेदना, व्यथाएँ,
बनकर ग्राम प्रसूत हुई हैं;
रुद्ध श्वास, धरती माता का
मानो उभर उठा है सब तन,
मानो ये हैं चिह्न कि क्षण में
होगा भीषणतम भूकम्पन;
अपनी गहरी लम्बी साँसें
कब तक रोकेगी भू-माता ?
खोया हुआ रहेगा कब तक
यह मानव निज भाग्य विधाता ?

कितनी अगति, विगति यह कितनी,
कितनी जड़ता और विषमता !
है कितनी विडम्बना इनमें,
हाय, यहाँ कितनी अक्षमता ।
इन पर छाये पीर, क़ब्र सब,
भूत, प्रेत, पीपल औ' पत्थर,
एक छींक से ही होते हैं,
ये मानव सभीत अति सत्वर;

अपने को कर लिया मनुज ने
निगड़-अन्ध - विश्वास-बद्ध-पग;
तो फिर, गमनशील होकर भी
कहो, क्यों न बन जाये यह अग

गतानुगति - फाँसी की, रस्सी
यहाँ गले में पड़ी हुई है,
और अज्ञता मस्तिष्कों को
यहाँ कुचलती खड़ी हुई है,

मानव क्या देखे अपने को ?
वह कैसे समझे अपने को ?
वह कैसे विच्छिन्न करे निज
दुर्दम मोह-तिमिर - सपने को ?

पन्थ संकुचित, दृष्टि संकुचित,
क्षितिज और आकाश संकुचित,
हृदय और मस्तिष्क संकुचित,
सकल विचार-विकास संकुचित।

यहाँ लुट चुकी है शतियों से
मानव की प्रकाश की थाती,
तम ही तम है यहाँ, बुझी है
जब से हृदय - दीप की बाती;

सभी अँधेरे में टटोलते
और भड़भड़ाते फिरते हैं;
उठना कैसा वहाँ, जहाँ पर
मानवगण क्षण - क्षण गिरते हैं ?

जितना सघन अँधेरा है इन
ग्राम्य जन - गणों के अन्तर में,
उतना तम तो नहीं मिलेगा
तारकहीन गहन अम्बर में !

लगता है, मानव हृदयों के
दीप बुझे ना जाने कब से !
ना जाने अभिशाप-वज्र कब
गिरा भूमि पर ऊँचे नभ से !

दिनचर मानव बना निशाचर,
लुप्त हुई है वह लौ जब से,
यह, इस भूमि-खण्ड का मानव,
बन आया है पशु सम तब से !

कैसी प्रगति ? ऊर्ध्वगति कैसी,
जब जन बैल बने घानी के ?
कहाँ पन्थ-दर्शन ? मिच जायें
जब लोचन मानव प्राणी के !!

आज क्रान्तिकारी के दृग् में
ऐसे ग्राम और ऐसे जन, –
झलक उठे हैं संग - संग ही;
चिन्तन - रंग रँगे हैं लोचन !

यह धरती का पूत विप्लवी;
यह विद्रोही पथिक चिरन्तन,
यह भी है उन ग्रामों का सुत
जिनमें है इतना अन्धापन;

चमक सके हैं इसके दृग् में
यदि ज्वलन्त जागृति-ज्योतिष्कण,–
तो फिर, यह विद्रोह-प्रचारक
क्यों निराश हो ! क्यों हो उन्मन ?

उन ग्रामों में, जिनमें जीवन
नित-प्रति कीचड़ में सड़ता है, –
वहाँ, जहाँ दिन-रात मृत्यु का
काँटा जीवन में गड़ता है,–
वहाँ, जहाँ अज्ञान तमिस्रा
इतनी शतियों से छायी है, –
जहाँ अन्धविश्वास - भावना
पोत रही तम की स्याही है, –
अरे, वहाँ के कुछ सपूत, जो
जूझ रहे हैं समरांगण में !
तब फिर, क्या चिन्ता ! कैसा भय?
क्यों आये शैथिल्य चरण में !

जो निकले हैं घर से करने
अभिनव मानवता का सिरजन,–
जो निकले हैं घर से, गढ़ने
मानव का नव सामाजिक-तन,–
उन्हें मिला है महत् कर्म का
यह सन्देश कठोर, भयंकर !
क्रान्ति वरण करने वालो, है–
अति प्रलयंकर क्रान्ति स्वयंवर !

कुशल विप्लवी शब्द-जाल में
नहीं फँसेगी क्रान्ति कुमारी,
कुछ उच्छिष्ट मन्त्र जपने से
हो न सकेगी क्रान्ति तुम्हारी !!

वीर क्रान्तिकारी मुसकाया
सुनकर महाकाश - वाणी यह,
और गरज उट्ठा कि सत्य ही
है दुरूह मानव प्राणी यह;
अपना, अपने इतिहासों का,
करके अति मन्थन सपरिश्रम,
निज दुरूहता सरल बनाने
का करता है सतत उपक्रम !
एक सूत्र में अटकाता है
अपनी सकल ऐतिहासिक गति,
किन्तु, हारकर रह जाती है
उसकी प्रबल चमत्कारिक मति !

यह श्रेणी-संघर्ष मात्र ही
मानव का इतिहास नहीं है;
यह पदार्थवादिता मात्र ही
जन का श्वासोच्छ्वास नहीं है;
निपट आधिभौतिक द्वन्द्वात्मक
विश्व-नियम-शृंखला नहीं है,
क्या जड़ता बन सकी निरन्तर
जीवन-कटि-मेखला कहीं है ?

तीतर-फन्दों में न अँटेगी
यह बहुमुखी मानवी लीला,
इक खूँटी पर अटक सकेगा
कैसे जन-इतिहास हठीला ?

जिन-जिन ने मानव को समझा
संवेदन की एक इकाई,
उन-उन की बलवती बुद्धि ने
यहाँ सदा ही ठोकर खायी;
जो समझे कि मनुज-लीलाएँ
अर्थवादिता की हैं माया,–
जो समझे कि मनुज की कृतियाँ
हैं बस कामुकता की छाया,–
जो समझे कि मनुज है केवल
निपट आधिभौतिक सुखवादी,–
उनने सम्प्रदायवादों में
मानव की सुबुद्धि उलझा दी !

आज क्रान्ति का शंख बज रहा !
क्यों न संकुचितता जन त्यागें ?
क्यों न आज मत-मतान्तरों के
लघु विचार जन-मन से भागें ?
इस मानव-समाज का अभिनव
सृजन-भार ले आये जो जन,–
उनके नयनों में क्यों छाये
मतवादों का दुर्दम तम घन ?

क्रान्ति वरण करने वाले सब
क्यों न बढ़ें मिल-जुलकर आगे ?
क्यों न आज मानव-हृदयों में
अनिगिता नूतन लौ जागे ?

हाँ, आवश्यक है विप्लव के
लिए तत्त्व-सिद्धान्त-समुच्चय;
पर, वह ऐसा क्यों हो जिसका
शताब्दियाँ न कर सकीं निर्णय ?

जड़-चेतन की, आत्म-तत्त्व की,
ऊहापोह करे क्यों कोई ?
इसके चिन्तन में मानव ने
युग-युग की दिन-रातें खोयीं !

जन-जागृति का भार पड़ा है
आज क्रान्तिकारी के सिर पर,
कठिन, दुरूह समस्याओं को
तब वह क्यों देखे फिर-फिरकर ?

आस्तिक जन भी तो होते हैं
अति प्रलयंकर विप्लवकारी,
औ' जड़वादी भी होते हैं
अति विकराल क्रान्ति-ध्वज-धारी;

तब फिर, क्यों आपस का झगड़ा ?
क्यों आपस की खैंचातानी !
सामर्थ्यों का दुरुपयोग क्यों ?
तब क्यों यह इतनी मनमानी ?

आज कह रहा हूँ मैं, सुन लो,
अहो क्रान्तिकारी मेरे जन,—
मिट्टी में मिल जाओगे तुम
यदि न किये परिवर्तित निज मन !

आज तुम्हारे ऊपर कितना
है महान् दायित्व, निहारो !
तुम्हें विनाश और सिरजन का
करना है यह काज, विचारो !
इन चालीस कोटि मुरदों में
प्राण फूँकने तुम आये हो;
नवल जागरण और संगठन
का सन्देश तुम्हीं लाये हो;
अपनी एक क़तार बना लो
दृढ़ निश्चयी, बढ़ो तुम आगे,
ऐसे बढ़ो कि तुम्हें देखकर
यह शताब्दियों का भय भागे !

क्या जीवन ? क्या मौत, बहादुर !
धूप-छाँह क्या ? क्या दिन-रातें !
क्या प्रकाश औ' अन्धकार यह ?
दुख-सुख की अब क्या ये बातें !
तात्कालिक असफलता क्या है ?
है यह तो बस आनी-जानी !
लखो दूर पर, क्रान्ति-सफलता
विहँस रही है चिर कल्याणी !

ये लाखों देहात तुम्हारे,
अरे करोड़ों ये तव जन-गण,
जोह रहे हैं पन्थ तुम्हारा,
और कर रहे हैं आवाहन !

शोषण की लपलपा रही है
यह जिह्वा शोणित की प्यासी;
रक्तलुब्ध किटकिटा रही हैं
उसकी डाढ़ें सत्यानासी;
शोषण - मुख में तड़प रहे हैं
अरे तुम्हारे कोटि - कोटि जन,
दो सन्देश ! बने शत-शत जन,
उनका एक-एक शोणित - कण !
कहो आज : जागो, हे जागो,
जागो हे सोये प्रलयंकर,
जागो मेरे भूतनाथ जन,
जागो हे मेरे शिव - शंकर !!

जागो, एक क़तार बना लो,
जीभ खींच लो इस शोषण की,
तोड़ो डाढ़ें, करो इति श्री
तुम मिलकर निज उच्छोषण की;
करो सृजन अभिनव जगती का
नव-नव सामाजिक संह्रति का;
मानव हो विमुक्त, ऐसा हो
शुद्ध प्रयोग तुम्हारी मति का;

विजित करो निज बाह्य परिस्थिति
विजित करो अन्तस्तल अपना,
ऐसे जागो, मेरे मानव,
फिर न आ सके दुख का सपना !

जागो, ओ सब मेरे मानव,
जागो मेरे सोने वालो,
जागो, दुःस्वप्नों के भय से
तुम निज नयन भिगोने वालो,
जागो, ओ अपने अतीत का
उज्ज्वल गौरव खोने वालो,
जागो, निज आकांक्षाओं के
नित शत-शत शव ढोने वालो !
जागो, मेरे मानव, जिनके
हाथ - पाँव हैं सूखे - सखे,
जागो नरकंकाल करोड़ों,
जागो, मेरे नंगे - भूखे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ मार्च, १९४४

■

विद्रोही

हम ज्योति पुंज दुर्दम, प्रचण्ड,
हम क्रान्ति-वज्र के घन प्रहार,
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार!

हम गरज उठे कर घोर नाद,
हम कड़क उठे, हम कड़क उठे,
अम्बर में छायी ध्वनि-ज्वाला,
हम भड़क उठे, हम भड़क उठे!

हम वज्रपाणि, हम कुलिशहृदय,
हम दृढ़ निश्चय, हम अचल, अटल,
हम महाकाल के व्याल रूप,
हम शेषनाग के अतुल गरल!

हम दुर्गा के भीषण नाहर,
हम सिंह-गर्जना के प्रसार,
हम जनक प्रलय-रण-चण्डी के,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार!

हमने गति देकर चलित किया
इन गतिविहीन ब्रह्माण्डों को,
हमने ही तो है सृजित किया
रज के इन वर्त्तुल भाण्डों को;

हमने नव सृजन-प्रेरणा से
छिटकाये तारे अम्बर में,
हम ही विनाश भर आये हैं
इस निखिल विश्व-आडम्बर में;
हम स्रष्टा हैं, प्रलयंकर हम,
हम सतत क्रान्ति की प्रखर धार–
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हमने अपने मन में की 'हाँ !'
औ' प्रकृति नर्त्तकी नाच उठी !
हमने अपने मन में की 'ना !'
औ' महा प्रलय की आँच उठी !
जग डग-मग-डग-मग होता है
अपने इन भृकुटि-विलासों से,
सिरजन, विनाश, होने लगते
इन दायीं-बायीं श्वासों से;
हम चिर विजयी; कर सका कौन
हठ ठान हमारा प्रतीकार ?
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

अपने शोणित से ऊषा को
हम दे आये कुंकुम - सुहाग,
आदर्शों के उद्दीपन से
हमने रवि को दी अमित आग;

माटी भी उन्नत - ग्रीव हुई
जब नव चेतनता उठी जाग,
जीवन - रँग फैला, जब हमने
खेली प्राणों की रक्त फाग;
हो चला हमारे इंगित पर
जग में नव जीवन का प्रसार,
हम जनक प्रलय-रण-चण्डी के,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हो गयी सृजित संगीत कला,
हमने जो छेड़ी नवल तान
उन्मुक्त हो गये भाव - विहग
जो भरी एक हमने उड़ान;
हमने समुद्र - मन्थन करके
भर दिये जगत् में अतुल रत्न,
संसृति को चेरी कर लाये
अनवरत हमारे ये प्रयत्न !
संस्कृति उभरी, लालित्य जगा,
सुन पड़ी सभ्यता की पुकार,
जब विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
बढ़ चले मार्ग पर दुर्निवार !

हम 'अग्ने ! नय सुपथा राये···' का
अनल - मन्त्र कह जाग उठे,
हम मोह, लोभ, भय, त्रास, छोह,
सब त्याग उठे, सब त्याग उठे,

हम आज देखते हैं जगती,
यह जगती, यह अपनी जगती,—
यह भूमि हमारी विनिर्मिता,
शोषिता, परायी - सी लगती !
रवि - निर्माताओं के भू पर,
बोलो, यह कैसा अन्धकार ?
क्या निद्रित थे हम अति कोही,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

क्या अन्धकार ? हाँ अन्धकार !
याँ अन्धकार !! वाँ अन्धकार !!
है आज सभी दिशि अन्धकार;
हैं सभी दिशा के बन्द द्वार;
ज्योतिष्पुंजों के हम स्रष्टा,
हम अनल - मन्त्र के छन्द - कार,
इस दुर्दम तम को क्यों न दलें ?
हम सूर्यकार, हम चन्द्र - कार !
आओ, हम सब मिलकर नभ से
ले आयें रवि - शशि को उतार !!!
हम विप्लव - रण-चण्डिका - जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

चेतन ने जब विद्रोह किया,
तब जड़ता में जीवन आया;
जीवन ने जब विद्रोह किया
तब चमक उठीं कंचन - काया;

यह जो विकास, उत्क्रमण, प्रगति,
प्रकटी जीवन के हिय - तल में,–
वह है केवल विद्रोह छटा
जो खिल उठती है पल-पल में!

तब, बोलो, हम क्यों सहन करें
दुर्दान्त तिमिर का अनाचार?
हम विप्लव - रण - चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार!

हम खण्ड-खण्ड कर चुके गर्व
अतुलित मदमत्त करोड़ों का;
है इतिहासों को याद हमारा
भीम प्रहार हथौड़ों का!

आ चुके अभी तक कई - कई
घनघोर सूरमा बड़े - बड़े,
जा लखो, हमारे प्रांगण में
उनके हैं बस कुछ ढूह खड़े!

है इतिहासों को भी दूभर
उनके साम्राज्यों का विचार,
उनके आगे टिक सका कौन,
जो हैं विद्रोही दुर्निवार!

हमने संस्कृति का सृजन किया,
दुष्कृतियों को विध्वस्त किया,
कुविचारों के चढ़ते रवि को
इक ठोकर देकर अस्त किया!

हम काल - मेघ बन मँडराये,
हम अशनि - कुलिश बन-बन गरजे,
सुन - सुन घनघोर निनाद भीम
अत्याचारी जन - गण लरजे;
अब आज, निराशा - तिमिर देख,
लरजेंगे क्या हम क्रान्तिकार ?
हम विप्लव - रण-चण्डिका - जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

सोचो तो कितना अहोभाग्य,—
आ पड़ा हमीं पर क्रान्ति - भार !
इस अटल ऐतिहासिकता पर,
हम क्यों न आज होएँ निसार ?
यह क्रान्ति-काल, संक्रान्ति - काल,
यह सन्धि - काल युग-घड़ियों का,
हाँ ! हमीं करेंगे गठ-बन्धन,
युग - ज़ंजीरों की कड़ियों का !
हम क्यों उदास ? हों क्यों निराश ?
जब सम्मुख हैं पुरुषार्थ - सार ?
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हम घर से निकले हैं गढ़ने
नव चन्द्र, सूर्य, नव-नव अम्बर,
नव वसुन्धरा, नव जन-समाज
नव राज-काज, नव काल, प्रहर !

दिक्-काल नये, दिक्-पाल नये,
सब ग्वाल नये, सब बाल नये,
हम सिरजेंगे ब्रज भूमि नयी,
गोपियाँ नयी, गोपाल नये !!

क्यों आज अलस-भावना जगे,
जब आये हम हिय धैर्य धार ?
हम विप्लव - रण- चण्डिका- जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

मानव को नयी सुगति देने,
मानवता को उन्नत करने
हम आये हैं नर के हिय में,
नारायणता की द्युति भरने;

यह अति पुनीत, यह गुणातीत,
शुभ कर्म हमारे सम्मुख है;
तब नीच निराशा यह कैसी ?
कैसा सम्भ्रम ? अब क्या दुख है ।

तिल - तिल करके यदि प्राण जायँ
तब भी क्यों हो हिय में विकार ?
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

यह काल, लौह लेखनी लिये,
लिखता जाता है युग पुराण;
हम सब की कृति-निष्कृतियों का
उसको रहता है खूब ध्यान;

इस ध्रुव इतिहास-सुलेखक को
कैसे धोका दें हम, भाई ?
इससे बचने का, अपने को
कैसे मौक़ा दें, हम भाई ?

मौक़ेबाज़ी न चलेगी याँ,
यह ख़ाला का घर नहीं; यार,
है महाकाल निर्दय लेखक,
यह है विद्रोही दुर्निवार।

यह काल, लेखनी डुबो रहा
अमरों की शुभ शोणित - मसि में,
औ' उधर चढ़ रहा है पानी
उन निर्मम बधिकों की असि में !

क्यों सोचें, कब कुण्ठित होगी
निर्दय, असि की यह प्रखर धार ?
बचने की क्यों हो आतुरता ?
क्यों टूटे यह बलि की क़तार ?

यदि हम डूबें इस मृत्यु - घाट,
तो पहुँचेंगे उस अमर पार !
क्या भय ? क्या शोक-विषाद हमें ?
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हम रहे न भय के दास कभी
हम नहीं, मरण के चरण - दास;
हमको क्यों विचलित करे आज
यह हेय प्राण - अपहरण - प्रास ?

माना कि लग रहा है ऐसा,
मानो प्रकाश है बहुत दूर,
तो क्या इस दुश्चिन्ता ही से
होगा तम का गढ़ चूर-चूर ?
हम क्यों न करें विश्वास कि यह
टिक नहीं सकेगा तम अपार ?
हम महा प्राण, हम इक उठान,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

अपने ये सब बीहड़ जंगल,
अपने ये सब ऊँचे पहाड़,–
इक दिन निश्चय हिल डोलेंगे,
सिंहों की-सी करके दहाड़ !
उस दिन हम विस्मित देखेंगे
यह निविड़ तिमिर होते विलीन,
उस दिन हम सस्मित देखेंगे :
हम हैं अदीन, हम शक्ति-पीन !!
उस दिन दुःस्वप्नों की स्मृति-सा
होगा बधिकों का भीम भार
उस दिवस कहेगा जग हमसेः,
तुम विद्रोही, तुम दुर्निवार !

हम क्यों न करें विश्वास कि ये
नंगे - भूखे भी तड़पेंगे ?
धूएँ के छितरे बादल भी,
कड़केंगे, हाँ ये कड़केंगे !

जम कर होंगे ये भी संयुत,
ये भी बिजलियाँ गिरायेंगे;
अपने नीचे की धरती का
ये भी सन्ताप सिरायेंगे;
ये भी तो इक दिन समझेंगे
अपने भूले सब स्वाधिकार;
उस दिन ये सब कह उट्ठेंगे:
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हम कहते हैं भीषण स्वर से
मत सोच करो, मत सोच करो;
लख वर्तमान नैराश्य अगम,
अपने हिय को मत पोच करो;
तुम बहुदर्शी, तुम क्रान्ति-पथी,
तुम जागरूक, तुम गुडाकेश,
तुमको कर सका कभी विचलित
क्या गेह-मोह ? क्या शोक क्लेश ?
देखी है तुमने क्षणिक जीत,
अविचल सह जाओ क्षणिक हार !
तुम विप्लव - रण-चण्डिका-जनक,
तुम विद्रोही, तुम दुर्निवार !!

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
१२ अप्रैल, १९४३

■

सुनो, सुनो ओ सोने वालो !

सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव स्वर –

जिनसे आज तरंगित है यह
अपना अति विस्तृत अम्बर ।
स्वयं प्रलय - वीणा अपने ही
आप अनाहत गूँज उठो ;
और तन गयी महाकाल की
लय - उद्भव - कारी भृकुटी;
आज वायु की प्रति तरंग में
अमित स्वरों की भीर जुटी;
अब भी क्या न स्वर भरित होंगे
सुप्त तुम्हारे कर्ण - कुहर ?
सुनो, सुनो ओ सोने वालो
जागृति के ये भैरव स्वर !

वीणा बजी, स्वरावलि उभरी,
दशों दिशाएँ नाच उठीं;
अम्बर से पृथिवी तक सहसा
विप्लव-स्वर की आँच उठी;
सभी जातियाँ इस प्रकाश में
अपनी भावी बाँच उठीं;
तुम कैसे हो जो कि आज भी
नहीं रहे हो रंच सिहर ?
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव - स्वर !

खेत और खलिहान तुम्हारे;
ये पहाड़, जंगल, उपवन, —
ये नदियाँ, ये ताल सरोवर,
गाते हैं विप्लव - गायन !
उत्तर में गा रहा हिमाचल;
दक्षिण में वह सिन्धु गहन;
सभी गा रहे हैं : लो आया
यह लोहित जागरण - प्रहर !
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव - स्वर !

गंगा गाती कल - कल ध्वनि में
भावी के कल की बातें,
यमुना गाती है कल-कल-कर
कि अब गयीं कल की रातें;
साबरमती गरज कर बोली :
अब कैसी निशि की घातें !
दिन आया, अपना दिन आया,
यों गाती है लहर - लहर;
सुनो - सुनो, ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव - स्वर ।

उत्तर से दक्खिन, पूरब से
पच्छिम तक तुम एक, अरे,
भेद-भाव से परे एक ही
रही तुम्हारी टेक, अरे;
एक देश है; एक प्राण तुम;
तुम हो नहीं अनेक, अरे !

खोलो निज लोचन, देखो यह
खिली एकता ज्योति प्रखर,
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव स्वर !

इस क्षण भी यदि तुम न उठ सके
तो इतिहास कहेगा क्या ?
सोचो तो, यह भाग्य तुम्हारा,
चिर उपहास सहेगा, क्या ?
यह अनुकूल पवन का झोंका
फिर भी कभी बहेगा क्या ?
अपने हाथों क्यों खोदो हो
तुम अपनी ही आज क़बर ?
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के यह भैरव स्वर।

शतियों से नदियाँ इस भू की
गरज रही हैं क्रोध - भरी !
शतियों से सागर की लहरें
गरज रहीं प्रतिशोध - भरी !
यह वृद्धा पृथिवी माता भी
गरज रही है, गोद - भरी !
बस, तुम ही भूले हो अपनी
विकट गर्जना प्रलयंकर;
गरजो, सोने वालो, गाओ,
जागृति के ये भैरव स्वर !

छोड़ो निद्रा, लो अँगड़ाई;
आज शृंखलाएँ तोड़ो,
आज मुक्ति की होड़ - दौड़ में
आओ तुम भी तो दौड़ो!
समता के तारे की गति से
अपनी रथ - गति तुम जोड़ो;
तोड़ो इस शोषण की दाढ़ें;
अब सम्मुख है विकट समर,
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव स्वर!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२९ जुलाई, १९४३

■

जूठे पत्ते

क्या देखा है तुमने नर को नर के आगे हाथ पसारे?
क्या देखे हैं तुमने उसकी आँखों में खारे फ़व्वारे?
देखे हैं? फिर भी कहते हो कि तुम नहीं हो विप्लवकारी?
तब तो तुम हिंजड़े हो, या हो महा भयंकर अत्याचारी!

अरे चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को
उस दिन सोचा: क्यों न लगा दूँ आज आग इस दुनिया-भर को?
यह भी सोचा: क्यों न टेंटुआ घोंटा जाय स्वयं जगपति का?
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।

जगपति कहाँ ? अरे, सदियों से वह तो हुआ राख की ढेरी;
वरना समता-संस्थापन में लग जाती क्या इतनी देरी ?
छोड़ आसरा अलख शक्ति का; रे नर, स्वयं जगत्पति तू है,
तू यदि जूठे पत्ते चाटे, तो तुझ पर लानत है, थू है !

कैसा बना रूप यह तेरा, घृणित, पतित, वीभत्स, भयंकर !
नहीं याद क्या तुझको, तू है चिर सुन्दर, नवीन प्रलयंकर ?
भिक्षा-पात्र फेंक हाथों से; तेरे स्नायु बड़े बलशाली,
अभी उठेगा प्रलय नींद से, तनिक बजा तू अपनी ताली ।

ओ भिखमंगे, अरे पराजित, ओ मज़लूम, अरे चिरदोहित,
तू अखण्ड भाण्डार शक्ति का; जाग, अरे निद्रा - सम्मोहित,
प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल-थल भर दे,
अनाचार के अम्बारों में अपना ज्वलित फ़लीता धर दे ।

भूखा देख तुझे गर उमड़े आँसू नयनों में जग - जन के,—
तो तू कह दे : नहीं चाहिए हमको रोने वाले जनखे;
तेरी भूख; असंस्कृति तेरी, यदि न उभाड़ सकें क्रोधानल,—
तो फिर, समझूँगा कि हो गयी सारी दुनिया कायर निर्बल ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
३१ जुलाई १९३७, अर्धरात्रि

■

गहन तमिस्रा की परिखा

हाँ ! हाँ !! जग में खुदी हुई है गहन तमिस्रा की परिखा,
फिर भी यह गभीर तम-गह्वर पार करेगी ज्योति-शिखा !

आज दानवी मद गरजा है गह्र तिमिर आवृत होकर,
फूला नहीं समाता है वह इस तम में निज को खोकर;
ध्वान्त-दुर्ग में आज हो रहा आसुर भावों का गर्जन;
वहाँ हो रहा है क्षण-क्षण में पैशाचिकता का सर्जन;
अन्त हो गया है मानो अब मानवता की सद्गति का,
दनुजों ने जग में खोदी है गहन तमिस्रा की परिखा !

तैयारियाँ हो रही हैं ये चिर प्रकाश दफ़नाने की,
आज कोशिशें हैं जग-भर की दीपावली बुझाने की;
उन्मत्ता राक्षसी भावना मँडराती फुफकार रही;
चले जा रहे हैं बुझ - बुझकर, अयुत दीप उस पार कहीं !
सूना हुआ सिंहासन क्या निखिलेश विभा - पति का ?
खुदी हुई है जग में कैसी घोर तमिस्रा की परिखा ?

आज निशाचर ख़ूब मस्त हैं, बड़े मगन हैं वे मन में,
समझे हैं कि रहेगा तम नित नभ, जल, थल, वन, उपवन में !
चिर प्रकाश के घन - प्रहार को भूल गये हैं ये तमचर,
इनने सोचा है कि रहेगा बस तम ही तम जम - जम कर !
ऐसा सोचें क्यों न ये कि जब दिशि-दिशि है तम की परिखा ?
इन्हें क्या पता कि है चिरन्तन मानव-मन की ज्योति-शिखा ?

मानव, अरे ज्योति - संरक्षक, ओ वैश्वानर के जेता,
ओ प्रकाश के दीप्त विधायक, ओ अरुणाकर, दृढ़ चेता,
जाग - जाग, तम मय दानवता आज तुझे ललकार रही,
लख, उसके नासा - रन्ध्रों से, घृणा - गरल की धार बही;
स्ववश कर सकेगी क्या तुझको यह अश्लील अनागरिका ?
दिखला दे इसको, कि चिरन्तन है मानव की दीप - शिखा !

ये दानवता के मदमाते सर्वनाश की सोच रहे,
सत्य, न्याय, करुणा, सहृदयता, सब का गला दबोच रहे;
मत हिय हार, अरे ओ मेरे मानव, तू ललकार इन्हें;
अपने भस्मक तेज - पुंज से कर दे क्षण में क्षार इन्हें !
गर्व खर्व कर दे इस तम का, आ, तू अपनी ज्योति दिखा,
हाँ ! जग भी कह उठे कि सन्तत है मानव की दीप-शिखा !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२२ अगस्त, १९४४

■

ओ तुम अविचल वीर !

मेरे साथी, ओ तुम मेरे सह-सैनिक नित धीर,–
बाणों की वर्षा में भी तुम अडिग, अचल, ओ वीर,–
ताल ठोंककर किया निमन्त्रित रण में तुमने काल।
कब विचलित कर सकी तुम्हें यह कारा की प्राचीर ?

आज करे क्यों तुमको विचलित, यह विचार-संघर्ष ?
संघर्षों में ही काटे हैं तुमने जीवन-वर्ष;

उलटी-सीधी तो बहती ही है जीवन में वायु;
इसकी क्यों हो चिन्ता, यदि है निश्चल तव आदर्श ?

जीवन-चँदुवे में है अगणित नव रंगों का मेल,
उसमें रंग-बिरंगे बूटे, रंग-बिरंगी बेल;
क्यों चाहो कि बने इक-रंग यह बहु-रंग वितान ?
सदा रहेगा जीवन का तो रंग-बिरंगा खेल !

जीवन तो प्रपूर्ण होता है बनकर नाना रूप,
'एकोऽहं; बहुस्याम !!' यही है जीवन-मन्त्र अनूप !
द्वैत रूप धारण करता है जब चेतन अद्वैत,–
तब तो आयेगी ही सम्मुख कुछ छाया, कुछ धूप !

अपने, अन्य साथियों के, लख निज से भिन्न विचार,–
क्यों अकुलाते हो ? होते ही क्यों विह्वल तुम, यार ?
जीवन का समुद्र-मन्थन तो होगा ही दिन-रैन;
उससे कभी गरल निकलेगा, कभी अमी-रस-धार !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२५ अप्रैल, १९४४

■

कमला नेहरू की स्मृति में

देवि, इतने ही दिनों का क्या यहाँ आवास था यह ?
कौन जल्दी थी ? अभी तो शेष कुछ मधुमास था यह ।

तोड़कर उस शृंखला को जो पड़ी थी मृदुल पग में ?
राजहंसिनि, उड़ चलीं इतनी सुबह अज्ञेय मग में ?
हो गये सम्पूर्ण क्या तव काज सब इस अनित जग में ?
चिर महा अभिनिष्क्रमण का कौन-सा उल्लास था वह ?

आत्म - आहुति के ज्वलित ये खेल तुमने खूब खेले;
हन्त ! शुचि आदर्श के हित कौन दुख तुमने न झेले ?
लो, तुम्हारे स्वप्न-द्रष्टा प्राण-प्रिय अब हैं अकेले;
सुमुखि, इतने ही दिनों का क्या तुम्हें अवकाश था यह ?

देवि, क्या उस पार गूँजी कान्ह की रमुली सलौनी ?
या कि क्रीड़ौत्सुक्य मिस खेली जगत् से दृग-मिचौनी ?
आज अनहोनी हुई ऐसी, कभी जो थी न होनी;
और कुछ दिन तो रहोगी तुम, हमें विश्वास था यह ।

कौन थीं तुम एक कोमल कल्पना-सी, निठुर जग में ?
कौन थीं तुम सुमन-पँखुरी-सी, विषम इस नियति मन में?
कौन थीं तुम भक्ति-सी, नित नेह के हिय चिर-बिलग में ?
कौन थीं? किस देश की थीं ? तव विचित्र निवास था वह !

निराशा-सिकता - कुपथ में अश्म - रेखा-सी सुअंकित–
वायु-झम्पन में धवल-से हिम-शिखर-सी तुम अशंकित,–
निपट अँधियारे गगन में ज्योति-रेखा-सी अकम्पित,–
आज, प्राणायाम का क्या आख़िरी निःश्वास था यह ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१८ मार्च, १९३६

■

मन्द ज्योति

प्रिय, धीमी पड़ रही आज मेरे प्रदीप की बाती,
शायद लुट जाये यह मेरी मुसाफ़िरी की थाती !

पथ सुनसान, कँटीला, टेढ़ा, पथरीला, अज्ञात,
मंज़िल लम्बी, भ्रमित पथिक, मग में छायी चिर रात;

शिशिल गात, हो रहे अनेकों विकट घात-प्रतिघात,
किससे कहे मुसाफ़िर अपने मन की आकुल बात ?

कुसमय में लप-झप करने लग गयी ज्योति अकुलाती,
प्रिय, धीमी पड़ रही आज मेरे प्रदीप की बाती !

तुम प्रकाशपति, तुम दिन-मणि-पति सतत-सनातन ज्योतिपते !
संशय-दाहद अनल-प्रवाहक, हे जगपावक अग्निमते !
निज प्रचण्ड किरणांगुलियों से उकसा दो मेरी बाती,
फिर से इसे बना दो प्रिय तुम अग्नि-अरुण-धुन मदमाती।

डिस्ट्रिक्ट जेल, बरेली
२६ जनवरी, १९३३

■

यह है विप्लव का पथ, भाई

यह है विप्लव का पथ, भाई,
इस मारग में तुम्हें मिलेंगी कई नयी कलियाँ मुरझायीं
यह है विप्लव का पथ भाई।

इस मारग में पड़े हुए हैं सुख की आकांक्षाओं के शव,
इस मारग में वैयक्तिक सब मनुहारें करतीं रोदन-रव;
इस मारग में सहयात्री हैं शोणित-स्वेद-सिक्त सब अनुभव;
इस मारग में फैल रही हैं चिर महाभिनिष्क्रमण - निकाई;
यह है विप्लव का पथ, भाई।

नव यौवन के सरस मनोरथ, मधु निशि के मदमाते सपने,
निपट पराये-से हैं ये अब, जो थे जीवन - संगी अपने;
हम भी कुछ खो गये लगा जब विप्लव-रव से अन्तर कँपने;
आया वह क्षण, जब नवयुग की लगी क्रान्ति से स्नेह-सगाई;
हम आये विप्लव-पथ, भाई।

झाँझें बजीं मृदंगें गूँजीं, घण्टे घनक उठे घन - घन - घन,
शंख बजे, नक्कारे गरजे, अम्बर में भर गया तुमुल स्वन;
जब स्वयंवरा क्रान्ति पधारी करते निज वरमाला अर्पण,—
उस क्षण इस युग के नयनों में प्रलयंकरी लालिमा छायी !
यों फैला विप्लव-रँग, भाई।

जब इस युग का हुआ क्रान्ति के ज्वालामय पट से गठ-बन्धन
तब दिग्वधुएँ नाच उठीं सब, हुआ धूलि कण-कण में स्पन्दन;
नाचा महत् कर्म जन-रंजन, शोषण-भंजन, भीति निकन्दन;
चालित हुए हमारे पग भी, हमने भी लकुटिया उठायी;
हम आये विप्लव पथ, भाई।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२३ जून, १९४३

■

मेरे अतीत की ज्योति-लहर

जागो मेरे सोये सपनो, बन-ठन उठ आओ निखर - निखर,
लहरो मेरे अम्बर में, ओ मेरे अतीत की ज्योति लहर !

ओ, मेरे उज्वल विगत काल,
ओ मेरे बल - विक्रम - निधान,—
ओ, विश्व - विजन - हुंकार भरे
मेरे प्रचण्ड जग - मग विहान,—
ओ तुम, जो करते हो मेरा
आनन्त्य - प्रहर से गठ - बन्धन,—
जिसके कारण नित्यता अमर
करती है मेरा अभिवन्दन,
ओ मेरे वही व्यतीत, विगत,
भर दो तुम मेरा अन्तरतर,
लहराओ मेरे मानस में
मेरे अतीत की ज्योति-लहर।

है रमा हुआ जो विगत काल
इस भारत के रज-कण-कण-कण में,—
लहराता है जो नित मेरे
जन-गण के शोणित-नर्तन में,—
जिसकी महिमा के साखी हैं
मेरे पहाड़, मेरे जंगल,—
मेरी नदियाँ जिसकी गाथा
गाती रहती हैं कल-कल-कल,

हाँ वही विगत ज्योतिष्प्रभ कल,
क्यों बने आज विस्मरण-निकर ?
जागो मेरे सोये सपनो,
बन-ठन आओ तुम निखर-निखर।

ध्वंसावशेष ये सब मेरे,
ये मेरे वैभव के प्रतीक,
दिखलाते हैं सारे जग को
मेरे अतीत की प्रगति-लीक;
वह लीक पड़ चुकी है जिस पर
अनगिनत युगों की धूल अमित,
वह लीक, देख करके जिसको
इतिहास हो रहा अमित श्रमित,
देखो, वह अपनी ज्योति-लीक !
यों गरज रहे मेरे खँडहर;
बोले; लहराओ मानस में
अपने अतीत की ज्योति-लहर !

ये मेरे टूटे विजय-स्तम्भ;
ये मेरे सब ऊजड़े खँडहर,
ये खण्डित प्रस्तर-प्रतिमाएँ,
ये शिलालेख, ये स्तूप अमर,
ये गुहा अजन्ता के वासी,
अब तक है जिनकी कान्ति अजर,
ये सब गरजे हैं क्रोध भरे,
अम्बर भी कम्पित है थर-थर,

ये बोले, ओ मानव चेतो,
अब क्या चिन्ता ? अब कैसा डर ?
लहराओ अपने अम्बर में
अपने अतीत की ज्योति-लहर !

तुम कौन ? अरे क्या भूल गये ?
भूले क्या तुम अपना स्वरूप ?
तुम मध्य - एशिया से जाकर
पूछो निज गत गौरव अनूप !
तुम काराकोरम से पूछो,
क्या उसे याद हैं वे ध्रुव - पग ?
जिनने उसके उन्नत शिर पर
आँका मानव संस्कृति का मग ?
तुम जाग उठो, ओ अमृत पुत्र
निज हिय में नव उमंग भर-भर;
लहराओ अपने मानस में।
अपने अतीत की ज्योति - लहर !

तुम अपने सुविगत की गाथा
पूछो बाली से, लंका से,
तुम हिन्द महार्णव से पूछो;
हो क्यों आक्रान्त कुशंका से ?
प्राचीन चीन से तुम पूछो
अपने गत गौरव की गरिमा,
ह्यूएन्थसंग औ' फ़ाह्यिान
गा गये तुम्हारी वह महिमा !

अपने इतिहास पुरातन का
तुम स्मरण करो वह स्वर्ण [illegible]हर,
लहराओ अपने अम्बर में
अपने अतीत की ज्योति - लहर !

ओ भारत के जन, तुम भूले
क्या वे उज्वल मंगलमय क्षण ?
जब प्रथम यज्ञ की ज्वाला से
जगमगा उठे थे रज - कण - कण !
थे तुम्हीं कि जिनने पूछा था
'कस्मै देवाय ?' चकित होकर !
थे तुम्हीं कि जिनने गाये थे,
'सोऽहं' के स्वर निज को खोकर !
बोलो तो, है किसका अतीत
इतना उज्वल, इतना हिय - हर ?
लहरी थी तब अम्बर में ही
चिर चिन्मयता की ज्योति - लहर !

वेदों के महामन्त्र द्रष्टा
गुंजित है जिनका अमर नाद,
वे गूढ़ तत्त्वदर्शी योगी,
सिद्धेश कपिल, गौतम, कणाद,
वे महावीर, वे शुद्ध बुद्ध,
मानवता के वे सब- त्राता,
उनकी सब की प्यारी जननी
है यही वृद्ध भारत माता !

है यही तुम्हारी माँ, यह लख
क्या तुम उठते हो नहीं सिहर ?
लहराओ अपने अम्बर में
अपने अतीत की ज्योति - लहर !

वे व्यासदेव, वे वाल्मीकि,
वे भारवि, वे भवभूति करुण,
धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह,
वे कालिदास नित तरुण अरुण,
बेताल भट्ट, वे घटकर्पर,
ज्योतिष आचार्य वराह मिहिर,
वे नागार्जुन, भास्कराचार्य,
जिनने मेटा अज्ञान-तिमिर,
वे मध्व, और वे रामानुज,
वे वल्लभ, वे दिग्गज शंकर,
अब भी जग के नीलाम्बर में
लहराती जिनकी ज्योति - लहर !

मानव ने इस भू पर खोले
सबसे पहले निज हिय - लोचन,
औ' इसी नभ तले तो उसने
सन्देश दिया भव - भय - मोचन;
सबसे पहले इस भू पर ही
चमकीं किरणें ज्ञानोदय की;
ये भवति - न भवति - व्यथाएँ सब
मिट गयीं मनुज के संशय की,

बोलो, कब मेघाच्छन्न हुआ
अति प्रखर तुम्हारा वह दिनकर ?
लहराती है जग में उसकी
सच्चिानन्द मय ज्योति - लहर !

हो तुम्हीं आदि भैरव गायक,
हो तुम्हीं भैरवी की उठान,
गूँजे थे तव अम्बर में ही
उन प्रथम द्विजों के अरुण गान,
तव नभ में ही तो डोला था
वह सर्व प्रथम जागरण - पवन,
हाँ, तुम्हीं कर चुके हो सबसे
पहले वह अनहद - नाद श्रवण;
अब भी तव नभ में होती है
जागृति के पंखों की फर - फर।
लहराती है तव अम्बर में,
अब भी अतीत की ज्योति - लहर;

पाकर तव प्रथमासव - प्रसाद
है विश्व आज भी मतवाला;
आनन्द जगत् में जो है, वह
है वह मधु, जो तुमने ढाला !
मत भूलो कि तुम प्रणेता हो
जग में ऐसे आदर्शों के,
जिनको न क्षुण्ण कर पाये हैं
आघात अयुत संघर्षों के !

आकाश तुम्हारा यह विशाल
शतियों काँपा है हहर - हहर;
पर, रही अकम्पित सदा काल
तव प्रखर ज्ञान की ज्योति - लहर !

तुमने देखे कितने उद्भव,
कितने लय, कितने ही विप्लव
इतिहास - प्रभंजन तुमको कब
कर सके विडोलित औ' विक्लव !
तुम तूफ़ानों से खेले हो,
तुम महाक्रान्तियों के स्रष्टा !
तव भ्रू - विलास में नाश-सृजन,
आदर्श अलख के तुम द्रष्टा !
विस्तृत भू - मण्डल भर में तव
सांस्कृतिक ध्वजा है रही फहर !
है लहर रही नभ - मण्डल में
तव शुभ अतीत की ज्योति-लहर !

शतियों ने ली अँगड़ाई तो
तुम बोले एक निमेष हुआ;
जब युग बदले तो तुम बोले
लो इक घटिका का शेष हुआ।
मन्वन्तर की गणना से भी
कब शेष हुआ तव दिवस मान ?
कब थके तुम्हारे पंख अहो ?
कब टूटा तब कल्पना - यान ?

तुम आदि रहित, तुम अन्त हीन
तुम चिर अकाल, तुम प्रलयंकर,
तव अम्बर में है लहर रही
सन्तत अतीत की ज्योति-लहर !

पाहुन बन तव गृह आये हैं
ये महाकाल, ये महाकाश,
इन विकट अतिथियों को तुमने
कब किया निराश्रित औ' निराश ?
आकाश तुम्हारा गोपद है;
है काल तुम्हारा एक चरण !
युग - युग के ये परिवर्त्तन तो
हैं केवल तव निःश्वास - सरण !!
नैराश्य कहाँ ? औदास्य कहाँ ?
है यहाँ कहाँ वह तिमिर गहर ?
है लहर रही तव अम्बर में
सन्तत अतीत की ज्योति-लहर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२८ दिसम्बर, १९४३

■

ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

ओ तुम मेरे प्यारे जवान
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

आशाओं के तुम हो प्रकेत,
संघर्षों के तुम चिर - निकेत,
तुम महानाश के अग्रदूत;
नित निर्माणों के तुम निधान,
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम महाविकट संहार रूप,
तुम सृजन-कुशल नव-नव अनूप,
तुम सदा असुन्दर के बैरी,
चिर सुन्दर के तुम यशोगान;
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम रुद्र - रूप, तुम प्रलयंकर,
तुम मदन - दहनकारी शंकर,
तुम दृढ़-प्रतिज्ञ, तुम अडिग धीर,
तुम चिर अधिज्य धन्वा महान्;
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम काल - प्रभंजन परम प्रबल,
तुम जीवन - मलयानिल निर्मल,
तुम पुण्य कर्म-रति अति निरलस,
मधु स्वप्नों के तुम सुरस खान;
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

आदर्श - पुंज तुम अति प्रचण्ड,
तुम मूर्तिमन्त दृढ़ न्याय-दण्ड,
तुम साम्य-सन्तुलन-भाव अडिग,
तुम नवल कल्पना की उड़ान;
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम क्रुद्ध गभीर विरोध - नाद,
तुमको भीषण लोकापवाद—
कब चलित कर सका, बोलो तो ?
तव पग में आयी कब थकान ?
तुम मेरे गौरव मूर्तिमान !

सर्वार्पण की उमंग हिय भर,
तुम सिर ले चले हथेली पर;
दुन्दुभी स्वर्ग की गूँज उठी,
नभ में छायी बलिदान - तान;
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

तव बलिदानों की देख लड़ी,
शिवि की गाथा भी मन्द पड़ी;
तव प्राणदान के निकट पड़ा—
फीका दधीचि का अस्थि-दान;
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

लखकर तव कर्मठता अथकित,
है कर्मयोग भी स्वयं चकित,
लख तुम्हें अलिप्त, असंग-भाव—
है स्वयं प्रणत तव सन्निधान;
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

संकुचित स्वार्थ की, यश, धन की
लौकिकता की, या जीवन की,—
यह चाह कभी व्यापी न तुम्हें,
तुम सदा अनिंगित, सावधान,
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

जब मेरे नभ में छाये घन,
अवरुद्ध हुई जब ज्योति-किरण,
तब बनकर विकट प्रभंजन तुम
चमकाने आये भासमान,
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

अपनी धुन में वन - वन डोले,
रण में जूझे तुम बिन बोले,
तव बलि-वेदी की ज्वाला से,
हो गया विनिर्मित नव-विहान;
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
६ फ़रवरी, १९४५

अरे तुम हो काल के भी काल

कौन कहता है कि तुमको खा सकेगा काल ?
अरे ? तुम हो काल के भी काल अति विकराल ?
काल का तव धनुष; दिक् की है धनुष की डोर;
धनु - विकम्पन से सिहरती सृजन - नाश - हिलोर !
तुम प्रबल दिक् - काल - धनु - धारी सुधन्वा वीर;
तुम चलाते हो सदा चिर चेतना के तीर !

क्या बिगाड़ेगा तुम्हारा, यह क्षणिक आतंक ?
क्या समझते हो कि होगे नष्ट तुम अकलंक ?
यह निपट आतंक भी है भीति - ओत - प्रोत !
और तुम ? तुम हो चिरन्तन अभयता के श्रोत !!
एक क्षण को भी न सोचो कि तुम होगे नष्ट;
तुम अनश्वर हो ! तुम्हारा भाग्य है सुस्पष्ट !

चिर विजय दासी तुम्हारी, तुम जयी उद्‌बुद्ध;
क्यों बनो हतआश तुम, लख मार्ग निज अवरुद्ध ?
फूँक से तुमने उड़ायी भूधरों की पाँत;
और तुमने खींच फैंके काल के भी दाँत;
क्या करेगा यह बिचारा तनिक-सा अवरोध ?
जानता है जग : तुम्हारा है भयंकर क्रोध !

जब करोगे क्रोध तुम, तब आयेगा भूडोल,
काँप उट्ठेंगे सभी भूगोल और खगोल;
नाश की लपटें उठेंगी गगन - मण्डल बीच;
भस्म होंगी ये असामाजिक प्रथाएँ नीच !
औ' पधारेगा सृजन कर अग्नि में सुस्नान;
मत बनो गत आश ! तुम हो चिर अनन्त, महान् !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
९ फ़रवरी, १९४४

ये आये ! ये आये !!

ये आये, ये आये, भस्मक ये आये, ये आये !
लाज गरजते, घर्घर करते ये नभ में मँडराये,
भस्मक ये आये, ये आये !!

अरे, कौन कहता है इनको वायुयान नभचारी ?
किसने कहा : हुई हैं मानव-क्रीड़ा गगन-विहारी ?
हरण-मरण के पंख लगाये भीषण मृत्यु पधारी !
आज, जगत् में त्राहि-त्राहि के करुण, भीत स्वर छाये;
भस्मक ये आये, ये आये !!

पवन-यान हैं अन्तरिक्ष में, हैं शतघ्नियाँ नीचे;
नर क्या करे ? श्रवण निज मूँदे ? या निज लोचन मींचे ?
इस प्रज्वलित जनोद्यम-रथ को कैसे कोई खींचे ?
सर्वनाश ने आज चतुर्दिक् अंगारे बरसाये;
भस्मक ये आये, ये आये !!

क्या मानव की प्रगति-कथा की इति का अब यह अथ है ?
क्या उसके लीलान्त-काल का यह उपहास अकथ है ?
लगता हिय हारा-सा मानव; उसका तन संश्लथ है !
उसने अपने हाथों अपनी इति के साज सजाये !
भस्मक ये आये, ये आये !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१७ जुलाई, १९४३

■

ऐसा क्या हमें अधिकार ?

क्या हमें अधिकार ? ऐसा क्या हमें अधिकार ?
कि हम दरसाते रहें निज अचिर हृदय-विकार ?
ऐसा क्या हमें अधिकार ?

क्यों जगत् को हम सुनावें विकृत अपनी तान ?
क्यों सदा गाते रहें हम दुख-दरद के गान ?
क्यों न जागे आज हममें मानवी अभिमान ?
हम करें चित्रित दिवस निशि क्यों हृदय-अविचार ?
ऐसा क्यों हमें अधिकार ?

आज मानवता हुई है विकट विपदा-ग्रस्त;
आज मानव हो रहा है भीति से संत्रस्त;
आज संस्कृति-सूर्य, देखो, हो रहा है अस्त;
क्यों करें ऐसे समय हम दैन्य का विस्तार ?
ऐसा क्या हमें अधिकार ?

आज, आओ, हम करें भय-हरण-रण-हुंकार;
गूँज उठे आज चहुँ दिशि जागरण-हुंकार;
जग सुने अब सुप्त काली नाग की फुंकार;
आज जग देखे कि हम हैं शक्ति के आगार,
हम हैं चिर विजय-आधार !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१८ जून, १९४३

■

क्या परवश, डग-मग-पग मानव ?

यह परवश, डग-मग-पग मानव,
लादे चला जा रहा सिर पर, अपनी गत संस्मृतियों के शव;
यह परवश, डग-मग-पग मानव ।

स्मृतियों का यह बोझ अपरिमित, यह जर्जर तन, यह दुर्बल मन,
उस पर, यह पथ-चलन निरन्तर;
फिर यह काल-गणन-श्रम क्षण-क्षण;
मार्ग-चलन यह, काल-कलन यह, ये चिर देश काल के बन्धन,
ऐसे नियति-वृत्त में विजड़ित, मन है भ्रमित, वचन हैं नीरव;
है परवश, डग-मग-पग मानव ।

कहाँ-कहाँ की सुध-बुध आकर तन, मन, प्राण शिथिल कर जाती,
तममय, विस्मृत काल-कक्ष में वह चुपके दीपक धर जाती;
भर जाती है जीवन-घर में आत्म समय मदिरा मदमाती;
यों जीवन में हो जाता है कर्म-निरति का पूर्ण पराभव;
यह परवश, डग-मग-पग मानव ।

मिला कर्म का बोझ मनुज को; फिर, स्मरणों का बोझ मिला यह;
दो-दो भार कहाँ तक ढोवे यह दुर्बल तन मानव अहरह ?
स्मरण इधर; है उधर कर्म-रण; दोनों आज हुए हैं दुर्वह;
अरी नियति, तू ने मानव के हिय में क्यों सुलगाया यह दव ?
है परवश, डग-मग-पग मानव !

जो ग्रीवा, अग्रिम-दर्शन-हित, अग्रिम-अभिमुख थी बेचारी,
वह मुड़ गयी आज पीछे को बरबस, परवश-सी, हिय-हारी !

हाँ, यह मानव ही दोषी है; यह उसकी ही है लाचारी;
अरे, अन्यथा क्यों बन जाता उसका यह लघु जीवन रौरव ?
है परवश, डग-मग-पग मानव।

आकुल दृग् मीलित हैं; फिर भी वे गत पन्थ निहार रहे हैं,
आज घटित घटनाओं पर वे अपना सब कुछ वार रहे हैं;
गत का यह अभिषेक हो रहा; दृग् उष्णोदक ढार रहे हैं;
भावी के विचार सोये हैं; जगा आज विगत का वैभव;
है स्मृति-वश, डग-मग-पग मानव !

आज याद आयी मानव को अपनी सुन्दर बिटिया रानी,
वह हिय की लघु कणिका जिसकी प्यारी है हर-हर नादानी;
मानव देख रहा – लेटी है वह विवर्ण, रुग्णा, कल्याणी !
ऐसे क्षण, बोलो, वह कैसे सुने क्रान्ति का गर्जन भैरव ?
यह स्मृति-वश, डग-मग-पग मानव !

मानव देख रहा है अपने प्राणों की पुतली के लोचन,
मानव देख रहा है अपनी कमलाक्षी का वारि - विमोचन !
और, हो रहा है मानव के हिय का स्फुरण और संकोचन;
ऐसे क्षण, वह कैसे सोचे क्या कर्त्तव्य, कर्म ? क्या विप्लव ?
है स्मृति-वश, डग-मग-पग मानव !

पर, मानव ने लखी विवशता; उसने देखे बन्धन अपने;
और लगा वह दाँत पीसने; उसके लगे होंठ भी कँपने;
मानव की आँखों के आगे लहराये भावी के सपने !
और, किटकिटा कर वह दौड़ा करने नाश, सृजन नित नव-नव !!
धीर चरण, रण-रत, यह मानव !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ जून, १९४३

■

मेरे साथी अज्ञात नाम

मेरे साथी, अज्ञात नाम,
तुमको मेरे शत-शत प्रणाम।

तुम एक ध्यान, तुम एक ज्ञान,
तुम एक आन, तुम एक बान,
तुम इक उफ़ान, तुम इक उड़ान,
तुम गति -निधान, तुम चिर प्रयाण;
तुम इस निरन्त यात्रा - पथ के
कटिबद्ध चिरन्तन सहयात्री,
तुम रथ - विहीन, तुम निःसम्बल,
तुम निःसाधन, तुम करपात्री,
तुम दीप्त दृष्टि, तुम नव विसृष्टि;
जग का करने भय - भार - हरण,—
आये ये तुम नव रँग - राते,
मुद-मद - माते, चिर नग्न चरण
अपने को करने स्वयं हवन
आये थे तुम अज्ञात नाम,
तुम नाचे यज्ञ - हुताशन में;
तुमको मेरे शत - शत प्रणाम।

मिट गया तुम्हारा मूर्त्त रूप,
कुछ भी न रहे तव चिह्न शेष,
तुम तो इतने निस्पृह निकले,
छोड़ा न रच भी नाम - लेश;
अपना सब कुछ तुम होम चले;
यश, कीर्त्ति, नाम सब, हुए लुप्त,

पर, चमके तुम जग - नयनों में
जागृति-द्युति-कण बन अरे गुप्त !
देखो, कृतज्ञ इतिहास आज
लाया है ये संस्मरण – फूल,
कर रहा समुद वह संशोधित
अपने विवरण की क्षणिक भूल।
मानवता का यह प्रगति - चक्र
तुम बिन कब घूमा एक याम ?
मेरे साथी, अज्ञात नाम,
तुमको मेरे शत - शत प्रणाम।

थे तुम्हीं न, जिनने सर्व प्रथम
विद्रोहों का सन्देश सुना ?
थे तुम्हीं न, जिनने जीवन में
कण्टकित मार्ग का क्लेश चुना ?
थे तुम्हीं बढ़े लेने उत्सुक
इस महा निष्क्रमण का प्रसाद;
तुमको न चलित कर सका कभी
विद्वानों का व्यवहार - वाद;
पथ की कण्टक - कीर्णता अमित,
बोलो, तुमको कब डरा सकी ?
मग की बीहड़ - सी अनन्तता
बोलो, तुमको कब हरा सकी ?
थककर, उकताकर, कातर हो,
तुम कब चिल्लाये 'अरे' राम !'
तुम तो बढ़ते ही गये, वीर,
तुमको मेरे शत - शत प्रणाम।

पगडण्डी को तुम बना गये
पाहन की गहरी अमिट रेख,
कितनों ही ने चलना सीखा
तुमको यों चलते देख - देख !
तुमने खोजी विश्रान्ति कहाँ ?
तुमको तो बस धुन रही एक;
तुम कभी थके यदि, तो, पथ पर
रह गये लकुटिया रंच टेक !
देखी न दुपहरी औ' निशीथ,
तुमने कब देखी धूप - छाँव ?
अवकाश मिला कब तुम्हें कि तुम
लखते छाले, जो पड़े पाँव ?
दिन - रात चले, हर घड़ी चले,
तुम सुबह चले औ' चले शाम,
चलते ही चलते लुढ़क पड़े
पथ पर तुम, ओ अज्ञात नाम।

यह पथ अनन्त, यह पथ दुर्गम,
जिसका न कहीं है ओर - छोर;
यह पथ, विकराल काल - अर्णव
घहराता जिसकी उभय ओर !
यह पथ, जिस पर मँडराती हैं
घनघोर मरण - घड़ियाँ अथोर !
यह पथ, जिसके उस छोर कहीं
है लक्ष्य मनोहर, चित्त चोर;
ऐसे इस पथ के कण - कण में
सींचा तुमने निज रक्त, स्वेद।

तुम बढ़े, मिटाने मानव के
मन का युग - युग का भेद - खेद;
तात्कालिक फल की आशा से
कब चलित हुए तुम, पूर्ण काम ?
थे निःस्पृह कर्म उपासक तुम;
तुमको मेरे शत - शत प्रणाम।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३० मई, १९४३

■

नरक के कोड़े

कुछ लोग नरक के कीड़े हैं, वे कायर हैं, दुर्बल-मन हैं;
जो नारी पर विष-वमन करें, ऐसे भी इस जग में जन हैं!

जो नारी को चंचल कहकर हर घड़ी कोसते रहते हैं,–
जो नारी की कामुकता की गाथा ही अह निशि कहते हैं,–
वे हैं पाखण्डी कामुक, जिनको स्त्री ने ठुकराया है;
जिनके पापों से नारी ने अपने को कभी बचाया है!
वे ही अब बनकर कलाकार करते नारी पर फन-फन हैं;
वे लोग नरक के कीड़े हैं; वे कायर हैं, दुर्बल मन हैं!

जो नारी में कामुकता ही देखें वे भी क्या मानव हैं?
वे तो हैं बस चाण्डाल अधम, वे तो बस पूरे दानव हैं!
उनको नारी ने दी ठोकर, इससे चिढ़ है उनके मन में;
औ' चले लगाने कालिख वे नारी के चरित सुहावन में!

ये षण्ढ समझते हैं कि हमीं कर रहे कला का प्रणयन हैं;
जो नारी पर विष-वमन करे, धिक् है ! ऐसे भी जग-जन हैं !

ये पामर भूल गये हैं क्या; ये भी नारी के जाये हैं ?
अपने शरीर-मन-प्राण सभी इनने नारी से पाये हैं !
नारी के बिन तो थे ये सब कुछ मूत्र-कीट का गुच्छ, अहो !
नर बन निकले, तो नारी पर करते प्रहार ये तुच्छ, अहो !!
ये हैं कृतघ्न, ये हैं कायर, ये निरे बुद्धि के वामन हैं,
ये लोग नरक के कीड़े हैं, दुर्बल मन हैं, दुर्बल तन हैं !

नारी ने ठुकराया, तो अब, ये गढ़ते एक कहानी हैं,
जिसमें निज को ये दिखलाते संयमी और विज्ञानी हैं !
जो कभी भाग्य में नहीं बदा, उसको ही ये दिखलाते हैं;
ये घोंघे, निज कल्पित तप से नारी का हिय पिघलाते हैं !
फिर उसको गाली देते हैं; यों समझाते अपना मन हैं,
ये लोग नरक के कीड़े हैं, ये कायर हैं, दुर्बल तन हैं !

असफल, कलुषित वासना भ्रष्ट, बन गयी ग्रन्थि इनके मन की,
ये लगे कोसने नारी को, सुध भूले ये माँ के स्तन की !
प्रत्यक्ष रूप में नारी को कर सके न कभी पराजित ये,
तो क़लम-कुल्हाड़े से उसको करते हैं खण्ड-खण्ड नित ये ?
निज माताओं का यों ही क्या ये पामर करते तर्पण हैं ?
ये षण्ढ, नरक के कीड़े हैं, ये कायर हैं, दुर्बल मन हैं !

ऐ बौनो, नारी को देखो, वह पत्नी है, वह माता है !
वह हिय की कणिका बेटी है; वह जग की भाग्य-विधाता है !!
वह महाशक्ति का मूर्त्त रूप, वह परम भक्ति कल्याणमयी;
वह सृजन-ब्राह्म क्षण की पावन सुन्दर ऊषा मुसकानमयी;
ओ मार्ग भ्रष्ट तुम कलाकार, क्यों बन्द तुम्हारे लोचन हैं ?
क्यों हृदय तुम्हारे कलुषित हैं ? क्यों दूषित तव अभिव्यंजन हैं ?

कहते हो नारी चंचल है ? पर तुम क्या हो ? कुछ बोलो तो ?
अपने ही पलड़े पर, आओ, अपने मन को कुछ तौलो तो ?
यों ललित कलाश्रय लेकर तुम, क्यों फैलाते अविचार, अरे ?
इस पावन देव-धुनी में तुम क्यों छोड़ो गन्दी धार, अरे ?
हैं नहीं, अरे, यह ललित कला, यह तो मल-मूत्रविवेचन हैं
यह ख़ूब समझ लो तुम-जैसे मानवता के बैरी जन हैं !!

मानवता को मत दो धोखा अपने को तुम मत धोखा दो !
तुम अपने मौन-पराजय को यों भुलने का मत मौक़ा दो !
नारी है चिर प्रेरणामयी, नारी है पावन स्नेह रूप;
इस पूर्ण पुरातन सिरजन में नारी ही है नित नव, अनूप ।
जिन ने जग को रस-दान दिया, वे नारी के लोचन-कण हैं
जो कायर नारी को कोसें वे पामर हैं, दुर्बल मन हैं !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१७ दिसम्बर, १९४३

■

चिन्ता ?

अपनी और परायों की सब चिन्ताओं का भार लिये,
चला जा रहा है यह मानव मन में एक बुख़ार लिये;
आज, तीसरे पहर, उठी है चौथे की अतुलित चिन्ता,
आये हैं असफलित मनोरथ जीवन - भर की हार लिये !

माया मिली न जन - वैभव की, मिले न राम लोक-सुख के,
आ पहुँचा अपराह्ण काल यह, फटे न दल बादल दुख के;
अर्घ्य दे रहा है अस्तंगत रवि को यह मानव प्राणी,
आज मुड़े हैं पश्चिम दिशि को दृग् इस प्राची-अभिमुख के !

देख रहा है मानव अपना जीवन-क्रम निःसार निरा;
देख रहा है वह अपना नभ अन्धकार से घिरा-घिरा;
देख रहा है निज कर्मों का, वह, मुरझाया - सा पौधा;
अनुभव करता है वह, जैसे, उसका मन है गिरा-गिरा !

हुआ तीसरा पहर, और अब सन्ध्या भी आने को है,
खेत और खलिहानों की यह ढली धूप जाने को है;
कहीं घोंसला नहीं बनाया, सोच रहा है यों पंछी,–
पच्छिम के सागर में सूरज जब कि डूब जाने को है।

साँझ-बसेरा कहाँ करोगे ? पूछ रहा है यों संशय;
नैशयाम कैसे काटोगे ? पूछ रहा यों हिय का भय;
दाने की क्या आशा है ? यों पूछा दूरदर्शिता ने;
और, कहाँ पाओगे पानी ? बोला यों स्वभाग्य निर्दय !

इन प्रश्नों को सुनकर, मानव एक निमिष को खिन्न हुआ,
किन्तु दूसरे ही क्षण उसका सब भय-संशय छिन्न हुआ;

क्या निद्रा, भोजन, भय, मैथुन, यही भाव है मानव का ?
क्या न शुद्ध मानव स्वभाव है पशुओं से कुछ भिन्न हुआ ?

क्यों निराश हो मानव-प्राणी ? जीवन तो है यज्ञ सदा,
स्वाहा ! स्वाहा ! की ध्वनि से जो झिझकें, वे हैं अज्ञ सदा;
कहो, बढ़ी मानवता आगे कब बिन जन - बलिदानों के ?
अरे, स्वकर्म-फलों की आशा करना भी है इक विपदा !

सामूहिकता का सुख, वैभव, सामूहिक कल्याण परम,—
इनको तो हैं नित्य अभीप्सित वैयक्तिक बलिदान चरम !
इस साधना कठोर, घोर, में बीता है जिसका जीवन,—
क्यों, चौथेपन में भी, उसके, कहो अटपटे पड़ें क़दम ?

जीवन है यदि एक खेल, तो क्यों न शान से सब खेलें ?
अपने हिस्से में जो आये, हँस-हँस उसे न क्यों ले लें !
अगर तुम्हारे हिस्से में है आन पड़ी यह सैनिकता—
तो, चिन्ताएँ आज तुम्हारे पथ से तुमको क्यों ठेलें ?

होता है परिगणित युगों में जन-समाज अस्तित्व जहाँ,—
शत-शत कल्पों तक फैला है सामूहिक व्यक्तित्व जहाँ—
वहाँ एक जीवन की चिन्ता तुमको क्यों हो, बोलो तो ?
कहो ? निभाओगे क्या यों ही तुम अपना दायित्व यहाँ ?

रैन-बसेरा नहीं मिले यदि, तो पथ में ही पड़ रहना,
बिना वस्त्र, यदि ठण्ढ लगे तो यों ही, यार, अकड़ रहना !
सुबह देखकर लोग कहेंगे : लो, यह तो था वह यात्री !
पर, जीते-जी कातर होकर, तुम मत दीन वचन कहना !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१५ अप्रैल, १९४४

■

सैनिक, बोल!

सैनिक, बोल, रगों में तेरी,
शोणित है या ठण्ढा पानी?
बतला, तेरे जीवन में है
लुंज बुढ़ौती या कि जवानी?

यदि तेरी नस-नस में बहती
वेगवती शोणित की धारा,—
राख हुआ है नहीं अभी यदि,
तेरे यौवन का अंगारा,—

तो क्यों झाँक रही है तेरे
नयनों से यह निपट निराशा?
तू क्यों है उदास निज मन में?
क्यों मुरझी है तेरी आशा?

निकला था तू जब कि जूझने
धारण कर सैनिक का बाना,—
जब कि बज उठा था रण-धौंसा,
जब गूँजा था युद्ध-तराना,—

तब क्या तुझसे कहा गया था
कि हैं सुमन ही तेरे मग में?
क्या तुझको यह ज्ञात नहीं था
कि हैं शूल अगणित मारग में?

फिर, यदि आज चुभे है काँटे
तो तू क्यों अकुलाये मन में ?
समझ - बूझ कर ही ओ सैनिक,
तू सम्मिलित हुआ है रण में !

है तेरा रण पुण्य - प्रणोदक,
तेरा रण जन - मंगलकारी,
तेरा जीवन नित्य निवेदित,
तेरे कर्म अभय - संचारी;

देख रही है यह मानवता
आतुरता से तेरी गति - विधि,
क्षण - क्षण तुझे निहार रहे हैं,
ये सब बूढ़े भूधर, वारिधि;

तेरा ही मुँह देख रहे हैं
धरती के सब पाहन, जंगल,
उझक निहार रहे हैं तुझको
सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, खमण्डल !

प्रगति - प्रेरणा चिन्तातुर - सी
देख रही है तेरे पग - डग;
और विकास निहार रहा है
तेरा यह ऊँचा - नीचा मग;

अरे, हुई हैं तुझमें केन्द्रित,
इस विसृष्टि की सब आशाएँ;
तुझमें ही तो मूर्त हुई हैं
ऊर्ध्व - गमन की अभिलाषाएँ;

तू ही है प्रतीक, ओ सैनिक,
जन - विकास - नोदना - व्यथा का,
तू ही पुंजीभूत रूप है
सिरजन की इतिहास-कथा का !

दुर्निवार युग - धर्म विकट ने
जब अपना सन्देश सुनाया,–
तब तू ही तो था जो उत्सुक
बढ़कर था सुनने को आया ?

बोला था युग - धर्म कि सुन लो,
पथ में अंगारे बरसेंगे !
तब तू बोला था कि "अरे हम,
उस बरसा में भी सरसेंगे" !

तब क्यों दिखलाई दे तेरे
मुख पर आज त्रास की छाया ?
भावी - दर्शन - शील - दृगों में
तेरे क्यों नैराश्य समाया ?

तू ने खोले अपने लोचन
और अँधेरा डर कर भागा;
तू गरजा जय - जय - ध्वनि करके,
औ' प्रभात सोते से जागा;

तू ने तौलीं अपनी बाँहें,
औ' कायरता थर - थर काँपी;
तू ने अपने एक चरण में
बाधाओं की सीमा नापी;

तू है चिर अवरोध - विजेता,
तू मानव - कल्याण - विधायक;
तू ही है जन - गण उन्नायक,
तू भैरव - छन्दों का गायक !

अवरोधों के क्षणिक रूप का
क्या तुझको कुछ पता नहीं है ?
बाधाओं का तुंग शैल भी
अति अलंघ्य क्या हुआ कहीं है ?

तेरे चरणों की ठोकर से
मिले धूल में शैल अनेकों,
तू क्यों निज बल - विक्रम भूला ?
तू क्यों भूला है अपने को ?

पथ के अमित धूलि - कण साक्षी
हैं तेरे पर्वत - मर्दन के !
औ' तेरे पद - तल साक्षी हैं
क्षुर - धारा पर तव नर्तन के !!

अवरोधों के अग्नि - शैल जो
तेरे सम्मुख आज खड़े हैं,—
ये प्रज्वलित प्रखर अंगारे
जो तव पथ में आन पड़े हैं,—

ये आये हैं तुझे बनाने
एक बार फिर अग्नि - परीक्षित,
ये आये हैं करने तुझको
फिर से जीवन् - रण में दीक्षित;

कर उल्लंघित और विमर्दित
ये पर्वत, ये आग - अँगारे,
क्यों न आज तू गरज - गरज कर
निज आग्नेय मन्त्र उच्चारे ?

क्या न सुना तू ने अन्तर की
चिदाकाश वाणी का गर्जन ?
क्या न सुना तू ने अब तक भी
वह गभीर, भय - हारी तर्जन ?

सुन, रे, सुन. वह मन्द महा-ध्वनि
तुझे दे रही आज निमन्त्रण,
गूँजा है सन्देश कि "सैनिक
तोड़ !! अरे हाँ, तोड़ नियन्त्रण !!

बन उन्मुक्त, अबाध, अनिगित;
सोच न सुख - दुख, अरे चला चल,
जीवन-रस में घुले-मिले हैं
मधुर अमिय औ' तीव्र हलाहल !"

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१७ जुलाई, १९४४

■

ओ मज़दूर किसान, उठो

उठो, उठो ओ नंगो भूखो
ओ मज़दूर किसान, उठो,
इस गतिमय मानव - समूह के
ओ प्रचण्ड अभिमान, उठो।

आज मुक्ति के अरमानों ने
मिलकर यों ललकारा है :
ओ सब सोने वालो, जागो,
गूँज रहा नक्कारा है !
कैसी रात ? कहाँ के सपने
यह नव प्रात पधारा है !
ऐसे हँसते - से प्रभात का
तुम करने सम्मान, उठो,
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो,

ले प्राणों के फूल करों में,
हिय में अमित उमंग भरे,–
कन्धों पर ले विजय-पताका,
नयनों में रण-रंग भरे,–
नवल प्रात के स्वागत को तुम
चलो वीर निश्शंक, अरे;
क्या भय ? क्या डर ? आज झिझक क्या ?
ओ मानस सन्तान उठो !
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो।

शतियों के आदर्श तुम्हारे
मूर्त रूप धर आये हैं;
नव समाज के नवल सृजन का
नया सँदेसा लाये हैं;
दिशि-दिशि में समता-स्थापन के
ये अभिनव स्वर छाये हैं;

महाक्रान्ति के नव विधान हित
तुम करने बलिदान उठो;
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर, किसान, उठो।

अब न आ सके रात भयंकर
ऐसा कुछ गति - चक्र चले;
फिर न अँधेरा छाये जग में
चाल न कोई वक्र चले;
चमके स्वतन्त्रता का सूरज,
परवशता का अभ्र टले;
शोषण के शासन की इति हो,
तुम ऐसा प्रण ठान, उठो,
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो।

सभी ओर तव भुज-बल-अंकित,
पृथिवी देखो, हल देखो,
निखिल विश्व के यन्त्र-तन्त्र में
तुम अपना कौशल देखो;
भू-मण्डल के सिरजन में तुम
अपनी चहल-पहल देखो;
ज्योति जगाते, भीति भगाते,
ओ तुम शक्ति-निधान, उठो;
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो।

तुमने पीकर गरल, जगत को —
मधुरामृत का दान दिया;
शीतल हुआ जगत, जब तुमने
प्रलय-अग्नि का पान किया !
मरण-वरण कर तुमने सब को
नव जीवन, नव प्राण, दिया;
बहुत पिया विष; अमृत पियो अब,
त्यागी वीर महान्, उठो;
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो ।

सुलगा दो निज अन्तर्ज्वाला,
विकट लपट लम्बी धधके,
होवे भस्म दासता, शोषण,
ऐसी यह होली भभके !
हो जाओ तुम मुक्त, कि विहँसें
ये सब तारागण नभ के;
दुर्निवार तुम, सदा मुक्त तुम,
करो विजय के गान, उठो;
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो ।

किसका साहस है कि रख सके
तुमको यों चिर बन्धन में ?
स्वयं मुक्ति ही नाच रही है
सदा तुम्हारे स्पन्दन में !

तुममें विप्लव अन्तर्हित है,
जैसे ज्वाला चन्दन में;
टेर रहा है तुम्हें विश्व यह
ओ जग के बलवान, उठो;
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२६ जुलाई, १९४३

■

अरी धधक उठ

निगड़ - बद्ध तन तपःतप्त हो,
जटिल शृंखलाएँ ये टूटें,
असम्भावनाओं की दृढ़ता के
रह - रह करके छक्के छूटें,

सिंह - द्वार मरण - जीवन का
आज मुक्त हो जाये, सजनी
आज उगा दे सूर्य नया तू
हो अब शेष अमा की रजनी!

कर दे भस्म शृंखलाओं की
ये सब कड़ियाँ न्यारी - न्यारी ।
अरी, धधक उठ, धक - धक कर तू,
महानाश की भट्ठी प्यारी !

गतानुगति की, परिपाटी की
मूढ़ प्रथाएँ घुसी हुई ये –
धर्म-बेलि की पत्ती-पत्ती
बना रही हैं छुई-मुई ये, –

आग, लपक कर इन्हें खींच ले
तू अपनी गोदी में, रानी,
आ, झकझोर मूढ़ता को तू
कर भस्मावशेष, कल्याणी,

तू मत देख, धड़कने दे री,
इस हिय की धुकधुकी बिचारी।
खूब धधक उठ, धक-धक कर
तू महानाश की भट्टी प्यारी।

जड़ता बनी धर्म का भूषण,
शठता आचार्या बन बैठी,
भूत दया का रूप धरे यह
निपट नपुंसकता है ऐंठी;

सामाजिक औदास्य – भावना
बनी भाग्य का फेर निराला,
निरुत्साह, दौर्बल्य, भीति का
पड़ा हुआ है उर पर पाला

कर दे नष्ट आज सदियों का
संचित यह कुभाव अविचारी।
अरी, धधक उठ; धक-धक कर तू
महानाश की भट्टी प्यारी।

हिय के खण्ड, नेह-पय-पालित
अपने वत्सों को, माताएँ –
जीवित भेंट चढ़ा देने को
बढ़-बढ़ कर अर्पित कर जायें।

भर जायें विस्मृत प्रांगण के
कोने-कोने में वैरागी –
जिनकी आँखों में मस्ती है
होंठों पर स्मिति-रेखा जागी;

सिर पर क़फ़न बाँध आ जायें
आहुति देने विकट प्रहारी।
अरी, धधक उठ, धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

आज सुलग ऐसी की कहीं भी
लौ का ओर न छोर रहे री,
उदधि सलिल – सी लहरें-लपटें
पुंजीभूत कृशानु बहे, री,

हँस-हँस कर तू, अरी हसन्ती,
अन्त अनन्त सृष्टि का कर दे,
तू माता की वत्सलता की
विमल वृष्टि में लपटें भर दे,

बस कठोरता और ज्वलन का
तव आदेश रहे भयहारी!
अरी धधक उठ धक-धक कर तू –
महानाश की भट्ठी प्यारी।

शत-शत सुख को अभिलाषाएँ
छिन में क्षार-क्षार हो जायें,
सहस हृदय की दुर्बलताएँ
एक निमिष भर में खो जायें;

लक्ष-लक्ष लोचन में चमके
प्राणार्पण की निर्मम ज्वाला;
कोटि-कोटि कण्ठों से निकले
सर्वनाश का घोष निराला;

झटक झूम झककोर भस्म कर
तू निसर्ग की तुंग अटारी;
अरी, धधक उठ धक - धक कर तू,
महानाश की भट्ठी प्यारी !

आज सृष्टि संहार-भार यह
तव हिय-हार बना, मतवाली
तेरी इन कराल दाढ़ों में
मृत्यु खेलती है विकराली,

दहन-समस्या की रेखाएँ
हैं तव भाल-देश पर अंकित;
रक्ताकांक्षा से तेरी यह
जिह्वा, कुछ लपकी, कुछ शंकित;

मेरी हृदय-शिला पर कर ले
पैनी अपनी लपट-कटारी;
अरी, धधक उठ, धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी !

आशा और मुक्ति व्याकुलता
फिर अब निखर उठे कुन्दन-सी,
लगन लगे आदर्श चरण में
वह झुक जाये अभिवन्दन-सी,

क्रन्दन, रण हुंकार भयंकर
दिशि - दिशि, भरता जाये ऐसे—
ज्वालामुखी शैलमाला में
घन – विस्फोट भरा हो जैसे,

एक-एक चिनगी बन जाये
अभिनव जीवन की संचारी;
अरी, धधक उठ धक-धक कर तू,
महानाश की भट्ठी प्यारी।

मान और मर्यादा छूटी,
बिखर गयी गरिमा क्षण-भर में,
रण - हुंकार - कारिणी क्षमता
लुप्त हो गयी है अम्बर में,

गिरि-गह्वर में, वन-उपवन में
अथवा किसी शून्य प्रान्तर में—
डोल रहे हैं कुछ दीवाने
ले आशा-प्रदीप निज कर में,

कब से खोज रहे हैं तुझको
सर्वनाश की ओ चिनगारी;
अरी, धधक उठ धक-धक कर तू,
महानाश की भट्ठी प्यारी।

आज, सव्यसाची का खाण्डव
विपिन-दहन फिर से दिखला दे,
अग्नि-कुमारों को तू फिर से
तनिक वह्नि-क्रीड़ा सिखला दे;

दिखला दे कि मरण जीवन है,
रण प्रांगण भगवत्-गीता है;
सिखला दे कि अनन्त शान्ति यह
केवल तुझ से परिणीता है,

तेरी अनुगामिनी बनी है
नव प्रभात ऊषा सुकुमारी;
क्यों झिझके, री, धधक-धधक, तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

जल, थल, शून्याकाश अग्नि का
कुण्ड बने विकराल भयंकर,
वर्तुल महा व्योम कक्षा यह
बने उसी की परिधि निरन्तर;

महाकाल निज भाल नेत्र फिर
खोलें आग लगे प्रलयंकर;
सर्वभक्षिणी लपटें उट्ठें
धधके मानव का अभ्यन्तर;

कर्म-अलसता औ' कायरता
सब जल जायें बारी-बारी।
अरी, धधक उठ धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

चट-चट करती, धू-धू करती,
हा-हा हू-हूकार मचा दे,
अपने शौलों के फूलों से
मेरा आँगन आन रचा दे,

अरी, नचा दे अपनी लपटें
इधर-उधर सब ओर निराली;
काली की जिह्वा-सी लपके
लप-लप करती लौ मतवाली;

धुआँ उठे, पाखण्ड जल उठे
हिम धधके, देखें त्रिपुरारी,
अरी, धधक उठ धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

अम्बर से अंगारे बरसें,
जलद धुआँ बनकर मँडरायें,
वज्रघोष से सुप्त रोष की
भौंहें विकराली चढ़ जायें;

अन्तर का विद्रोह फट पड़े
खल-भल कर ज्वलन्त भूधर-सा;
रिक्त गगन बन जाय उलट कर
चण्डी के ख़ाली खप्पर-सा;

भर दे, हाँ खप्पर भर दे तू,
अपनी ज्वालाओं से, आ, री,
आज धधक उठ धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

■

गड़गड़ाहट गगन-भर में

यह कड़क, यह गड़गड़ाहट, भर गयी है गगन-भर में,
आज गरजा है भयानक नाश भीषण, विकट स्वर में !

मृत्यु अति विकराल, दुर्दम,
गगन में मँडरा रही है;
ज्वाल - जिह्वा लपलपाती
मेदिनी पर आ रही है;
चर-अचर को भूनती, वह
सब निगलती जा रही है;
कर रही हुंकार बैठी वह शतघ्नी के उदर में;
और उसका विकट गर्जन भर गया है गगन-भर में !

जनपदों के व्यक्तियों का
है नहीं केवल मरण यह;
है सहस्रों अब्दियों के
संचितों का अपहरण यह;
सर्वनाशों ने सजाया
विप्लवों का उपकरण यह
धँस रही है ध्रुव धरित्री प्रलय के दुर्धर प्रहर में;
आज गरजा है भयानक नाश भीषण, विकट स्वर में

क्या विलक्षण चिह्न है यह ?
कौन गूढ़ प्रकेत है यह ?
क्या किसी नव-नव सृजन का
आगमन संकेत है यह ?

आज तो मानव भ्रमित है;
लुप्त ज्ञान, अचेत है यह !
प्रेत-सा मँडरा रहा है गगन, जल, थल की डगर में;
आज गरजा है भयानक नाश भीषण विकट स्वर में।

नाश की चिन्ता किसे है,
यदि बढ़ें जन रंच आगे ?
प्रलय की चिन्ता, कहो, क्या,
यदि उसी से सृजन जागे
किन्तु क्या कुछ बढ़ सकेंगे
हम द्विपद मानव अभागे ?
प्रगति-रथ की बाग होगी क्या किसी के कुशल कर में ?
आज तो यह नाश भीषण गरजता है विकट स्वर में।

ज्वाल में सुस्नात है यह,
अग्नि - पारावार है यह !
सुकृत का, औ' विकृत का,
सत् - असत् का संहार है यह !
हो रहा क्या जग-जनों का
उपनयन - संस्कार है यह ?
द्विज बनाने की क्रिया क्या हो रही है इस अमर में ?
अन्यथा, क्यों आज गरजा नाश भीषण, विकट स्वर में ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१५ जुलाई, १९४३

■

दग्ध हो रहे हैं मेरे जन

हाय ! इन्हीं आँखों से देखे
ज्वाला में लिपटे मानव-तन
होते भस्मीभूत विलोके
मैंने अपने ही सब जन - गण ।

आज चतुर्दिक् धधक रही है
अति विकराल भूख की होली,
और बनी जन - गण की आँखें
फैली, फटी भीख की झोली !

देखो, छाती पर पत्थर रख,
वह समूह नर - कंकालों का ।
देखो, झुण्ड आ रहा है वह
भूखे, नंगे कंगालों का !

यूँ तो वह आ नहीं रहा है,
वह तो रंच लड़खड़ाता है,
सामाजिकता के पिंजड़े में
पंछी तनिक फड़फड़ाता है !

आज सुन रहा हूँ मैं भीषण
प्राण-हरण का घण्टा घन-घन !
देख रहा हूँ त्रिकट भूख की
ज्वाला में लिपटे मानव-तन !

सड़े भात के लिए श्वान को
औ' मानव को लड़ते देखा,
पति - पत्नी को इक रोटी के
हेतु नितान्त झगड़ते देखा;

मानव ने कुत्ते को मारा;
कुत्ते ने मानव को काटा;
पत्नी ने पति को नोंचा औ'
पति ने एक जमाया चाँटा !

मैंने भूखे शिशु को भूखी
माँ के स्तन चिचोड़ते देखा,
मैंने भूखे शिशु की भूखी
माँ को प्राण तोड़ते देखा !

सुन लो उस शव की छाती से
चिपटे भूखे शिशु का क्रन्दन !
देखो, विकट भूख - ज्वाला में
दग्ध हो रहे हैं मानव - तन !

देखो, भूख-भरी वे आँखें,
देखो प्यास - भरे वे लोचन,
साँस - भरे, उच्छ्वास भरे वे,
दुस्सह त्रास भरे वे लोचन !

याचनार्थ फैली वह हड्डी,
देखो, इसे हाथ कहते हैं !
पथ पर रख के ढेर निहारो,
इसको न्धु - घात हैं कहते हैं !

हम, जो हैं भर - पेट खा रहे,
अरे वही उत्तरदायी हैं;
हम जो मौज कर रहे हैं नित
वे ही तो शोणित - पायी हैं !
हमी पातकी हैं कि आज यों
तिल-तिल कर मरते हैं निज जन;
हमीं पातकी हैं कि भूख की
ज्वाला में जलते हैं जन-गण !

हम पत्थर हैं, या कायर हैं
जो यह सर्वनाश लखकर भी—
रच न सके नव सामाजिक क्रम,
ये इतने कटु फल चखकर भी !
क्या यह बात असम्भव थी कुछ
कि सब सूत्र अपने कर होते ?
अपना घर अपना ही होता
यदि हम कुछ कम कायर होते !
तब देखते कि क्षुधा-सिंहनी
इस घर में कैसे मँडराती ?
तब यह शस्य-श्यामला पृथिवी
कंचन क्यों न उगलती जाती ?
किसे दोष दें ? हाय ! बने हैं
चिर अभिशाप-ग्रस्त अपने मन !
इसी लिए, इस भूख - चिता में
दग्ध हो रहें हैं निज जन-गण !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३१ अगस्त, १९४३

■

स्मरण दीप

विप्रलम्भ शृंगार के सर्वतोमुखी चित्रों
का अंकन

पधारो अमराई में आज

पधारो, बैठ रहो इस अमराई की सघन कुंज में आज,
मेरी अमराई में आज !
यहाँ आने में लगती है निदाघ की दोपहरी को लाज,
दहकती दोपहरी को लाज !

लू चलती है हहर-हहर कर,
आग बरसती है पृथिवी पर,
जल रहे हैं पल-क्षण, तुम यहाँ बिता लो कुछ घड़ियाँ बिन काज;
पधारो, बैठ रहो इस अमराई की सघन कुंज में आज !

अति सूनी है यह अमराई,
यहाँ अमित नीरवता छाई,
कि केवल कोयल गाती है पंचम में अपने स्वर को साज;
सुघड़, इस समय पधारो गज-गति से तुम अमराई में आज !

देखो अमियाँ गदरायी हैं
मन में सिहरन उठ आयी है,
गुदगुदी अन्तर की कहती है तुमसे : आओ, हे रस-राज !
पधारो सहज, सलज मुसकाते मेरी अमराई में आज !

५ विण्डसर प्लेस, नयी दिल्ली
१७ मई, १९५४

मेरे स्मरण - दीप की बाती

तुम बिन तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती,
देखो तो अब धार बनी है मेरी दृग् - बूँदों की पाँती ।

इधर स्नेह - निधि ने जल-धारें बन कर बहने की हठ ठानी,
उधर जगा दी है तव रति ने स्मरण - दीप - वर्तिका पुरानी;
मेरा स्नेह तैल बन जलता, औ,' बहता बन पानी - पानी,
यों नित शतधा क्षय होकर भी बढ़ी सनेह - तैल की बाती !
तुम बिन तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण - दीप की बाती !

सघन मोह-तिमिरावृत, विस्तृत, निपट शून्य है जीवन-पथ मम
आज बनी उसकी पगडण्डी व्यथा - शूल - संकुल अति दुर्गम;
अतिशय सूना अति एकाकी है मेरी यात्रा का यह क्रम,
तिस पर मुझे मिली सम्बल में यह लप - झप बाती अकुलाती !
कैसे पन्थ क्रमित होगा यह, जब कि बने मेरे दिन राती ?

तुम जा बैठे ज्योति - महल में दीप टिमटिमाता - सा देकर,
तम-भंजन न कर सकूँगा, पिय, केवल लघु-स्मृति-दीपक लेकर;
अन्धकार है तुम बिन मन में, तुम बिन लकुटि-शून्य मेरे कर;
तमा हुई है और घनी, प्रिय, लख लघु दीप - शिखा बलखाती,
तुम बिन तिल - तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती ।

बन कर हूक अचूक रमे हो, प्रियतम, तुम मेरे जीवन में,
ना जाने किस दूर देश से, झाँकी हो मन - वातायन में !
ओ मेरे निर्मोही, आओ मेरे इस सूने सावन में,
भूल गये क्या ? नभ - धाराएँ तुम बिन मुझको नहीं सुहातीं,
अह्-निशि तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती ।

तुम क्या गये कि इस जीवन की सत्य प्रेरणा लुप्त हुई है,
तुम क्या गये कि इस जीवन की मधुर भावना सुप्त हुई है;
तुम क्या गये कि मेरी कविता आज बन गयी छुई - मुई है,
तुम क्या गये कि इस जीवन में रहा न कोई सहज सँगाती,
तुम बिन तिल-तिल कर जलती है, मेरे स्मरण-दीप की बाती !

अपनी पत्थर की आँखों से मैंने सब कुछ देखा है, प्रिय,
महाप्रयाण - यान पर उन्मन तुमको चढ़ते पेखा है, प्रिय,
हैं कितनी कठोर ये आँखें इसका क्या कुछ लेखा है, प्रिय ?
तुम्हें अग्नि - अर्पण करके भी फटी नहीं यह निष्ठुर छाती ।
तुम बिन तिल - तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
११ जुलाई, १९४६

घन-गर्जन-क्षण

और नहीं यदि कुछ दे सकते इस घन-गर्जन के क्षण में
तो विस्मरण-हलाहल ही दो इस माटी के भाजन में;

सुन लो, घन तर्जन करते हैं,
अम्बर से रस-कण झरते हैं,
साजन, आज अऋतु के घन भी
हिय में स्मर-फुहियाँ भरते हैं;

दो, मीराँ का विष-प्याला ही इस असमय के सावन में,—
यदि कुछ और नहीं दे सकते तुम घन-गर्जन के क्षण में।

कुलिश-कड़ाके से नभ भरती दामिनि पैठ गयी मन में,
रोम-रोम रम रही बीजुरी; टीस उठी है सब तन में,

अम्बर में छाया अँधियारा,
अन्तर का स्मृति-दीप बिचारा,—
चिन्ता-वात-प्रताड़ित, इंगित,—
लप-झप करता है हिय हारा।

आकर इसे बुझा ही दो; अब छाये तम हिय-आँगन में
क्यों बिन काज टिमटिमाये यह, इस घन-गर्जन के क्षण में।

अमर मनोरथ तब सिहरे, जब घहरे घन गगनांगन में;
नाच उठे कल्पना मोर भी मेरे सूने निर्जन में;

घन-विमान पर चढ़-चढ़ आयीं—
मेरी संस्मृतियाँ दुखदायी;

ना जानें किस-किस गत युग को
सुध-बुध ये अपने सँग लायीं ?
अब तो मम निस्तार निहित है केवल आत्म-विसर्जन में,
प्रिय, दे दो अब अमित हलाहल इस माटी के भाजन में !

सोचा था : अमृतत्व हँसेगा मेरी रज के कण-कण में;
समझा था : रस - रास रचेगा मम सूने वृन्दावन में,
पर, तुम बोले कहाँ अमीरस ?
तेरा भाग्य सदा का नीरस !
घन गरजें या फुहियाँ बरसें;
तेरा नहीं चलेगा कुछ बस !
सच कहते हो, सजन, रिक्तता ही है मेरे भाजन में
तुम क्यों देने लगे अमीरस इस घन-गर्जन के क्षण में ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
९ अप्रैल, १९४३

■

विहँस उठो प्रियतम तुम

मेरे सन्ध्या नभ में विहँस उठो, प्रियतम, तुम;
अमिता स्मिति छिटका दो, मेरे निगमागम, तुम !

शान्त हुई दिन की वह सनन-सनन शीत पवन,
घुमड़ रहे हिय-नभ में मम संचित मौन स्तवन;
नूपुर की रुन-झुन से भर दो मम-शून्य-श्रवण,
आओ, इस सन्ध्या में पग धरते थम-थम तुम,
मेरे इस तम-पथ में विहँस उठो प्रियतम, तुम !

आकर इस सन्ध्या को कर दो सिन्दूर - दान,
मम अंचल - ओट दीप बन विहँसो, अहो प्राण,
ग्रहण करो आकर मम सन्ध्या - वन्दन, सुजान,
हरण करो युग-युग का मेरा यह हिय-तम तुम;
मेरे सन्ध्या-पथ में विहँस उठो, प्रियतम तुम !

दिन तो छोटा निकला, बीत गया वह यों ही,
वह कैसे बीता ? बस, बीता है ज्यों-त्यों ही;
पर अब कुछ चेत हुआ, सन्ध्या आयी ज्यों ही,
करोगे न निशि-निबाह क्या मेरे सक्षम, तुम ?
आओ इस सन्ध्या में मुसकाते, प्रियतम, तुम !

देखो, वह एकाकी सूना अश्वत्थ विटप —
शान्त हुआ, जो दिन में हहराता था कँप-कँप;
हूँ मैं भी वैसा ही जैसा वह जड़ पादप,
मुझे सुगति दान करो, ओ मेरे अनुपम, तुम;
अमिता स्मिति छिटकाओ, मम मग में, प्रियतम, तुम !

खग-कलरव निःस्वन है; नीरव है तरु मर्मर;
व्योम मौन; वायु शान्त; थकित सरित, सर, निर्झर;
बैठ चली गो-धूली; मूक हो रहे मम स्वर;
ऐसे क्षण मुरली में फूँको स्वर पंचम तुम;
मेरे नीरव हिय में स्वर भर दो, प्रियतम, तुम !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१८ नवम्बर, १९४३ रात्रि

■

फिर वही

एक सूनी-सी दिशा से सुन पड़ा कुछ ललित मृदु स्वर,
थी किसी की कण्ठ-ध्वनि वह, था किसी का गान मनहर !

कण्ठ स्वर के संग ही कुछ मींड़-मय झंकार आयी,
गान गंगा में मुदित मन वीण-यमुना धार धायी
कुछ सुपरिचित - सा लगा वह कण्ठ गायन-भारवाही,
थी किसी कर की सुपरिचित अँगुलियों में वीण थर-थर !
सुन पड़ा कुछ हिय-हरण स्वर !

मुड़ गयी ग्रीवा उधर को, खिंच गये लोचन बिचारे,
किन्तु उस सूनी दिशा को देख हारे दृग हमारे;
विफल अन्वेषण - उदधि में तैर उट्ठे नयन-तारे;
शून्य में दृग - किरण बिखरी झर उठे अरमान झर-झर !
सुन पड़ा जब हिय - हरण स्वर !

ओ अनिश्चित-सी दिशा से उद्‌गता तू गान-धारा, --
क्यों समायी है श्रवण में ? विकल है यह हिय बिचारा;
सुरत-स्मृतियों का जगा यह आज फिर संसार सारा;
देखना, क्या बीतती है अब हमारे प्राण, मन, पर;
सुन पड़ा है जब मृदुल स्वर !

हम कभी का ले चुके थे छन्द-स्वर-संन्यास मन में,
हम विरागी बन चुके थे, मल चुके थे भस्म तन में;
किन्तु गायन - धार, तू ने धो दिया वैराग्य क्षण में;
हो गये फिर से वही हम एक मजनूँ घूम - फिरकर;
सुन पड़ा जब हिय - हरण स्वर !

■

प्रिय, लो, डूब चुका है सूरज !

प्रिय, लो, डूब चुका है सूरज, न जाने कब का !
वचन तुम्हारा भंग हुआ है, न जाने कब का !

सान्ध्य-मिलन के आश्वासन पर काटीं, घड़ियाँ दिन की,
बड़े चाव से हमने जोही बाट साँझ के दिन की।
दिन की मेघ-विलास-वेदना, किसी तरह सह डाली,
इसी भरोसे कि तुम साँझ को आओगे वनमाली।
सन्ध्या हुई, अँधेरा गहरा हुआ, मेघ मँडराये,
गहन तमिस्रा ने आकर झींगुर-नूपुर झनकाये।
अब भी आ जाओ, देखो तो, कितनी सुन्दर वेला,
अन्धकार लोकोपचार को, ढाँक चला अलबेला।
पथ पंकिल है, किन्तु शून्य है, नहीं जगज्जन मेला,
अँधियाले में खड़ा हुआ है; मम मन-सदन अकेला।

ऐसे समय पधारो साजन, छोड़ भरम सब का !
देखो डूब चुका है सूरज, न जाने कब का !

शून्य भवन में सजग सँजोयी, मैंने दीपक बाती,
इधर मेघमाला ने ढँक ली है अम्बर की छाती।
लुप्त हो गयीं अन्धकार में, नभ की दीपावलियाँ,
निबिड़ तिमिर में पड़ी हुई हैं, जग-मग की गलियाँ।
किन्तु तुम्हें संकेत-दान-हित, मेरा घर जगमग है,
आओगे तो तुम देखोगे, प्रहरी यहाँ सजग है।
क्यों न आज तुम लिये लकुटिया, कीच गूँथने आओ,
क्यों न चरण-प्रक्षालन हित मम दृग-झारी ढुलकाओ।

पन्थ पंक मय सही, किन्तु मत आने में अलसाओ,
ज़रा देर को तो आकर, मम शून्य सदन हुलसाओ।
यदि आ जाओ तो मिट जाये, खटका अब - तब का !
प्रिय, लो डूब चुका है सूरज, न जाने कब का !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२९ जून, १९३९

■

ओ मेरे मधुराधर

चिटकीं ये बेले की कलियाँ, ओ मधुराधर,
छिटकी हो मानो तव मन्द-मन्द स्मिति मनहर।

मुकुलित हो गया अमित जीवन-उल्लास-हास,
वृन्तों पर थिरक उठा, नव चेतन का विलास;
पाँखुरियों में स्पन्दित नवल जागरण-विकास,
अलिगण की गुन-गुन में गूँजे हैं नव-नव स्वर;
ओ मेरे मध र।

सर-सर-सर-सर करता नाच उठा मधु समीर,
फर-फर-फर-फर करती आयी है विहग-भीर
जीवन का जय-निनाद उमड़ा है गगन चीर,
लहर उठी नभ-सर में बाल अरुण-किरण-लहर;
ओ मेरे मधुराधर।

जग में है ज्योति-हास, जड़ में चेतन-प्रकाश,
तृण-तृण में सुरस-रास, चिन्मय है महाकाश;
तव हिय क्यों हो उदास ? मानव क्यों हो निराश ?
उपल-हृदय में भी तो लहर रहा है निर्झर,
ओ मेरे मधुराधर।

निरख-निरख कलियों की मादक मुसकान अमल —
बलि जाऊँ ! आयी है तव स्मिति की स्मृति विह्वल !
मन मन-सर में विकसित हैं तव युग नयन-कमल,
परिमल मिस आयी तव तन-सुवास सिहर-सिहर !
ओ मेरे मधुराधर।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१ मई, १९४४

■

उमँगे सावन के धाराधर

रिमझिम-रिमझिम, झरर-झरर-झर
उमँगे सावन के धराधर

ये घन, श्याम, श्वेत, धूमिल-से,
ज्योति किरण-बिम्बित झिल-मिल-से,
नवरस पीन, अदीन, गगनचर,
उमँगे सावन के धाराधर !

हिय में सौदामिनी दुराये
लरज-गरजते ये घिर आये,
कम्पित करते थल-थल थर-थर
उमँगे सावन के धाराधर !

अठखेलियाँ गगन में करते,
प्रतिपल नव आकृतियाँ धरते,
ये बिगड़े, क्षण-क्षण बन-बनकर,
उमँगे सावन के धाराधर !

नीर भरे ये, आग भरे ये,
हिये बिज्जु-अनुराग भरे ये,
ये शिव-शंकर, ये प्रलयंकर,
उमँगे सावन के धाराधर !

द्रुम-शाखाओं पर, पर्णों पर,
गिरि-शृंगों पर, गिरि-चरणों पर,
ढरकाते निज जीवन-निर्झर,
उमँगे सावन के धाराधर !

उमड़ चलीं नदियाँ आतुर-सी,
हरी हुई मेदिनी निठुर-सी;
जड़ में लहरा जीवन [illegible]-हर,
उमँगे सावन के धारा[illegible]र !

भोर लगी नभ के आँगन में,
पीर जगी मेरे तन-मन में,
बही बयार-उसाँस हहर-हर;
उमँगे सावन के धाराधर !

मेरे प्रिय, मेरे मन-भावन,
तुम बिन है सूना यह सावन,
सूनी निशा, शून्य मम वासर,
उमँगे सावन के धाराधर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
६ अगस्त, १९४४

■

केन्द्र-बिन्दु

मेरी मनुहार, मेरा प्यार, मेरी नेह-रार,
मेरे ये स्वर-सिंगार, मेरे स्वप्निल विचार
सब के तुम्हीं हो केन्द्र; तुम तक ही जाती है
उठ-उठकर मेरी गीतावलि की पुकार;
मेरे नयनाभिराम, मेरी दृग-पूतरी में
रहती है अंकित तुम्हारी झाँकी छविसार;
गुंजन किया ही करते हैं मम श्रवणों में
तव मंजु अंगुलि-झंकृत मेरे तार-तार।

सिहरे तुम्हारे गात, मेरी स्मृति में सुजान,
आकर यों कहती है रस-भीनी-सी बयार;
कंज-लोचनों में छाये आँसुओं के मुक्ता-कण,
यों कहते हैं ये सब ओस-बिन्दु बार-बार;
अम्बर से कहते हैं गरज घनेरे घन,
हुआ है असह्य, तुम्हें अमित विछोह-भार;
मेरे हिय में है आज कितनी घनी-सी पीड़ा,
इसको क्या जाने मेरा यह अज्ञ कारागार !

फिर भी कभी तो यह बरखा पधारेगी औ'
फिर भी कभी तो होगी षड् ऋतुओं की रार,
कभी तो विछोह का निशान्त यह होगा, प्राण,
कभी तो अवश्य होगा इस तम का संहार;
कम्पित करों से तव तुम्हारी बलायें लेंगी,
तव छवि-रत यह मेरी हिय-मनुहार;
उस दिन आरती उतारेगा तुम्हारी, प्रिय,
ध्यान-मग्न, चरण-स्मरण-लग्न मेरा प्यार !

आज तो सँदेसा लेके आया है कठोर कर्म,
कहता है, तोड़ो निज वीणा, अहो वीण-कार!
मत हो, प्रमादी, मत बनो आज रसवादी,
बनो जन-गण-वादी, अविवादी अविकार !
जीवन की संगिनियाँ रंग-रेलियाँ है, किन्तु,
आज ऐतिहासिकता आयी है तुम्हारे द्वार;
विप्लवी क्षणों में, बन्धु, कैसी यह हिय-हार ?
कैसी मनुहार ? कैसी स्नेह-रार ? क्या दुलार ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२४ अगस्त, १९४४

क्या बतलायें रोने वाले ?

क्यों ढरके हैं दृग से जल-कण, बतलाओ, ओ रोने वाले ?
किसकी सुध आयी है, बोलो, ओ निज वदन भिगोने वाले ?
क्या बतलायें अपने हिय की, तुमको, अजी पूछने वाले ?
कैसे दिखलायें हम तुमको अपने अन्तस्तल के छाले ?
दृग में अनी सतत यदि खटके, तो न बहें क्यों नयन-पनाले ?
परिभाषा क्या दे निज दुख की अपना सब कुछ खोने वाले ?
क्यों ढरके हैं दृग से जल-कण, क्या बतलायें रोने वाले ?

वे कुंजें, जिनके किसलय-दल धीरे-से सर-सर करते थे,
कुछ रहस्य-रस की बातों से निभृत वीथियों को भरते थे;
वे कुंजें, जिनमें अलसाये सुमन विहँसकर नित झरते थे;
उन सबके संस्मरण, अतिथि बन, आये हैं बिन बोले-चाले
लोचन-कण क्यों ढरक रहे हैं, क्या बतलायें रोने वाले ?

जिन कुंजों की घन छाया में छुप रहती थी प्रखर दुपहरी,
जहाँ झुरमुटों में रहती थी मीलित-नयना निद्रा गहरी,
जिनके नभ में बहती थी नित प्रेम-गगन-गंगा की लहरी
गत की इन मादक स्मृतियों को कोई, कैसे, कहो, सँभाले ?
क्यों ढरके हैं दृग से जल-कण, क्या बतलायें रोने वाले ?

उन्हीं सघन कुंजों में हमको प्रियतम ने रसदान दिया था,
उन्हीं सघन कुंजों में उनने हमको अपना मान लिया था,
अब वे ही उजड़ी हैं, जिनमें हमने मधुरस पान किया था,
किमि रोकैं ? आ ही जाती हैं स्मृतियाँ अँधियाले-उजियाले !
लोचन-कण क्यों ढरक रहे हैं, क्या बतलायें रोने वाले !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
११ जून, १९४४

■

स्मरण-विहंगम

मेरी स्मृति के वातायन की धूल-भरी, धूमिल दिहली पर, —
आकुल - से औचक बैठे हैं कई स्मरण के खग-गण आकर;
विस्मृति के किंवाड़-मम स्मृति के वातायन में लगे हुए हैं;
की थीं बन्द खिड़कियाँ मैंने निज स्मर-विहगों से अकुलाकर !

किन्तु चोंच खटखटा रहे हैं खिड़की पर ये पंछी पाहुन,
और, कर उठा है धीरे-से यह मेरा मन गुन-गुन-गुन-गुन
अब तो अवश खुल रही है यह स्मृति की खिड़की धीरे-धीरे;
और दिखाई दिया दूर पर विस्मृत नभ-मण्डल करुणारुण !

स्वागत करूँ, कहो, किन-किन का ? इतने अतिथि स्मरण-द्विज आये
अपने कलख में ना जाने कितना विगत काल भर लाये;
है अटपटा मनुज-जीवन, जो है नूतन भी, किन्तु पुरातन;
लहर रहे हैं मेरे सम्मुख सभी सूत्र उलझे-उलझाये।

है अनुताप-वेदना मन में; निष्फलता की व्यथा भरी है;
विगत काल-नभ से अपूर्ति की सुधि धीरे-धीरे उतरी है;
देख रहा हूँ मैं खिड़की से निज जीवन की सूनी अटवी,
जिसकी पगडण्डी पर मेरी गत पग-रेखाएँ उभरी हैं !

संयत कर्मठता का मन में अति अभाव यह खटक रहा है;
खोये हुए अवसरों में यह मन अब फिर से भटक रहा है;
हहर रहा है चहुँ दिशि सन्तत चिर अतृप्ति का गहर महार्णव,
निबल प्रयत्न - तीर पर बैठा अपना मस्तक पटक रहा है !

स्मृति-नभ में झिलमिला उठीं गत आशाओं की तारावलियाँ,
श्वेत-कृष्ण-धूमिल किरणों से हुईं झुटपुटी जीवन - गलियाँ;
कुछ मादक, मनहर परिमल - सा आन लगा नासा में; मानो —
महकी हों रजनीगन्धा की बरसों की मुरझायी कलियाँ !

मैं क्या कहूँ कि जन-मन क्या है ? वह बन्दर है ? या कि मदारी ?
लिये डुगडुगी नचा रहा है वह निज को ही बारी - बारी;
वह अपने ही आप बना है बन्दर और कलन्दर दोनों;
भरी अनेक अचरजों से है उसकी अपनी स्मरण - पिटारी ?

अपनी क्या, अन्यों की सुधि भी व्याकुल कर देती है तन-मन;
वे सब अपने मीत अनेकों, — जिनको निगल गये हैं गत क्षण
बन आये हैं स्मरण रूप ! वे जीवन बना गये हैं सूना;
संस्मरणों में आ - आकर वे और बढ़ाते हैं सूनापन !

सोच रहा हूँ : कैसा होता यदि संग होते सब साथी गत ?
सोच रहा हूँ : क्यों न हुआ मैं धीर चरण, कर्मठ, नित संयत ?
मुझे बावला कर देती है मेरे स्मरणों की यह उलझन !
और, शोक से भर जाता है मेरा मानस विगत स्मरण - रत !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
९ मई, १९४४,

■

ज्वाल-पौन-हाहाकार

मरुस्थल का कराल ज्वाल-पौन-हाहाकार
मँडराया करता है हिय के अम्बर में;
प्राणों की पहेली कैसे बूझूँ, कहो, प्राण ? जब
ज्वालाएँ लगी हैं मेरे सारे तन-भर में !
लगता है मानो भस्मीभूत होगा मेरा विश्व
धधक-धधककर एक क्षण-भर में;
परिवर्तित होगा क्या मेरा कल्पना का जग,
राख के बुझे-से एक लघु कण-भर में ?

नैनों को उठाके मैंने गगन विलोका और
दृष्टि दौड़ा डाली मैंने सब चराचर में,
रुद्रताप का अमाप शाप मिला मुझे और,
अग्नि तप्त धूलि मिली डगर-डगर में;
वीचि का विलास कैसा ? कहाँ का तरंग-रास ?
भरी है आकण्ठ आग मेरे मन-सर में !
मेरी दसों अँगुलियाँ बनी हैं लुकाठी और,
ज्वलित हुई हैं मेरे दोनों दग्ध कर में !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३ मई, १९४४

■

द्विधा लोप

प्रकटी हैं शत-शत आशाएँ मेरे एक - एक स्पन्दन में,
तड़पीं शत-शत अभिलाषाएँ हिय के एक-एक कम्पन में;
धूलि-धूसरित मुझे देखकर जग कहता है मुझे विरागी,
किन्तु अमित अनुराग भरा है मेरे शोणित के कण-कण में !

बोलो कब नीरसता आयी, मेरे रसमय अभिव्यंजन में ?
अति विराग भी हुआ रसीला बँधकर मेरे रस-बन्धन में !
ऊपर से सूखा-सूखा हूँ; पर, अन्तर में है रस-धारा;
नहीं हुआ प्राचीन अभी, हूँ नित्य नवीन रसिक - रंजन में !

मुझको लखकर निपट अकेला मत समझो मैं हूँ एकांकी,
मेरे हिये विराज रही है मेरे पीतम की छवि बाँकी !
तुम मत हठ ठानो, ओ जग-जन, मम पिय के दर्शन करने का
कहता हूँ : बौरा जाओगे जब निरखोगे उनकी झाँकी !

मैं हूँ दो, पर, ऐसा दो हूँ जो कि एक से भिन्न नहीं है;
मेरे इस सिद्धान्त-कथन में गणित-शास्त्र का चिह्न नहीं है !
एक-एक का योग गणित में हो जाता है दुविधा वाला,
पर मेरे इस सरस योग में क्या दुविधा का नाम कहीं है ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२ मई, १९४४

■

यात्रा पथे

यदि तुम कभी करो यात्रा में अनुभव रंच थकान,
तो, तुम अपने अनुगामी पर टिक रहना, हे प्राण;
यही साध है मेरी, मुझको और नहीं कुछ चाह,
बस, मेरा सेवक के नाते, करो निबाह, सुजान !

तव नूपुर, किंकिणि - सिंजन सम हैं मम अर्पण - गान,
है गुंजरित तुम्हारे मग में जिनकी सकरुण तान;
ये तव अनुचर गीत, बने हैं पन्थ पुरःसर आज,
बिखराते जाते हैं पथ में स्वर - प्रसून स्मयमान !

कितनी लम्बी यात्रा होगी मुझे न इसका भान,
मुझको तो रखना है सन्तत तव सुविधा का ध्यान;
पथ के कण्टक चुनते रहना, है यह मेरा कार्य,
और चापना चरण तुम्हारे जब हो दिन अवसान !

मुझे नहीं है तव सह - यात्री होने का अभिमान,
मैंने तो पाया है अनुचर होने का वरदान;
मिले तुम्हें कोई संगी, तो कर लेना स्वीकार,
मैं तो सतत रहूँगा ही तव अनुचर, हे रसखान !

कभी - कभी पीछे मुड़कर तुम छिटकाना मुसकान,
इतने ही से चमक उठेगा मम जीवन सुन - सान !
यदि ऐसा हो, कि मैं पन्थ में लुढ़क पड़ूँ निष्प्राण,
तो तुम यह अकुलाना, लख यों, मेरा अन्त - निदान !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ अप्रैल, १९४४

■

तुम मेरी आँखों की पुतली

तुम मेरी आँखों की पुतली,
तुम मेरे हिय का चिर कम्पन;
मम चेतनता का तुम स्पन्दन
तुम इन प्राणों का मदिर व्यजन;

तुम मम जीवन की अमर साध,
मेरे सपनों का मूर्त रूप,
मम आराधना - केन्द्र तुम हो,
तुम मेरी ममता चिर अनूप;

तुम अपरिमेय, तुम अनुपमेय,
तुम मम निशि के शशि भासमान,
तुम मम ऊषा की अरुण छटा,
मेरे विहान की मधुर तान !

मेरे वियोग की वह निशीथ,
जिसका अम्बर था अनवलम्ब,
जिसमें लहराया तिमिर रूप–
घन विप्रलम्भ का उपालम्भ;

शशि किरणों से, तारागण से,
था शून्य गगन मेरा नितान्त,
कब सोचा था कि कभी होगा
मेरे विछोह का भी निशान्त ?

नभ में ऊषा मुसकायेगी,
छिटकेगा जीवन में विहान,
कब सोचा था, तुम गाओगे–
इस नवल मिलन के मदिर गान ?

तुम आये हँस - मुसकाते - से,
मेरे रहस्य, मेरे उदार,
हरते अपने पद - जावक - से
मेरी निशि का घन अन्धकार;

मेरी प्राची हुलसी - विलसी,
मेरे अन्तर में उठा ज्वार,
आँसुओं और अरमानों में
मच गयी रार, बह चली धार;

मेरे जीवन का वह निशान्त,
भर गया हृदय में इक उफ़ान;
आकण्ठ भरा है कलश आज,
हे मेरे प्रियतम सुरसखान !

मेरी पूजा के भाव-विहग
गा उठे ललित स्वागत-गायन,
जब मधुर-मधुर, धीमे-धीमे,
तुम आये मनहर, करुणायन;

गूँजी विभास की स्वर लहरी
चरणाभरणों की रुन-झुन से,
मम मन-गगनांगन मगन हुआ
स-रे-ग-म-प-ध-नि-स की गुनगुन से;

तव चरणार्पण हो गये गान,
तव चरणार्पण हो गये प्राण,
तव चरणार्पण मम निरत ध्यान,
चरणार्पण मेरा दिवस-मान ।

खिल उठा आज मेरा शतदल,
उन्मुक्त हुए मेरे अलिगण,
लहराया मधुर-मधुर परिमल,
गुन-गुन-गुन-गुन गूँजा गुंजन;

पद नख का कोमल किरण-जाल
छाया मेरे गगनांगन में;
वे ललित-ललित-लघु-लाल-लाल
पद-चिह्न अँके मम प्रांगण में,

मम नयन, उनींदे, नमित, अरुण,
विस्फारित ही रह गये, प्राण,
वे निर्निमेष, वे करुण-करुण,
जिनमें छाये तुम, हे सुजान।

क्या कहूँ कि मैं क्या हुआ आज?
कृतकृत्य कहूँ? चिर धन्य कहूँ?
जब तुम आये, मम हृदय राज,
तव निज को क्यों न अनन्य कहूँ?

मेरे सुहाग का सूर्य उदित,
छायी सिंदूर की यह लाली,
मेरे सनेह का शशि, प्रमुदित,
मेरी निशि-दिशि-दिशि उजियाली;

मेरे चन्दा, मेरे सूरज,
यों ही चमका करना निशि-दिन,
मेरे रहस्य, मेरे अचरज,
जीवन होगा दूभर तुम बिन!

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
१२ सितम्बर, १९४२

■

रोको, हे, रोको

रोको, हे, रोको, निज क्रोध-अनल एक याम,
दे दो कुछ देर, नैंक, अपने मन को विराम।

तुम तो हो नीलकण्ठ, विकट हलाहल-धारी;
तब क्या है यह वृश्चिक – दंशावलि बेचारी?
दुर्जन की बान नीच, यह उसकी लाचारी!
इससे तुम क्यों विचलित होते हो, हे अकाम?
रोको, हे, रोको, निज क्रोध-अनल एक याम!

उन्नत होकर बनते मनोवेग प्रबल शक्ति;
संयम ही से खिलती हिय की रागानुरक्ति;
तुम्हें नहीं देती है शोभा यह त्वेष-भक्ति;
तुमने तो रक्खा है अपना चिर धीर नाम,
रोको, हे, रोको, निज क्रोध-अनल एक याम।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३१ मार्च, १९४३

■

आकांक्षा का शव

मैं अपनी आकांक्षा का शव
कन्धे पर डाले घूम रहा,
मैं इस दिक्-काल हिंडोले में
ऊपर-नीचे झुक झूम रहा !
है नहीं शम्भु व्यामोह मुझे
मैं नहीं पिनाकी प्रलयंकर;
वे हैं अकाल, मैं कालबद्ध;
मैं मानव हूँ, वे शिवशंकर,
वे सती-देह ले घूमे थे,
मम काँधे आकांक्षा का शव !
मेरी, उनकी क्या समता हो ?
देवाधिदेव वे, मैं मानव !!

मैं बोला : अरी नियति तू दे
पूर्णता, या कि दे अंगारे;
अध-बिच में मानव को रखकर
तू पीस-पीसकर क्यों मारे ?
मैं हूँ मानवता का प्रतीक;
मेरी दुर्दशा निहार, अरी,
जीवन-नलिका है निरी रिक्त;
बाहर से लगती भरी-भरी
है नहीं स्कन्ध पर उत्तरीय,
लिपटा है शव आकांक्षा का;
मैं मानव विभ्रम डोल रहा,
लादे बोझा निज वांछा का;

मेरी असफल आकांक्षा यह
असमय मर गयी बिना बोले
पड़ गयौ गाँठ मेरे हिय में;
उसको कोई कैसे खोले ?
मैं रह - रह टेर लगाता हूँ :
शव जीवित कर दो, रे कोई !
मैं कहता फिरता हूँ : देखो,
देखो, मेरी सुषमा सोयी !
मैं अमिय खोजने निकला हूँ;
मैं नाप चुका जल, थल, अम्बर;
इक बिन्दु सुधा यदि मिल जाती
तो यह शव उठता सिहर-सिहर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ अगस्त, १९४३

■

अंगारों की झड़ियाँ

तुम मेरे लोचन - जल - कण में छलक रहे हो स्मरण बने,
झलक रहे हो हिय - दर्पण में तुम मेरे मन - हरण बने;
तुम मेरे शोणित नर्तन में थिरक रहे हो निशि - वासर,
अरे, तुम्हीं तो गूँज रहे हो मम गीतों के चरण बने !

तुम्हीं छा रहे हो, मेरे प्रिय, मेरे मानस - अम्बर में;
आये हो तुम मधुर राग बन मम वीणा के पंजर में
तव कोमल मंगल गायन से रंजित है मम गगनांगन
मुझको तुम्हीं बुला लाये हो अपने लग्न - स्वयंवर में !

सच मानो, क्षण - भर को भी तो तव विस्मरण असम्भव है !
जीवन-क्षण में तुम न रहो, प्रिय; बोलो, यह क्या सम्भव है ?
अहो, तुम्हीं ने आन बहाया मम मरुथल में रस - निर्झर,
जीवन में जो कुछ प्रसाद है, वह सब तव मधु - मार्दव है !

मेरे रस भीने मधुराधिप, मुसकाते आ जाओ तो !
मेरी इस सूनी कारा के आँगन में छा जाओ तो !
कठिन शृंखलाएँ गायेंगी झन - झन - झन स्वागत - गायन
एक बार सपने में ही तुम विहँस छटा दिखलाओ तो !

पर, अब नहीं गूँथने का मैं अपने आँसू की लड़ियाँ,
आज नहीं गाने का, मैं, प्रिय, करुण गीत की गत कड़ियाँ,
आज आग उगलेंगे मेरी इस झंकृत वीणा के स्वर !
मेरे नभ से ख़ूब लगेंगी अब अंगारों की झड़ियाँ !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१३ नवम्बर, १९४३, रात्रि

■

विस्मरण-खेल

तुम कहती हो कि मैं भुला दूँ वे प्यारे-प्यारे दो लोचन ?
वे लोचन जिनसे होता है मेरा जीवन-ग्रहण-विमोचन ?
तुम कहती हो कि मैं भुला दूँ उन भुज-लतिकाओं का कर्षण ?
जिनके स्पर्श-मात्र से मेरे रोम-रोम का होता हर्षण ?

मुझसे खेला नहीं जायगा यह विस्मरण-खेल, ओ मृदुले !
पर, न खलूँगा तुम्हें, समझ लो ओ निरुपमे, अरी मम अतुले !

मैं तुमसे कुछ नहीं माँगता, तुम मम आराधना भुला दो;
मेरी श्वासोच्छ्वास - उष्णता भरी हुई याचना भुला दो;
डाल विस्मरण के पलने में उस संस्मृति को रंच भुला दो;
विस्मृति के बिहाग के स्वर में लोरी गाकर उसे सुला दो;

क्षमा करो, यदि कभी जँचा हूँ मैं तुमको अल्पज्ञ भिखारी,
मैं याचक-सा दीख पड़ू हूँ, यद्यपि मैं दानी, व्रतधारी !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२९ अप्रैल, १९४८

■

ओ हिरनी की आँखों वाली !

उस दिन चला आ रहा था मैं, अपने ढोर लिये जंगल से,
डूब चला था सूरज, मुझको तपा-नचाकर अपने बल से;
उड़े जा रहे थे सब कौवे, तोते, करने रैन बसेरा
चह-चह करता चला जा रहा था इक दिशि चिड़ियों का घेरा;
आसमान में फैल चुकी थी सुघड़ साँझ-किरनों की लाली
उसी समय दिखलाई दी तू, ओ हिरनी की आँखों वाली ?

लट्ठ धरे अपने काँधेपर औ' हँकारता अपनी गायें,
बढ़ा आ रहा था, लेकिन तू देख रही थी ये लीलाएँ,
मैंने देखा, खड़ी मेंड़ पर, खुरपी लिये हाथ में, कोई, –
द्वापर की राधा रानी-सी, चितै रही है खोयी-खोयी;
देख रही थी क्या तू गायें, धौली, धूमर, काजर काली ?
या ग्वाले को देख रही थी, ओ हिरनी की आँखों वाली !

खुरपी हाथ, डहडहे लोचन, वह मटमैला चीर हरा-स
कुछ गम्भीर और कुछ चंचल, वह मुखमण्डल पीर भरा-स
यह कौमार्य – स्वरूप सलौना, आया आँखों के आगे जब
तब खिंचाव इक हुआ हृदय में औ' लोचन भर आये डब-ड
चित्र• जड़ गया हिय-चौखट में चित्राधार नहीं अब ख़ाली
समा गयी तू मन, प्राणों में, ओ हिरनी की आँखों वाली

दिन में गायों की कजरारी भोली आँखें देख-देख कर
याद कर लिया करता हूँ मैं, सुन्दर तेरी आँखें मनहर
तू जाती है खेत निराने, मैं जाता हूँ ढोर चराने,
दिन-भर गाया करता हूँ मैं तेरे ही गुन-गान-तराने;
देखा करता हूँ चिड़ियों की जोड़ी बैठी डाली-डाली,
पर, मैं तो हूँ निपट अकेला, ओ हिरनी की आँखों वाली !

बादल उमड़ें, बिजली तड़पे, घन-गरजन से जियरा लरजे,
घूरें लोग खाँस कर जब-तब, लोक-लाज भी रह-रह गरजे;
तू खेतों में, मैं जंगल में, फिर भी कैसा अजब तमाशा !
लोगों ने ना जाने कैसे पढ़ ली है नैनों की भाषा ?
तू ने छुपके देखा, मैंने भी निगाह चुपके-से डाली,
फिर भी फैल गयीं सब बातें, ओ हिरनी की आँखों वाली !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१८ अगस्त, १९४०

■

कितनी दूर पधारे हो

प्रियतम, तुम में पूर्ण हुई थी मेरी टोह उसाँस भरी;
किन्तु आज वह फिर उमड़ी है अति अकुलायी, प्यास - भरी;
ओ मेरे मधुमय रसदानी, आओ, मेरी टेर सुनो,
देखो, सूने में आयी है अमित वेदना त्रास - भरी !

यह कैसी है आँख - मिचौनी ? है यह कैसा खेल, कहो ?
कहाँ छिपे हो मेरे जीवन ? अजी, गये किस गैल, कहो ?
जाने को थे तो क्यों इतना नेह दिया इस याचक को ?
अब दृग-जल बन गया प्यार वह जो तुम गये उड़ेल, अहो ।

'कहाँ, कहाँ हो ? अहो, कहाँ हो ?'— ये मेरे स्वर अकुलाये,—
ये मेरे चीत्कार भरे स्वर, प्रियतम, क्या तुमको भाये ?
इसी लिए क्या मुझे बिलखता छोड़ गये हो, ओ पंछी ?
अरे गगन - वाणी में कह दो : मत बिलखो, लो, हम आये !

आज निरर्थक-सी लगती है मुझको मम जीवन - यात्रा,
और हुई है भारभूत-सी यह मेरी श्लथ तन - यात्रा,
क्यों न भेज दो उस दूती को, तुम हो जिसके संग गये ?
भेजो वही मरण - दूती जो लघु कर दे जीवन - यात्रा ।

तुम बिन इतनी गहन वेदना होगी, इसका भान न था,
मेरे पास व्यथा - गहराई - सूचक कोई मान न था,
तुम पकड़ाकर चिर बिछोह का मानदण्ड जब चले गये,—
तब वह बात हृदय ने जानी, जिसका मुझको ज्ञान न था ।

प्राण, आज फिर से आया है शाश्वत टोह - भार सिर पर,
और उमड़ आयी है करुणा दशो दिशाओं से घिर कर;
तुम समर्थ हो, यदि चाहो तो पर-पार कहानी को–
कह कानों में, कर सकते हो व्यथा दूर, ओ मम हिय-हर।

मैं तो आज करुण स्मृतियों का टीस भरा इक पुंज बना–
मोह - मुग्ध - सा विचर रहा हूँ, देख रहा हूँ तव सपना;
ओ तुम मेरे अन्तरवासी, कितनी दूर पधारे हो ?
थक जाओगे, लौटो, कोमल, मत छोड़ो यह गृह अपना !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
११ जून, १९४५

■

वे क्षण

तव मद अलसित-सी आँखों की स्मृति ही शेष रहेगी मन में
एक यही अवलम्ब रहेगा, प्रियतम, इस सूने जीवन में !
वे क्षण, जिनको छू पाता हूँ केवल स्मृतियों की पाँखों से;–
वे क्षण, जो कि हुए है ओझल, मेरी इन गीली आँखों से,–
वे क्षण, जिनमें अन्वेषण की पूर्ण इति-श्री अन्तर्हित थी,–
वे क्षण, जिनमें दरस-परस की उत्कण्ठा एकत्र अमित थी,–
वे क्षण, आज बने हैं केवल हर्षित रोम-रोम मम तन में,
वे क्षण, अब केवल रहते हैं इस जीवन के विगत स्मरण में !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१६ जनवरी, १९४२

■

हम परित्याग के आदी हैं

जिसको तन-मन से प्यार किया, जिसका दिन-रात दुलार किया,
जिस पर सर्वस्व निसार किया, जिस पर प्राणों को वार दिया,
जिसकी इक मादक चितवन में देखे लाखों सपने हमने,
जिसके चरणों में झुकने को सुध - बुध खोयी हिय - संयम ने,

जब अपना वही हृदय ईश्वर जीवन भर अपना रह न सका,
तब किससे नेह लगायें अब, जब प्राण पके औ' हृदय थका ?

हमने अपना मुरझाया-सा जो पुष्प पास था, चढ़ा दिया,
उनने कुछ सोच-विचार किया, वे झिझके, पर, फिर उठा लिया,
नत लोचन हमने विनती की : यह नीरस सुमन बिचारा है,
मुरझाया भी है, पर, मालिक, इसमें क्या दोष हमारा है ?

हम लिए अंजली में इसको थे ढूँढ़ रहे तुमको निशि - दिन,
बरसों पर बरसें बीत गयीं, दिन बीत गये अब तक तुम बिन !

नन्हा - सा यह सुकुमार कुसुम, नन्हीं - सी इसकी पंखड़ियाँ;
क्या बतलायें इसने अब तक देखीं कैसी - कैसी घड़ियाँ ?
कितनी बरसातें झेली हैं, इसने झेले कितने पतझर
कितनी गर्मी, कितनी सर्दी है बीत चुकी इसके हिय पर !

जब यह पहले ही पहल खिला उस दिन ही यदि तुम मिल जाते
तो इसे न यों कुम्हलाया - सा, यों मुरझाया - सा तुम पाते !

तुमने ध्यान स्थित-से होकर कर ली स्वीकृत वह भेंट दीन,
तुमने न ज़रा भी यह सोचा वह भी मुरझायी, गन्धहीन;
पर, इक दिन, जब कोई तुमको नूतन प्रसून देने आया,
तो तुम हमसे कह उठे : सुनो यह पुष्प हमारे मन भाया;

ले लो, मालिक, यह सद्य सुमन, तुम कुछ मत सोच विचार करो,
हम परित्याग के आदी हैं, तुम जिसको चाहो प्यार करो !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
९ मार्च, १९४२

■

लो, यह नाता टूट रहा है

लो, यह नाता टूट रहा है;
जिस पर हमको बहुत गर्व था, वह पीतम भी रूठ रहा है;
लो, यह नाता टूट रहा है।

ऐसा कुछ लगता है, मानो मन में एक अभाव हुआ है,
रस की जगह अरस जीवन में मानो विष का स्राव हुआ है;
हम अगुप्त हैं; पर हमसे भी मानो कपट दुराव हुआ है;
सतत उपेक्षा के दुरमुट से, कोई, हिय-कण कूट रहा है;
यह नाता भी टूट रहा है !

हम निज अभिशापों की गाथा कब तक 'न-इति, न-इति' कह गावें ?
हम अपने को निपट अभागे, असफल जन, कब तक कहलावें ?
आगे कभी मिलेंगे अपने ! यों कह कब तक मन बहलावें ?
अब तक तो सह लिया बहुत कुछ; पर, अब धीरज छूट रहा है !
जब यह नाता टूट रहा है ।

पर, क्यों छूटे अपना धीरज ? क्यों नैराश्य हृदय में छाये ?
सन्तत ही बनते रहते हैं अपने हिय - कण निपट पराये !
भूल हमारी ही है जो हम अस्थिरता पर रीझ लुभाये !
उन पुराण पुरुषों ने जग को चिर चंचल क्या झूठ कहा है !
लो, यह नाता टूट रहा है !

जग मुँह मोड़े, तो मुँह मोड़े ! क्या चिन्ता ? हम चिर एकाकी !
किन्तु प्रार्थना है ! न रंच भी टूटे धारा हिय-करुणा की !
जितनी लगे ठेस; उतनी ही हो निर्झरित चाह सेवा की !
हमें निहार कह उठें जग-जन : इनका नेह अटूट रहा है ।
यद्यपि नाता टूट रहा है !

आज पसार अधेड़ करों से अपने फटे वस्त्र का अंचल—
और उठा कर धीरे-धीरे व्यथा भार से दबे दृगंचल,—
भीख माँगते हैं हम : वर दो चिर करुणा का, अहो अचंचल
जग देखे कि आज सूखे में इक नव अंकुर फूट रहा है !
यद्यपि नाता टूट रहा हैं !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ अक्टूबर, १९४३, विजय दशमी

■

प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी

प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी,
ललक - ढुलूँगी श्री चरणों में निज तन-मन वारी-सी,
साजन, आज भरी झारी-सी !

अर्पित करने कंचन - काया,
मैं आयी हूँ लख तम-छाया,
प्राणार्पण में नहीं सुहाती,
जग उजियाले की वह माया,
आज अँधेरे में खिल डोली हिय कलिका न्यारी-सी,
प्रिय, मैं आज भरो झारी-सी !

यह तम का परदा रहने दो,
मेरा 'अहं' यहाँ बहने दो,
इस अँधियारे में ही मुझको,
आत्म-विसर्जन-सुख सहने दो,
ओ मेरे प्रकाश, आओ ओढ़े चादर कारी-सी,
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी !

मत पूछो मम ग्राम कहाँ है,
पता नहीं निज धाम कहाँ है,
अपनापन तो लुप्त हो रहा,
मेरा निज का नाम कहाँ है ?
अब तो तुम हो, और तमिस्रा है यह अँधियारी-सी,
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी !

चली आ रही हूँ ध्रुव-पग धर,
बरबस खिंचती-सी निज मग पर,
तारा चन्द्र रहित मम अम्बर,
दिशा-शून्य मम पन्थ विघ्न हर,
आज सभी दिक्शूल बने हैं सुमन कली प्यारी-सी,
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी !

तुम शायद सोचो हो मन में,
कौन बला आयी तम घन में,
क्यों यों सोचो हो तुम प्यारे,
हूक उठाकर इस जीवन में ?
मेरी और तुम्हारी तो है युग-युग की यारी-सी;
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी !

भूल गये क्या मुझको, साजन ?
मैं हूँ वे एकत्रित रज-कण –
जिनको तुमने स्वकर-परस से,
कभी किया था झन-झन उन्मन,
आज वही माटी की पुतली आयी हिय-हारी-सी;
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी !

चित्रकार श्री असितकुमार हालदार के आवास पर
१५ दिसम्बर, १९३८, रात्रि ८.३६

■

तुम हँसते-से प्राण

थोड़ी आँख लगी कि पधारे तुम हँसते-से प्राण,
औ' निहारने लगे बैठकर मुझको, तुम रसखान !
हुआ बावला-सा मन मेरा लख तुमको निकटस्थ,
किन्तु तुम्हें जो देखा तो तुम लगे शान्त औ' स्वस्थ;
मैं आकुल कह उठा कि मुझको कर लो अंगीकार,
पर, सपने में भी तुमने, बस, नाँहीं की, सुकुमार !

डोली मंजुल ग्रीवा; मुख से निकले 'ना-ना' शब्द,
सुन वह नहीं-नहीं मेरा हिय हुआ एक क्षण स्तब्ध;
फिर सोचा: प्रिय क्यों देते हैं मुझे निषेध-प्रसाद ?
क्या यों मुझे अतीन्द्रियता का देते हैं संवाद ?
यदि यह तव इच्छा है तो फिर यही सही, सरकार;
अच्छा है हलका हो जाये मेरा सेन्द्रिय भार !

पर, मैं हूँ पृथिवी का प्राणी, मैं धरती का पूत,
मेरा आराधन, पूजन तो है मृत्तिका-प्रसूत;
मेरा निपट मेदिनी-रिंगण, कैसे उड़े अकास ?
कैसे टूटें बन्धन ? कैसे हो मम नवल विकास ?
मैं थल चारी, कहो करूँ मैं कैसे गगन-विहार ?
तुम्हीं कहो, सेन्द्रियता कैसे त्यागूँ, प्राणाधार ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२३ अगस्त, १९४४

■

कौन-सा यह राग जागा ?

कौन-सी यह प्रीति जागी ? कौन-सा यह राग जागा ?
कौन-से ये स्मरण जागे ? कौन उलटा भाग जागा ?

कौन कहता है कि बाहर से लहर पै आ गये स्वर ?
करुण मेरे गीत ही हैं भर रहे पाताल अम्बर,
पर मुझे ये लग रहे हैं अजनबी-से किन्तु मनहर,
हाय, अपने को बिगाना कर रहा हूँ मैं अभागा,
कौन-सा यह राग जागा ?

हलचलों के बीच भी वाणी रहे मेरी अकम्पित, –
और विप्लव भी न कर पाये सुघड़मय गीत, खण्डित, –
साध भी यह, किन्तु देखा कण्ठ है आक्रोश-मण्डित,
और मैं बस रो रहा हूँ हिचकियों के राग गा गा,
कौन-सा यह राग जागा ?

■

आराईयाँ

देख हम रंग राग गाते हैं
औ, परेशानियाँ उठाते हैं,
रोज़ कहते हो : बस ज़रा ठहरते
हम अभी एक छिन में आते हैं।

कब से यह दीप टिमटिमाता है
क्या कभी ध्यान इसका आता है?
हुए चालीस बरस से ऊपर
तेल अब ख़त्म हुआ जाता है।

प्राण तड़पे कि वेदना जागी;
कैसे हो मन विशुद्ध वैरागी
रंगा मेज़ी का खेल जब हो तो
क्यों न सब सृष्टि बने अनुरागी?

हमने चाहा कि बाँध लें मन को;
तुमने सोचा कि मृत्तिका कन को—
इतनी जुरअत कि बनें स्पन्दन-हीन
और दे थाम इस रुधिर-रन को?

हमने कब गर्व किया संयम का?
जोग-वैराग का? नियम-यम का?
हम में यह ताब कहाँ है, पीतम,
जो कि हम दम भरें परिश्रम का?

आज भी हूक उठ ही आती है;
औ, तबीयत य' लुट ही जाती है;
कुछ हुए हैं अजीब वाक़ै नवीन
उनकी उम्मीद कब बर आती है?

लखनऊ प्रवासे
१५ अगस्त, १९३९

■

मृत्तिका की गुड़ियों के गीत

मैंने, हाय, गाये औ' सुनाये नव स्वर भर,
प्राण-मन-हर मृत्तिका की गुड़ियों के गीत,
ढरकाये उनके चरणों में अजस्र अश्रु,
समझा उन्हीं को मैंने एक निष्ठ निज मीत;

किन्तु विधि वाम बोले करके विद्रूप हास्य :
मेटोगे कैसे अपनी भाग्य-रेखा विपरीत?
हार है तुम्हारी चिर संगिनी, अरे नवनी,
कैसी मनुहार? कैसा प्यार? अरे, कैसी जीत?

जिनको दिया था मैंने स्नेहोदक अर्घ्य शुद्ध,
जिनको प्रदान किये मैंने निज भक्ति-फूल,
जिनमें डुलाता रहा प्राणों के चँवर सदा,
जिनके पगों के नित चुनता रहा मैं शूल,

जिनको उदास देख जग सुनसान लगा,
जिनको प्रसन्न देख सुध-बुध गया भूल,
आज देखता हूँ, वे ही हो रहे बिराने, अरे,
किसी भाग्यशाली के हुए हैं वे ही अनुकूल।

उनने कहा था : अजी बात कुछ यूँ ही-सी है,
किन्तु मैंने देखा वे हैं गहरे-से पानी में,
उनकी कृपा थी जो वे शान्ति मुझे देते रहे,
किन्तु फुसलाता कैसे मन अभिमानी मैं ?

तैल-मय हो गये कपोल के सभी ये तिल
पड़ कर वेदना की चूँ-चरर घानी में
लूटा था शायद मैंने उनका सरस नेह,
किन्तु कैसे करता ही रहता मनमानी मैं ?

आज पूछता हूँ : ओ जी अलख, बिराजे क्यों हो,
अमिट विधान के ये जीवन - वितान तान ?
चिर अनुराग का मुझे क्यों अभिशाप दिया ?
और, उनको क्यों दिया निपट विराग-दान ?

मुझको अनन्य स्नेह-भाव क्यों प्रदान किया ?
उनको बनाया क्यों यों चंचल चपल प्राण ?
तुम तो कहोगे, यह लीला है तुम्हारी, किन्तु,
लीला है नहीं, है यह तव प्राण-हर बान !

अब कहाँ जाऊँ ? कुछ तुम्हीं तो बता दो, अरे,
जाऊँ कहाँ अब इस तीसरे पहर में ?
ऐसा लगता है मानो जीवन कटा है यूँ ही
गलियों में, कूचों में औ' सँकरी डगर में !

यदि क्षण-भर कहीं रंच भी चरण रुके,
पगडण्डी बोल उठी कर्कश-से स्वर में !
रुकना मना है, तुझे, चलता जा रे नवीन,
आश्रय नहीं है तेरे लिए जग भर में !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
११ जनवरी, १९४२

■

कवि जी !

कवि जी, तुम क्यों गुमसुम हो ? क्या
मुरझी है तव हिय - कलिका ?
कवि जी बोले : आज हृदय में
जाग उठी है उत्कलिका !

क्या समझे ? उत्कलिका ! भाई,
हाँ उत्कलिका जागी है !!
औ' बिब्बोक भाव जागा है,
हृदय कुतुक - अनुरागी है !

हमसे नर्म न करो दयाकर !
यों तुम शर्म न पाओगे;
हम रल्लक - आवृत बैठे हैं;
क्या तुम नंग नहाओगे ?

भाई क्या न निभाओगे तुम
हमसे अपना साप्तपदीन ?
आज, हमारे अन्तरतर में
जागी, परिस्पन्द - रति पीन !

क्या समझे ? आहा, भाई, क्या
तुम्हें न रंच शब्द का ज्ञान ?
परिस्पन्द' है स्रग्गुम्फन - विधि !
क्या समझे ? न मिटा अज्ञान ?

हाँ, तो आज हमारे हिय में
परिस्पन्द - रति जाग उठी;
और हमारी हिय - अभिलाषा
वल्गु - प्रिया - रस पाग उठी !

वह स्रग्धरा प्रिया की प्रतिमा !
वह सुप्रभ्रष्टक उनका लोल।
सुन्दर उनका ललित ललामक !
मनहर वैकक्षिक - कल्लोल !

वह घनसार यक्ष कर्दममय
भावित उनकी अंग - श्री;
इन सबकी स्मृति जाग उठे तो
कैसे धारें हम हिय ह्री ?

भाई, अक्षर - चंचु, क्या न तुम
समझे हिय की गहन - व्यथा ?
तो हम फिर कैसे समझावें
तुमको अपनी प्रेम - कथा ?

देखो यह उपबर्ह हमारा !
लखो हमारा यह उपधान।
लखो हमारे नयन - समुद्गक,
लखो क्लिन्न पल्यंक - विधान !!

किसी समय हम थे उररीकृत !
हाँ हम थे संगीर्ण, विदित !
और, हमारी प्रिया हमारे
द्वारा थी ईलित, ईडित !!

क्या समझे ? भाई बस समझो
कि हैं आज हम अत्युत्सृष्ट !
अहो समुज्झित, धूत, विधुत हम !
निपट उच्छ्‌वसित और अहृष्ट !!

क्या समझे ? कुछ बोलो भाई,
क्या तुम हो पूरे चौंगा ?
इतना समझाया, पर तुम तो
निकले बस पूरे पौंगा !

देखो, आज विरह - नद में है
पड़ा हुआ जीवन - डौंगा।
करो हमारी मदद ज़रा तुम,
तुम हो जदपि शुद्ध घौंघा !

घौंघा डौंगा, पौंगा, चौंगा,
इनकी तुक भी खूब मिली,
मानो, हम कवीश के हिय में
कविता की काकली खिली !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१२ जनवरी, १९४४

दुई का सोच

मैंने कहा तनिक झुक आओ और इधर इस बार,
अति कम्पित इस वक्षस्थल पर सिर रख लो, सरकार,
खड़े-खड़े, यों बने हुए बुत क्यों देखो हो, प्रान ?
मेरे जीवन में छिटका दो मन्द - मन्द मुसकान !

ठुमुक पधारे हो आँगन में अजब रूप धर आज,
भर-भर लाये हो नयनों में स्वप्न, जागरण, लाज;
सघन मेघ सम केश - पाश में चपला - से, साकार,–
झूम - झूम कर खूब कर रहे हैं ताटंक विहार।

बोलो, मालिक, क्यों न बलायें लूँ आकर नज़दीक ?
वे बोले कि चटपटी इतनी नहीं ज़रा भी ठीक;
अब तो ज़रा होश में आओ प्रेम नहीं संयोग;
फिर, इतनी आतुरता ? यह तो नहीं नेह के जोग !

नेह निभाना है तो सीखो आत्म - विस्मरण - सार,
नेह निभाना है तो छोड़ो शारीरिक व्यापार;
अपने को खो देने ही में है सनेह का तत्त्व;
ज्यों ही मिटी अहंता त्यों ही मिटा विरह विलगत्व।

जब तक हस्ती की मस्ती में शराबोर है स्नेह;
द्वैतभाव तब तक है, जब तक नहीं सनेह विदेह;
जब तक द्वैतभाव है तब तक है यह हा - हा - कार,
हा - हा - कार जहाँ है वाँ फिर कैसा प्रेम - विचार ?

हममें तुममें आज भेद है, यह परदे का खेल;
परदा हटते ही हो जायेगा हम - तुम में मेल,
कहाँ रहोगे 'तुम' जब होगा मोह - आवरण दूर ?
तब तो स्वयं कहोगे 'सोऽहं'; चमक उठेगा नूर,

काल - उदधि में आदि - प्रेरणा रूपी ढेला एक —
पड़ा; उसी से लहरायी हैं लहरें यहाँ अनेक;
यही लहर - भँवरें बल खाती बनीं सृष्टि का जाल;
इसी जाल में उलझ गया है जीवन का जंजाल।

लहरें समझ रही हैं हम तो हैं सागर से भिन्न,
इसीलिए तो उमड़ रही हैं वे यों निशि-दिन खिन्न;
हम कहते हैं : एक रूप हो, देखो होकर शान्त,
मिलनोत्सुकता से होते हो तुम क्यों यों उद्भ्रान्त ?

जब तक है यह मिलन-लालसा, तब तक यहाँ विछोह,
केवल उस छिन तक ही तड़पन है, जिस छिन तक मोह;
उतर चुका जब अक्स हृदय में तब फिर क्या संकोच ?
दुई मिटी; अरमाँ बर आये; मिटा विरह का सोच;

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२३ अक्तूबर १९३८, रात्रि १.४०

■

मेरे अम्बर में निपट अंधेरा छाया

इस जीवन में क्या प्रात कभी भी आया ?
मेरे अम्बर में निपट अँधेरा छाया !

है नहीं याद कब ऊषा मुसकायी थी ?
क्या पता कि कब दृग में अरुणा छायी थी ?
मैंने क्या आसावरी कभी गायी थी ?
अब तो जीवन में है बिहाग - तम-माया ?
मेरे अम्बर में आज अँधेरा छाया !

जिनको समझा अपना, वे हुए पराये,
मेरे अर्पित मृदु सुमन न उनको भाये;
वे किसी अन्य के हृदय लगे, हुलसाये;
उनने हँस-हँस औरों से नेह लगाया !
मेरे अम्बर में निपट अँधेरा छाया !

किसका कीजे विश्वास ? न किसका कीजे ?
वे अगर कहें 'हाँ' तो क्यों हिय न पसीजे ?
कहकर मुकरें तो क्यों न हृदय यह छीजे ?
मैंने उनकी 'हाँ' पर सर्वस्व लुटाया !
मेरे अम्बर में निपट अँधेरा छाया !

क्या जानूँ क्या अभिशाप लगा जीवन में ?
यह कैसा पाप अमाप जगा जीवन में ?
कर सका न मैं कुछ जगह किसी के मन में;
बारी-बारी सब ने मुझको ठुकराया !
मेरे अम्बर में निपट अँधेरा छाया !

कैसे समझूँ कुछ मेरा दोष नहीं है ?
पर, यह समझूँ, तब भी तो तोष नहीं है !
दोषी पर होता इतना रोष कहीं है ?
इतना कि जाय वह यों सन्तत बिलगाया !
मेरे अम्बर में निपट अँधेरा छाया !

यदि मैं अपने को अपराधी भी पाऊँ,–
यदि मैं निज सिर पर ही सब दोष उठाऊँ, –
तो भी मैं अपना मन कैसे समझाऊँ ?
अपराधी कभी न क्या साजन-मन भाया ?
मेरे अम्बर में निपट अँधेरा छाया !

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
८ अप्रैल, १९४३

■

अब यह रोना-धोना क्या ?

क्या आशा-अभिलाषा, बन्दे ? अब यह रोना-धोना क्या ?
दृष्टि लग चुकी जब कि नियति की, तब जादू औ' टोना क्या ?
इतना तो हो चुका अभी तक, अरे और अब होना क्या ?
अपने ही को जब कि खो चुके, तब आगे अब खोना क्या ?

नंग नहाये ताल-तलैया, धोना और निचोना क्या ?
जब यों बे-घर-बार हुए, तब बाती-दीप सँजोना क्या ?
जब आकाश बन चुका चँदुवा, तब छप्पर में सोना क्या ?
जब संग्रह का विग्रह छूटा, तब अब स्वर्ग-खिलौना क्या ?

हलके होकर तुम निकले हो; फिर यह बोझा ढोना क्या ?
कथरी छोड़ी, कासा छोड़ा; गठरी और बिछौना क्या ?
तुमने कब दूकान लगायी ? तब ड्यौढ़ा औ' पौना क्या ?
मस्त रहो, ओ रमते जोगी, लुटिया आज डुबौना क्या ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
२९ मार्च, १९४३

■

फिर आ गयी दिवाली

यह सूनी सी जीवन-यात्रा बनी व्यर्थ श्रमपूर्ण,
और प्रेरणा अलसायी है; हैं विचार भ्रमपूर्ण;
मेरे हिय में आज अमा है सघन निबिड़ तमपूर्ण,
नयनों में है अमित तमिस्रा; सकल मनोरथ चूर्ण;
ऐसे समय, अये, हिरनी की मदमय आँखों वाली,
ओ मेरी अन्तरतर-वासिनि, फिर आ गयी दिवाली !

तुमने मूँदी आँखें अपनी, बुझे दीप युग मेरे,
उठ आये तम के दल-बादल, दशों दिशाएँ घेरे;
प्राणों का यह कीर, कहो, किस ज्योति-किरण को टेरे ?
अब क्या मम दिनमान ? और क्या मेरे साँझ-सवेरे ?
छायी जीवन में निशीथिनी अब तो काली-काली,
ओ मेरी अन्तर-वासिनि ! क्यों आयी आज दिवाली ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२५ अक्टूबर, १९४६, दीपावली

■

गागर में सागर

कैसे भर लूँ इस छोटी-सी अपनी गागर में सागर ?
कैसे मैं निःसीम बनाऊँ अपनी यह सीमित गागर ?
यदि मैं रहने को हूँ सीमित, तो निस्सीम चाह यह क्यों?
निद्रावृत रहने को हूँ, तो क्यों है मम स्वभाव जागर ?

चिढ़ा रही हैं मुझको मेरे विफल प्रयत्नों की पाँतें;
और उलहने आज दे रहीं मुझको मेरी ही घातें !
अनुशय छोड़ गये हैं मेरे हिय में एक रेख गहरी,
फिर से उभर रही है हिय पर विगत दिनों की सब बातें !

•

इतने दिवस, महीने इतने, बिता दिये वासर इतने,
औ' प्रमाद, निद्रा-आलस में गँवा दिये अवसर इतने,
इतना समय बिता देने पर अब असीम की चाह जगी !
सोचो, नव प्रयोग करने को रहे शेष अब दिन कितने ?

क्यों अमाप होना चाहूँ मैं ? क्यों असीम होना चाहूँ ?
निज अस्तित्व शृंखलाओं को अब मैं क्यों खोना चाहूँ ?
बन्धन ही के द्वारा मुझको यह निजत्व-आभास मिला !
क्यों अनन्तता युत असीम का बोझा मैं ढोना चाहूँ ?

यदि मैं हूँ असीम, तो मेरे बन्धन ही अनन्त होंगे !
मेरे निशि-दिन अकुलाने से क्या ये अन्तवन्त होंगे ?
बन्धन नहीं; कदाचित् हैं ये मम विकास-सोपान स्वयं !
जीवन-क्षण-कृत् लोप हुए जो, वे ही अब कृदन्त होंगे !

यदि अनन्तता आने को है, तो वह बरबस आयेगी;
विमुख रहूँ, तब भी वह निज को मम सम्मुख प्रकटायेगी;
मैं क्यों रोऊँ? क्यों अकुलाऊँ? क्यों पालूँ हिय में चिन्ता?
वर्तमान मैं साधूँ ! भावी निज को स्वयं निभायेगी !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२१ जनवरी, १९४४

■

काग़ज़ की नाव

हम भी अजब जन्तु हैं जग में चढ़ काग़ज़ की नाव,
प्रेम-समन्दर चले नाँघने लगा प्राण के दाँव;
पेशेवर मल्लाह हँस पड़े यह बौड़मपन देख,
पर हमने दे टीप, अलापी अपने मन की टेक।

दुनियादारो, तुम क्या समझो हम मस्तों का खेल ?
शास्त्र हमारा अलग जगत् से अलग हमारी गैल;
सरकण्डे की डाँड़ हमारी, औ' काग़ज़ की नाव,
लहर, भँवर का इस सागर में हमें नहीं अटकाव।

इन उपकरणों को ही लेकर सदियों पहले, यार,
जिन पगलों ने किया सन्तरित यह रस पारावार,
हम भी उन ही के वंशज हैं, फिर हम को क्या सोच ?
कैसी झिझक ? जुगुप्सा कैसी ? क्या भय ? क्या संकोच ?

तरल तरंगित, पवन विकम्पित प्रेमाम्बुधि के बीच;
वे समान-धर्मा अलबेले लीक गये हैं खींच;
अरे, आज भी दीख रहे हैं उनके वे नौ-यान,
क्षीरोदधि में राजहंस की पाँतों से अम्लान।

हमने भी डाली सागर में नौका जर्जर क्षीण,
गल जाये तो भी क्या चिन्ता ? होंगे सागर लीन,
तिरती है तब तक तो उसमें बैठे हम रस-खान,
हो निःशंक रहेंगे गाते पुण्य प्रेम के गान !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
३० सितम्बर, १९३८

■

मैं निज भार वहन कर लूँगा

मैं दुर्बल मन, चला सौंपने अपनी पीड़ा तुम्हें, प्राणधन
मैं आतुर जन, लौटाने को चला विगत यौवन के लघु क्षण
मैं संश्लथ तन, सुन जीवन के पंछी के पंखों की सन्-सन्, -
लगा तौलने अपने डैने करने को फिर से नभ - विचरण;
किन्तु मैं स्वयं समझ रहा हूँ : निरा व्यर्थ है यह उफ़ान, प्रिय,
अब न हो सकेगी फिर सम्भव वह रति, वह गति, वह उड़ान, प्रिय।

कैसे, कहो, डाल सकता हूँ तुम पर मैं निज भार, सुनयने ?
तुम मेरी सुकुमार कल्पना, तुम मेरी मनुहार, सुनयने;
मेरे गलित, पलित जीवन को वरण किया कब विहँस विजय ने ?
और मुझे कब किया विमोहित जगत् - हाट के क्रय - विक्रय ने ?
मैं निज भार वहन कर लूँगा, तुम चाँदनी बनो जीवन की।
बनी रहो तुम स्वरित कोकिला मेरे सूने जीवन - वन की।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२८ अप्रैल, १९४८

■

विनय

ये घण्टे घन-घन-घन गूँजे; आधी रात आ गयी, साजन,
अभी तलक भी नहीं सुनाई दी, सुकुमार तुम्हारी पाँजन;
कान लगे हैं दरवाज़े से भी आगे उस राज-मार्ग पर,
प्रति पगध्वनि पर उछल-उछल हम, रह-रह जाते हैं आहें भर,

और सोचते हैं : क्या हमसे चूक बन पड़ी है कुछ ऐसी;
जिससे है यह रोष, अन्यथा, यह उनकी विस्मृति है कैसी ?

सुन्दर, मदिर, सुलोचन साजन! ओ हिय की निष्ठा के स्वामी!
आराधन के केन्द्र हमारे, ओ प्यारे मालिक! गज-गामी,
निपट हमारे सूनेपन को, ओ तुम मुखरित करने वाले!
चिर अतृप्ति-मय रिक्त हृदय को, ओ तुम सत्वर भरने वाले!
इतने युग की सतत हमारी, विकल प्रतीक्षा सफल बनाओ,
एक बार आँखों से हँसते अधरों से मुसकाते आओ।

किन्तु सोचते हैं हम मन में: क्या अधिकार कि तुम्हें बुलावें?
एकाराधन कहाँ कि रीझें आप और अपने से आवें?
व्यभिचारिणी हमारी निष्ठा, अविचारी है नेह हमारा,
पर, है तव उदारता का ही, हमको केवल एक सहारा;
पतित-पावनी बान तुम्हारी, तुम स्वभावतः कल्मष-हारी,
तभी पुकार उठी है तुमको, बरबस यह रसना बेचारी।

यदि तुम लखो हमारे अवगुण, तब तो चरण-परस भी दुर्लभ,
अपने बल तो न पा सकेंगे, हम तव-चरण-रेणु भी, वल्लभ;
निष्ठा नहीं, न रंच साधना, एकाग्रता नहीं क्षण-भर भी,
सदाराधना नहीं कर सके, हम तव अनुचर कहलाकर भी,
इस विकार-मय अन्याश्रय को, प्रियतम! अब तो आन मिटाओ,
हमें उठा कर आज पंक से, तुम अपने पर्यंक बिठाओ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
४ अगस्त, १९४०

■

गभीर भेद का भरम

मुल्ला अजान दे चुका, हुई नमाज़ भी ख़तम।
तथापि खुल नहीं सका, गभीर भेद का भरम;

सवेरे से अभी तलक भटकते शाम हो गयी,
नहीं मिला रहस्य कुछ, किये सभी धरम करम,

य' साध दिल की दिल ही में रही कि कोई तो कभी–
यूँ कहता : चाहते हो क्या बताओ, ब्रूहि त्वम् वरम् !

नहीं समझ सके हैं हम कि मन्शा क्या है उनका जो–
रगों में दौड़ता है यह रुधिर सदा गरम - गरम।

फ़िज़ूल चेतना है गर सचेत भी अचेतवत्
भ्रमित - श्रमित हुआ करे बिला हया बिला शरम !

निकल के जंगलों से हम बसा चुके नगर-शहर,
मगर न तोष ही मिला न शान्ति ही मिली चरम।

हमीं ने होलियाँ यहाँ लगा रखी हैं सब तरफ़,
हमीं तो कर रहे हैं ये सभी शहर - नगर भसम।

इसी तरह क्या हम कभी पहुँच सकेंगे उस तरफ़
जहाँ से है क़रीबतर विवेक - ज्ञान - पद - परम ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२७ अगस्त, १९३९

■

बहुरंगी

प्रियतम, मेरा मन बहुरंगी अतिरंगी मेरे सपने प्रिय,
रंग-विरंगी मेरी दुनिया, रंग-राग मेरे अपने हिय,
इकरंगी होने को चिन्तित मेरा बहुरंगी चंचल मन,
रँगो इसे निज अंग-राग-रँग, में हे मेरे मानीमन-धन!
मेरे अद्भुत, निज नयनों के तरुन-अरुण डोरों के रंग में—
आज नहा लेने दो; फैले यही मदिर रँग मम अँग-अँग में!

काले मेघों को अस्तंगत रवि भी रंक-दान दे जाता;
फिर तुम तो शिशु-रवि हो मेरे, – तेज पुंज हो, भाग्य विधाता;
तनिक चला दो वह इकरंगी अपनी तूली चपल करों से,
अथवा छू दो अंग-अंग मम अपने रंजित मृदु अधरों से;
पुँछ जाये मम बहुरंगीपन, मन सन्ध्या-घन-सा हो रंजित,
और धड़कते गहरे-हिय में तव अनुराग-रंग हो संचित।

तुम हो कौन? कहाँ के वासी? क्या यह राग दिया तुम ही ने?
देखो तो अब तो नस-नस से उठते हैं स्वर भीने-भीने;
ओ मादक मधवा के दानी, फिरता है मन आनी-धानी,
है वर्तुल गति-रत यह प्राणी, इसने नहीं सरल गति जानी;
चक्कर के ग़न्नाटे में पग; शोणित-रास-प्यास रत रग-रग,
क्यों न दिखाई दे फिर बोलो बहुरंगी जग-जीवन का मग।

लखनऊ प्रवासे
१५ अगस्त, १९३९

■

प्यार बना मेरा अभिशाप

हैं मेरे, तो पाप अमाप;
चिर सुन्दर वरदान प्यार का, उलट बना मेरा अभिशाप;
हैं तो मेरे पाप अमाप।

अरे किसी ने भी तो अपना समझ न पकड़ा मेरा हाथ,
कोई कभी हुआ यदि मेरा, उसने भी तो छोड़ा साथ;
क्या कोई होगा ऐसा भी जो जीवन भर रहे अनाथ ?
मैं हूँ, ओ जग, मैं हूँ ! कर तो तू मेरे अभाग्य की नाप ?
हैं मेरे तो पाप अमाप !

अब तक चिल्लाया मैं : लो, यह साँझ हुई पर मिला न मीत,
पर अब तो जीवन-सन्ध्या भी होने लगी व्यतीत अतीत;
उमड़ घुमड़ आ रहा निशा का कज्जल करने मुझे सभीत;
अब आयेगा कौन इधर को ? किसकी आयेगी पग-चाप ?
मेरे तो हैं पाप अमाप !

कहा तुम्हीं ने था न, प्राण - धन, कि तुम हुए मेरे हिय - राज ?
तब, अब क्या लग रही तुम्हें है मेरे कहलाने में लाज ?
माँग सिन्दूर भरे कोई क्यों आजीवन बन्दी के काज ?
सच है; प्रिय, मेरे होकर तुम क्यों नित करते रहो विलाप ?
मेरे तो हैं पाप अमाप !

आज सोचता हूँ, प्रिय, तुम बिन कैसे होगा जीवन पार ?
कैसे वहन कर सकेगा हिय यह इतना दूभर सम्भार ?
अच्छा हो, यदि सिमिट सान्त हो, यह अपार जीवन-विस्तार;
पर, प्रियतम, यह तो है केवल इक आकुल का विकल अलाप;
हैं मेरे तो पाप अमाप !

मुझे याद है जब तुमने इस वक्षस्थल पर शिर रख प्राण;
कहा था कि "तुम तो मेरे हो, ओ मम कुंकुम के सम्मान।"
उस दिन मुझे हुआ था अपनी जीवन-सार्थकता का भान,
उस दिन मैं अद्वैत हुआ था; अब, फिर लगी द्विधा की छाप !
हैं मेरे तो पाप अमाप !

भुला सका हूँ नहीं अब तलक वह क्षण, वह तन्मय मुसकान,
वह सन्ध्या, वह रात मनोहर, वह थकान, वह असल विहान,
मनसर में उठ ही आते हैं बुद्बुद, स्मरण-शरण-रस-खान;
हिय में सदा भरा ही रहता है, प्रज्वलित छोह-सन्ताप,
प्यार बना मेरा अभिशाप !

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
१८ मार्च, १९४३

■

तुम हो गये पराये

तुम हो गये पराये, साजन, तुम हो गये पराये,
पाकर समाचार, आँखों ने मुक्ता - कण बरसाये;
साजन तुम हो गये पराये !

जिसके अब हो गये, उसी के बने रहो मनमोहन,
होने दो मेरी श्वासों का आरोहण - अवरोहण;
जन्म - जन्म का अभ्यासी हूँ मैं आहें भरने का;
तुम न करो कुछ सोच तनिक इन आँखों के झरने का;
हहराने दो हिय यह मेरा यदि अब यह हहराये;
साजन, तुम हो गये पराये !

तुम कहते ही रहे कि अलि ने अधर पद्म कब चूमे ?
पर, उसके मृदु अधर तुम्हारे अधरों पर हैं झूमे;
आलिंगन वश तव भुज लतिका बनी माल अलबेली, —
किसी ग्रीव में पड़ बन आयी मेरे लिए पहेली;
नहीं सुलझती यह प्रहेलिका कोटिक जतन कराये,
साजन, तुम हो गये पराये !

इक सम्भ्रम था, इक सपना था, इक झिलमिल आशा थी,
स्नेह भक्ति की मूर्तिमती जो मेरी परिभाषा थी;
मेरे मृदुल, खूब तुम मुझको आज होश में लाये;
खूब मिटाये तुमने मेरे सपने बने - बनाये;
क्या दुराव ? मुझसे न दुरेगा यह नव नेह दुराये !
साजन, तुम हो गये पराये !

मन - चकोर कल्पना गगन में ढूँढ़ेगा अब किसको ?
अब क्या वह निज प्राण-चन्द्रमा मानेगा जिस-तिस को ?
अभिनव मेघ - खण्ड से घिर जब मेरा चन्दा हुलसे,
मन - चकोर तब किसे निहारे निज दृग स्नेहाकुल से ?
क्यों न तिमिर - सागर में पंछी डूबे औ' उतराये ?
साजन अब हो गये पराये !

विसर गयीं क्षण - भर में ही, प्रिय, तुम्हें पुरानी बातें ?
तुम्हें खोजते काटी मैंने अयुत युगों की रातें;
जब तुम मिले, लगा यों मानो जागे भाग अभागे,
मानो चिर अन्वेषण प्रतिफल आया मेरे आगे;
पर, मेरे अभिशाप घूम-फिरकर फिर मम घर आये !
साजन तुम हो गये पराये !

रेल पथ : फफूँद से कानपुर
३१ जनवरी, १९४२

■

विचलित विश्वास

मनुजता में आज विचलित हो रहा विश्वास मेरा;
आज तो मर-सा रहा है हृदय का उल्लास मेरा;
है चलित विश्वास मेरा !

एक निष्ठा डिग चुकी है आज तो मेरे सजन की,
भेंट अस्वीकृत हुई है मम चिरन्तन हिय-लगन की;
मैं पुरातन हो गया हूँ, मैं न नित्य नवीन हूँ अब,
कौन दे निज नेह मुझको, दीन मैं तन छीन हूँ जब ?
आज मम मन कह उठा है व्यर्थ है उच्छ्वास तेरा !
चलित है विश्वास मेरा !

आस्था से शून्य हूँ, मैं आ गया हूँ निम्न स्तर पर,
मैं अमानव-सा हुआ हूँ, कँप रहा है हृदय थर-थर;
बाँधकर मातंग मन जिस स्तम्भ पर, निर्भ्रान्ति था मैं,–
पा गया था एक आश्रय उस समय जब श्रान्त था मैं,–
स्तम्भ वह निकला अथिर अवलम्ब का आभास मेर
चलित है विश्वास मेरा

जब पराङ्मुख तुम हुए, तब, हृदय में विश्वास भरकर,–
पूछ बैठा मैं कि क्या है ? तब हँसे तुम श्वास भर-भर !
और मुझसे कह उठे : लो, है न कुछ भी बात ऐसी,–
जो कि तव अनुरक्ति काँपे चपल कदली पात-जैसी;
क्यों भुलावे में रखा था हृदय यों सायास मेरा ?
चलित है विश्वास मेरा !

प्राण जाने दो, भला क्या रोष, मेरा क्या उलहना ?
भाग्य में मेरे बदा है नित्य नूतन ताप सहना;
किन्तु इस तव सहज छल ने मसल डाला हृदय ऐसा,–
कि अब मानव जाति के प्रति मन हुआ सन्दिग्ध-जैसा;
आज तो भ्रम-चक्र ही में हो रहा रस-रास मेरा;
है चलित विश्वास मेरा !

एक दिन निज लोचनों में पूर्ण अर्पण भाव भर-भर,–
अलस, अस्फुट, सलज वाणी यत्नत: एकत्र कर-कर,–
याद है ? तुमने कहा था ?–किन्तु रहने दो स्मरण वह,
हो रहा स्मृति-भार से है कठिन जीवन-सन्तरण यह !
क्यों न हो स्मृति भ्रंश, जब है रिक्त हिय आवास मेरा ?
चलित है विश्वास मेरा !

आज कोई और आया है तुम्हें निज अर्घ्य देने,
और तुम भी तो बढ़े हो, हँस-विहँस, वे सुमन लेने;
देखता हूँ यह तुम्हारा ग्रहण औ' यह दान उसका,
देखता हूँ दूर ही से यह उचित अभिमान उसका।
चिर जियो, यों कह रहा है आज चित्त उदास मेरा;
पर, चलित विश्वास मेरा !

प्रार्थना है एक : मेरे प्रति न होना, प्रिय, करुण तुम,
और भर-भर मत बनाना मदिर लोचन द्वय अरुण तुम,
आज भी हैं बहुत प्यारे मुझे वे तव युगल लोचन,
आज भी,–यद्यपि हुए वे अन्य के रस-रंग-रोचन;
आज भी उन तारकों से जटित है आकाश मेरा;
पर, चलित विश्वास मेरा !

भाल में मेरे लिखा है निपट सूनापन सनातन;
तब अजब क्या, जो हुआ तव हृदय में यह अनमनापन ?
बाँधते निज ग्रीव में क्यों तुम पुरातन अस्थि-माला ?
ठीक था ! तुम थे न दुर्गा, शक्ति, तुम हो मनुज-बाला !
अस्थि का कंकाल मैं; जग कर रहा उपहास मेरा;
चलित है विश्वास मेरा !

रेलपथ : काशी से कानपुर
२६ जनवरी, १९४२

■

सन्ध्या आरती

सखी, सँजोती हूँ जब दीपक,
तब होती गुदगुदी हिये में,
बाँह झटक देते हैं वे जब,
भरती हूँ मैं तैल दिये में;

'हटो दूर' जब कहती हूँ तो
और पास वे आ जाते हैं,
मुझे खीझती देख, हुलसते,
वे नयनों से मुसकाते हैं;

उस झुटपुटे समय में साजन
प्यार-भरे आँखों आते हैं,
तब वे मेरे मन में आली,
एक गजब - सा ढा जाते हैं।

बाँहें थाम, गाड़कर मेरे
लोचन में अपने लोचन वे,–
कहते हैं देखो तो कितने
सुन्दर हैं अति नीरव क्षण ये,

तब मैं खोयी - खोयी-सी; सखी,
उन्हें देखती रह जाती हूँ
उनकी अपनी नेह - धार में
मैं बरबस ही बह जाती हूँ।

मैं वे दो ही रह जाते हैं
उस कुछ - कुछ अँधियारे क्षण में
सुनती हूँ उनकी छाती पर
सिर धर द्रुतगति हिय-धड़कन में।

करती हूँ सन्ध्याति सजन की
कर में नेह - प्रदीप लिये मैं,
सखी, सँजोती हूँ जब दीपक
तब होती गुदगुदी हिये में !

■

नयन-निमन्त्रण

नयन-निमन्त्रण हमने भेजा कि तुम इधर को आओ,
तुमने नयनों से कह भेजा : आते हैं, तुम जाओ,
चले गये हमारे नभ-हृदय में, लेकर बिथा पुरानी,
और देखते रहे बाट यह युग-युग की पहचानी,
पर, तुमको विस्मृता हो गयी निज नयनों की भाषा,
और रह गयी पथ निहारती मौन हमारी आशा !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
३ जनवरी, १९४२

■

मृत्यु-धाम

रहस्यपरक दार्शनिक गीत जिनमें
मृत्यु को काव्य का विषय
बनाया गया है

*[संग्रह को कवि-द्वारा एक वैकल्पिक
शीर्षक 'सृजन झाँझ' भी दिया
गया है]*

कैसा है मृत्यु - धाम ?

क्या तुम कह सकते हो कैसा है मृत्यु-धाम ?
देखा है क्या तुमने वह गृह नयनाभिराम ?
कहाँ बना मृत्यु-धाम ?

विस्मृति की कुंझटिका जहाँ गगन घेर - घेर,–
स्तम्भित कर देती है नयनों का हेर - फेर
श्रान्ति जहाँ आवाहन करती है टेर - टेर,
वहीं कहीं करती है मृत्यु-यूथिका विराम;
वहाँ बना मृत्यु-धाम !

चिर वातावरण सघन, गहन अन्धकार लीन,–
मँडराता रहता है जहाँ सतत उदासीन,
जीवन की ज्योति जहाँ होती है क्षीण, हीन,
कल्पना जहाँ सतर्क पग धरती थाम-थाम;
वहाँ बना मृत्यु-धाम।

प्राचीरें,–जो वेष्टित करती हैं मृत्यु-सदन,–
उपल जटित हैं, उनमें जड़े अश्मकाल-वदन;
प्रांगण में होता है अन्तक घन घण्ट - नदन,
ऐसे गृह में निवास करती है मृत्यु-वाम,
ऐसा है मृत्यु-धाम।

लेकर ये अति कठोर निर्ममता - रूप उपल,–
अदय विश्वकर्मा ने रचा मृत्यु-धाम अचल;
काले से अश्मों की काली प्राचीर प्रबल,–
जिसके भीतर कृतान्त करता है हरण-काम;
ऐसा है मृत्यु-धाम।

कालानल उस गृह में दीप धरा करता है,
कालानिल व्यजन डुला, उस गृह को भरता है;
काल-मेघ जल नित उस प्रांगण में झरता है,
काल-अनल-अनिल-सलिल–उस गृह के सर्वनाम,
ऐसा है मृत्यु-धाम !

नैनी जेल,
२४ अगस्त, १९४१

■

कैसे निशि के सपने ?

उड़ धाये नीड़ - ओर विहग - वृन्द फर - फर कर,
चैं-चुक-चुक के सुचारु रव से नभ थर-थर कर।

घन-गन-संकुलित गगन कज्जल का पुंज बना,
मानो नभ-थाली में दृग अंजन सघन सना;
अस्ताचल ओट हुआ दिन-मणि का रथ अपना
जग को मोहित करने आया निशि का सपना;
नभचारी नभ-पथ से लौट चले अपने घर
पंखों से फर - फर कर !

साँझ हुई; सनिकेतन को गृह की सुध आयी;
अनिकेतन के हिय में निशि की चिन्ता छायी;

दिन-क्षण, विचरण ही में, बीत गये दुखदायी,
अब यह वन्ध्या सन्ध्या श्रान्ति-समस्या लायी;
पाये निशि-वास कहाँ थकित पथिक यह बेघर ?
आया विश्राम - प्रहर !

जब जीवन-रवि डूबा, मरण - तिमिर बढ़ आया,–
जब कराल काल व्याल अन्धकार चढ़ आया,–
तब हिय यों पूछ उठा : यह क्या मृण्मय माया ?
यह कैसा परिवर्तन ? यह कैसी तम-छाया ?
अब निशि-आवास-दान करे कौन करुणाकर ?
कँपता है हिय थर - थर !

निशि का विश्राम कहाँ ? पूछा जब यों मन ने,
ठौर कहाँ ? पूछा जब यों इस मृण्मय कण ने,
बोली तब अमर साध : कैसे निशि के सपने ?
ऐ, रे ! आह्वान किया तेरा चिर चेतन ने !
काले अवगुण्ठन में छिप आये हैं प्रियवर
मत डर, रे अजर, अमर !

आज, साँझ तेरी यह नव प्रभात पूर्ण हुई,
तुझ से अनिकेतन की चिन्ता सब चूर्ण हुई;
हुए आज द्वन्द्व दूर, आज दूर हुई दुई;
मरघट के नभ से है आज अमिय फुही चुई;
मृत्यु का कराल कण्ठ गाता है जीवन स्वर
अब कैसा भय ? क्या डर ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२५ जुलाई, १९४२

क्या है यह अन्धकार ?

क्या है यह अन्धकार ?
भूलभुलैया में मन क्यों उलझे बार-बार ?
क्या है यह अन्धकार ?

वे प्रकाश किरण जिन्हें नयन ग्रहण कर न सके, –
वे किरणें जिनको दृग-अंजलियाँ भर न सकें, –
जिनको दृग कनीनिका किसी तरह धर न सकें, –
उन किरणों का समूह बना अन्धकार – भार, -
क्या है यह अन्धकार ?

जीवन का उजियाला और चमकने को जब, –
धीमा हो जाता है और दमकने को जब, –
तब उसको कहते हैं अन्धकार जग-जन सब;
तभी सभी कहते हैं उसे मृत्यु का प्रसार;
क्या है यह अन्धकार ?

देखो तो मेरे मन, यहाँ कहाँ तिमिर अन्ध ? –
देखो तो यहाँ कहाँ हरण - करण मरण - बन्ध ?
प्राण-हरण लीला है जीवन उत्क्रमण - सन्ध;
रन्ध्र - रन्ध्र रोमों का आज रहा यों पुकार,
क्या है यह अन्धकार ?

मृत्यु की मृदंग की वनी बजी, जलगी थाप;
मृत्यु - नृत्य - पद - तलमें जीवन की ललित छाप;
परदे में क्या न सुनी जीवन की चरण - चाप ?
मृत्यु - पटल - अन्तर में चलित जीवनाभिसार;
क्या है यह अन्धकार ?

नैनी जेल
३ अगस्त, १९४१

कैसा मरण-सँदेसा आया ?

कैसा मरण-सँदेसा आया ?
किसके कण्ठाभरण स्वरों ने लय-संगीत सुनाया ?
कैसा मरण-सँदेसा आया ?

देह थकी, जर्जरित हो गयी, बिगड़ गया कुछ खटका,
संज्ञा शून्य शरीर हो गया, लगा मृत्यु का झटका,
देख लुप्त होते जीवन को मन सम्भ्रम में अटका
जीवन का रहस्य यह क्या है ? क्या यह मृण्मय माया ?
कैसा मरण-सँदेसा आया ?

दो विभिन्न गतियाँ जगती में : इक जड़मय, इक चेतन;
जड़गति है घूर्णित आन्दोलन, चेतन है उद्वेलन,
जब जड़कण-समूह बन आया चेतन का सुनिकेतन,
तब उसमें विकास गति आयी : जड़ ने जीवन पाया;
अभिनव मरण-सँदेसा आया !

जिन ने मर कर चिर जीवन का रुचिर रूप पहचाना,
जिन ने निज को खोने ही में शुचि निजत्व को जाना,—
वे बोले कि मरण है जीवन का ही एक बहाना,
अभिनव मरण सँदेसा आया ?

जीवन का अखण्ड वैश्वानर हहर-हहर कर चमका,
भय भागा, सन्देह हट गया, छूटा संशय तम का;
अपने 'स्व' को 'स्वधा' सम होमा, टूटा फन्दा सम का;
अपने मन की हुई मृत्यु, तब चिर जीवन लहराया;
नव-नव मरण-सँदेसा आया !

मृत्यु-बन्ध

मेरी जो अपूरन-सी जीवन कलिल भरी
सरिता है, इसको क्या पूरन करोगे तुम ?
इस तटिनी में, इस सीमाबद्ध सरिणी में,
बोलो, प्रिय, कैसे चिर जीवन भरोगे तुम ?
यह नदी भूत और भावी के दु-कूलों में,
लिपटी है; कैसे सीमा इसकी हरोगे तुम ?
इस अश्रुमती, काल सीमिता तरंगिणी में,
चेतन अशेष वन कैसे उतरोगे तुम ?

मृत्यु का कराल अवरोध बाँध बाँधे तुम,
चेतन-प्रवाह-गति-सृति किये रुद्धमान;–
जीवन का रंचमात्र सलिल प्रदान कर,
करते हो चेतन को कुण्ठित, अशुद्ध, क्या न ?
चेतनावरोधकारी मृत्यु-बन्ध-कल्पना से, –
जीवन हुआ है अवरुद्ध, हतबुद्ध-ज्ञान;
कई युग बीते, तोड़ो अब तो मरण-बन्ध,
मेरे प्रिय, प्राण, मेरे चिर भासमान ध्यान !

जिस दिन मृत्यु की विभीषिका की ईति भीति–
मानव के हिय से समूल हर जायेगी,–
जिस दिन मृत्यु-जीवनैक्य की विचित्र छटा,–
मानव के हिय में समुद भर जायेगी;

पर-हित-अर्थ प्राण-अर्पण की इच्छा जब —
मानव के हिय को स्ववश कर पायेगी;
तब मृत्यु-बन्ध-शैल-खण्ड खण्ड-खण्ड होगा,
चेतन की रुद्ध धार झर-झर आयेगी !

वर दो कि आज तो कृतान्त का गरल रूप,
किन्तु अमृतोपम, मरणासव सब प्याला यह;
पीकर निहारूँ विश्व मोहिनी तुम्हारी छटा,
रोम-रोम रीझे, होवे हिय मतवाला यह;
कैसा संकोच ? सोच कैसा ? यदि तुम हो देते,
अपने ही हाथों कटु मृत्यु रूप हाला यह !
अमिय मिला के विष प्याले को भरा है खूब
मृत्यु मधुपात्र में है जीवन की ज्वाला यह !

नैनी जेल,
९ अगस्त, १९४१

■

जग में महा मृत्यु की फाँसी

जग में महा मृत्यु की फाँसी
मरण खड़ा है चिर जीवन के डाले गलबहियाँ - सी
गहरी महा मृत्यु की फाँसी !

नाम रूप के भेद भरम ने जग मोहित कर डाला;
लय - भव की अस्थिर महिमा ने हिय में भय भर डाला;

किन्तु मानवोपरि मानव ने दिया सँदेस निराला :
कि यह मरण तो है जीवन की अपनी कुछ महिमा - सी
कैसी महा मृत्यु की फाँसी ?

गति में अगति निहित है : गति से अगति नहीं है भिन्ना;
तब क्यों हो जीवन की गति से मृत्यु-अगति विच्छिन्ना ?
जीवन-गति में लख मरणागति, मति-गति हो क्यों खिन्ना ?
मरकर अमर सँदेस दे गये वे जीवन-संन्यासी :
कैसी महा मृत्यु की फाँसी ?

जीवन और विशद होने को पद-पद पर मरता है;
मर मिटते हैं बीज; तभी तो क्षेत्र हरित भरता है;
पुनः और बढ़ने को पौधा पककर, मर, झरता है;
तब हम क्यों न कहें कि मृत्यु है चिर जीवन गरिमा-सी ?
कैसी महा मृत्यु की फाँसी ?

जीवन कैसे रख सकता है अपनी प्रगति अबाधा ?
किस विधि जड़ता में चेतन ने, बोलो, निज को बाँधा ?
प्रगति, विकास, उत्क्रमण के बल उसने निज को साधा;
जीवन : शम्भु महाकालेश्वर; मृत्यु : प्रचण्ड उमा-सी,
शोभित डाले गलबहियाँ-सी !

जीवन की गोदी में जब तक मृत्यु - प्रिया न विराजे,
तब तक कैसे सजन-लास्य हो ? कैसे डमरू बाजे ?
कैसे नव चेतन - शंख - ध्वनि तब तक गूँजे, गाजे ?
जब तक चेतन की ग्रीवा मे हो न मरण की गाँसी,
ऐसी महा मृत्यु की फाँसी !

नैनी कारागार
३ जुलाई, १९४१

■

क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी

क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी ?
आयी साँझ, ढल चुकी है क्या तव जीवन की प्रखर दुपहरी ?
क्या तुम जाग रहे हो, प्रहरी ?

क्यों जागूँ ? मैं सई साँझ से सोऊँगा, तू कौन, बोल, री ?
जो कि बजाती आयी निधड़क जागृति का घनघोर ढोल, री !
मेरे सालस निमिष-पात्र में, मत जागृति का गरल घोल, री
सोऊँ या जागूँ तुझको क्या ? जाग, जाग, मुझसे मत कह, री,
मैं हूँ थकित, शिथिल-मन, प्रहरी !

मैं हूँ कौन ? पूछते हो तुम ? मुझको देखो रंच नयन-भर,
मैं हूँ महामृत्यु ! हैं मेरी लीलाएँ उन्निद्र, शयन - हर।
मैं लायी हूँ तुम्हें चुभोने जागृति के ये शूल चयन कर,
आज भंग करने आयी हूँ जीवन की निद्रा गहरी,
क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी ?

सोते रहे दिवा निद्रा में; खोलो अब तुम अपने लोचन;
जागो ग्रहण करो यह मेरा शुभवर, जीवन-संकट-मोचन,
आओ, मैं तव भाल देश पर करूँ अमृत-अंजन-गोरोचन,
जिसे साँझ कहते हो, वह तो चिर चेतन - ऊषा बन छहरी;
क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी ?

मेरा शुभागमन निश्चित है; मम आलिंगन है अटलाचल,
पर तुम मुझे मिलोगे कैसे ? निद्रित ? या चिर जागृत पल-पल ?

यदि तुम जगते मिले मुझे, तो वरण करोगे मुझको अविकल !
इसीलिए लहराती हूँ मैं काल - सलिल पर जागृति - लहरी;
क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी ?

•

•

जागे नील - कण्ठ जीवन में, कर विष-पान अमर बन आये;
जागी शक्ति छिन्नमस्ता वह, जिनको निज शोणित-कण भाये;
जागे वे बलिदानी जिनने नित प्राणार्पण गायन गाये,
शिवि, दधीचि, नचिकेता जागे जिनकी सुयश-पताका फहरी !
क्या तुम जाग रहे हो, प्रहरी ?

नैनी जेल,
१५ अगस्त, १९४१

■

भाई, आज बजी शहनाई

आज बजी शहनाई, भाई, आज बजी शहनाई,
कित देह के कर्ण-रन्ध्र में मन्द्र-मन्द्र ध्वनि आयी।
भाई, आज बजी शहनाई !

मंगल-घट ले मृत्यु खड़ी है इस प्रयाण की बेला,
औ' अनन्त-से अगम पन्थ में छिटका अलख उजेला,
जीवन के उपकरण छोड़कर चेतन चला अकेला,
महानिष्क्रमण की स्वर लहरी मन - आँगन में छायी,
भाई, आज बजी शहनाई !

निर्ममता की अश्रुविगलिता जो मृत्तिका पुरानी,–
उससे निर्मित मंगल-घट ले आयी मृत्यु भवानी;
मरण-द्वार पर खड़ी हुई है ठसक भरी ठकुरानी,
ना जाने किस दूर देश का वह सन्देसा लायी;
भाई, आज बजी शहनाई !

मत कर सोच-विचार, छोड़ तू झंझट इस बस्ती का;
नहीं खात्मा होगा, प्यारे, तेरी इस हस्ती का,
बन्धन तोड़, चला चल पीकर प्याला अलमस्ती का
मरण एक बन्धन-खण्डन है, मरण नहीं दुखदाई,
भाई, आज बजी शहनाई !

पौ फट गयी, मिट गया क्षण में अन्धकार अज्ञानी,
नभ-रानी ऊषा मुसकानी, भव-भय-निशा सिरानी;
अनजानी की अकथ कहानी अब चेतन ने जानी,
उसने आज अलख की अश्रुत पायल-ध्वनि सुन पायी;
भाई, आज बजी शहनाई !

जब पायल की रुनुन-झुनुन से साजन स्वयं बुलावें;
जब वे 'आ-आ' कहकर मंजुल निज अँगुलियाँ दुलावें,
तब प्रयाण-उन्मुख उन्मन जन सुध-बुध क्यों न भुलावें ?
उस क्षण अपनी देह क्यों न यह लगने लगे परायी ?
भाई, जब बाजे शहनाई !

जिस दिन चला समुद जग जीवन निज प्राणार्पण करने,–
जब वह चला पूर्ण चेतन के ऋण का तर्पण करने; –

उस दिन उसे विमुक्त कर दिया महा मृत्यु के डर ने,—
टूटे बन्धु मिट गया खटका, फटी मरण की काई
जिस दिन बजी मुक्त-शहनाई!

नचिकेता बोला गुरु यम से : आर्य, ईश हैं साक्षी,
मैं मुमुक्षु हूँ मृत्यु तत्त्व का मुझे न दो मीनाक्षी;
अन्तक यम बोले : 'नचिकेतो, मरणे मानुप्राक्षी :'
किन्तु फँसा कब वह माया में जिसे मरण-धुन भायी ?
भाई, आज बजी शहनाई !

नैनी जेल
१ सितम्बर, १९४१

■

चेतन भी मृण्मय है

अचलित जड़ ही तो मृण्मय है,
किन्तु इसी जड़ता ही में तो चेतन का संचय है ?
अचलित जड़ ही तो मृण्मय है ?

मृत्यु रूप जड़ को आधारित करके चेतन चमका,
इस आधार बिना बोलो वह कब जगती में दमका ?
जब जड़ ही है बना धरातल चेतन के सब श्रम का,—
तब हिय में यह मरण-भीति का अटका क्यों संशय है ?
अचलित जड़ ही तो मृण्मय है ?

देख रहे हम जड़ - चेतन का यह अवलम्ब परस्पर,
इस विधि जीवन-मरण-समन्वय होता यहाँ निरन्तर;
बिना एक के अन्य असम्भव; यों आबद्ध चराचर;
तब क्या परिदेवना ? शोक क्या ? क्या विषाद ? क्या भय है ?
विकसित चेतन भी मृण्मय है !

श्रवण, चक्षु, रसना, स्पर्शन औ' घ्राण, सभी, है मृण्मय ?
नाना विधि के घटित मृत्तिका भाजन भी हैं मृण्मय;
इनमें आत्माराम रमैया विचर रहा है निर्भय;
अथवा मृत्यु कुम्भ के भीतर जीवन का संचय है;
रे यह चेतन भी मृण्मय है !

यदि जग की लीला है केवल जीवन - मरण - समन्वय,
यदि विकास है जड़ - चेतन का केवल अन्योन्याश्रय,
तो फिर क्यों न विलोकें हम सब एक रूप क्षय - अक्षय ?
क्यों न कहें कि मरण भी तो यह जीवन का जय-जय है ?
चेतन भी तो यह मृण्मय है !

जड़ के बिना कहाँ चल पायी चेतन की परिपाटी ?
निज विकास हित समुद वरण की उसने मृण्मय - माटी;
तब क्या अचरज कि सुचिर जीवन चले मौत की घाटी ?
सिरजन के विकास क्रम में, भी अन्तर्निहित प्रलय है;
रे, यह चेतन भी मृण्मय है।

नैनी जेल,
२ अगस्त, १९४१

■

झाँक सकें आर-पार ?

क्या है यह सम्भव हम झाँक सकें आर-पार ?
सम्भव है क्या कि आज मुक्त खुले मृत्यु-द्वार ?
झाँकें हम आर-पार ?

बाँध रखे माया ने ममता की डोरी से,–
दोनों दृग - खंजन ये अपनी बरजोरी से,
रंजित हैं नयन आज करुणा की रोरी से,
सीमित इनकी उड़ान, सीमित है सुविस्तार;
झाँकें किमि आर-पार ?

घिरी सघन मेघ - भीर; बहा सनन - सन समीर,
बरसा झर-झरा नीर; पावस की उठी पीर;
चपला के चपल तीर शून्य वक्ष चीर - चीर,–
तन - मन करते अधीर, पैठ गये हिय मझाँर;
झाँकें किमि आर-पार ?

धरती के पाहन ये, पाहुन बन मारग में,–
करते अवरोध सतत अड़े-पड़े दृग - मग में;
इनमें ही उलझ गये जन - गण - लोचन जग में,
सम्भव है नहीं आज अग्रिम - दर्शन - विहार,
झाँकें किमि आर-पार ?

तरुणारुण, वशीकरण आलिंगन, परिरम्भण,–
करुणारुण, प्राणशरण अपरस्पर अवलम्बन,–
छोह, मोह, नेह, टोह सेन्द्रियता के बन्धन,–
प्राण रमें इनमें, ये बन बैठे हृदय - हार
झाँकें किमि आर-पार ?

फिर भी हैं जीवन में एक टोह हूक - भरी,
'किमिदम् ?' की बेर - बेर टेर उठी कूक - भरी;
परदे के पार गयी जब न दृष्टि चूक - भरी,
हुई और भी प्रचण्ड तब 'कोऽहं ?' की पुकार !
किमि झाँकें आर-पार ?

नैनी जेल
८ अगस्त, १९४१

■

मरघट-घाट

अपराजिता चिता की आधी बुझी अधजली ढेरी,–
विहँस उठी यह कहकर : मैं हूँ चिर जीवन की चेरी,
हँसते देख चिता को मन का ज्ञान-हंस मुसकाया,
किन्तु मोह ने मानस-पट पर अश्रु-तूलिका फेरी।

धुआँ उठा धू-धू मँडराता, इठलाता, बल खाता,
जीवन के दिन की लघुता को रह-रह कर दरसाता,
पर, निरभ्र-से, नील गगन से यह नभ वाणी आयी;
चेतन तो, जीवन बन, केवल क्षण-भर को आता !

चेतन जब सदेह बनता है तब जीवन कहलाता,
वरना इस शरीर-बन्धन से उसका कैसा नाता ?
दैहिक पिंजर तोड़ शरीरी हंसा जब उड़ जाये,—
तब क्यों बिलखे अश्रु लालिता ममता शोणित लाता ?

गागर में सागर का सब जल भर पायेगा कैसे ?
चेतन सागर, देह गागरी में, आयेगा कैसे ?
यदि हठकर कुछ बिन्दु देह के बन्धन में बँध जायें,—
तब भी मुक्त सलिल को, बन्धन-सुख भायेगा कैसे ?

देह चली मरघट को चढ़कर चार जनों के कन्धे,—
अलख चेतना चली तोड़कर सब माया के फन्दे,
हास-विलासमयी सब ममता बिसर गयी क्षण-भर में,
छूट गये जीवन की गति के सारे गोरख-धन्धे ।

सरिता ने प्रकटित की कल-कल, भावी कल की आशा,
औ' सियार बोले गत कल की हुआ-हुआ की भाषा;
भावी और भूत के बन्धन जब जीवन ने जाने,
कालातीत तभी होने को जगी हृदय-अभिलाषा ।

रुद्र धूर्जटी के प्रांगण में भस्म उड़ी भव-लय की,
किंवा हुई तत्त्व-मीमांसा जीवन के संशय की;
मृत्यु बन गयी चेतनता के उत्क्रमणों की सीढ़ी,—
हर-हर कर श्मशान पीपल ने चेतन की जय-जय की !

ढली दुपहरी, दिनकर डूबा, लगी साँझ मुसकाने,
पंख झड़झड़ाते, अलसाते, उल्लू जगे सयाने;
जीवन के कराल मरघट की उन्मन सन्ध्या-वेला,–
चेतन के दिन की ऊषा बन आयी हिय हुलसाने।

चिर निद्रा तो भ्रम है, वह तो है जागरण-व्यवस्था;
कैसी निशा ? जब कि है दिन-मणि चेतनता कूटस्था;
जिसको चिर निद्रा कह-कहकर जन-गण अकुलाते हैं;
अरे वही तो है जागृति की अद्भुत, नवल अवस्था !

नैनी जेल
१९ अक्टूबर, १९४१

■

प्रश्नोत्तर

धूल कणियाँ, रंच भौतिक शक्ति, कुछ रासायनिकता,–
जब समन्वित हुईं, तब वह बन गयी जीवन-क्षणिकता !
चेतना का भाव है जो, जो अहं का भाव है यह,–
राग, रति, रस-रीति - कृति का जो समूचा ताव है यह,
वह नहीं कुछ और, वह है शुद्ध भौतिक रास केवल;
चेतना तो है रसायन - शक्ति - हेत्वाभास केवल।

क्यों वृथा जड़ और चेतन के भुलावे में पड़े जग ?
क्यों वृथा चिर चेतना की टोह में हो भ्रमित जन - पग

है स्वयंभू विश्व यह सब; है नहीं सृष्टा कहीं जब,–
दृश्य ही ध्रुव सत्य है जब, क्यों मिले द्रष्टा कहीं तब ?
जन्म, जीवन, मरण सब, है खेल भौतिक शक्ति का ही,
चेतना तो एक भ्रम है, सत्य तो है मृत्तिका ही !

मृत्तिका से रहित प्रकटी चेतना बोलो कहाँ ? कब ?
हो रही अभिव्यक्ति उसकी मृत्तिका मिश्रित यहाँ जब,–
तब न क्यों भौतिक क्रिया ही मान लें हम चेतना को ?
व्यर्थ में कर कल्पना उकसायँ क्यों हिय - वेदना को ?
है अगर भौतिक क्रिया का खेल ही जीवन - मरण यह,–
तब कहो कैसा नियामक ? औ' कहाँ अशरण-शरण वह ?

ठीक तो है, बन्धु, चेतनता विलग किसने निहारी ?
ठीक तो है, जड़ रहित हो वह नहीं प्रकटी विचारी;
किन्तु भौतिक शक्ति यह जो कर रही है रास - लीला,
या जिसे परमाणु - कणियाँ बन गयी हैं प्रगतिशीला;–
वह कहो प्रकटी कभी क्या जड़ - कणों से विलग होकर,
क्या दिखाई दी कभी वह निपट पार्थिव रूप खोकर ?

यदि नहीं; तब भी नहीं क्या सर्व-सम्मत शक्ति-सत्ता ?
विश्व : शक्ति पदार्थ मय है, कह रही यों बुद्धिमत्ता।
निपट जड़ उपकरण में ही व्यक्त भौतिक शक्ति माया,
किन्तु उसकी नित्य - सत्ता में नहीं सन्देह - छाया।
तब भला चिर चेतना की शक्ति भी हो क्यों न स्वीकृत ?
जड़ विलगता भाव के कारण वहीं क्यों हो निरादृत ?

चेतना, प्रत्यक्ष - दर्शन के बिना यदि एक भ्रम है,
तो जगत की शक्ति भी क्या भूल का ही विफल श्रम है ?
और फिर विज्ञान कहता गति-चलित जिन अणु - कणों को,
उन कणों की गति : दिखाई दी अलग क्या कुछ क्षणों को ?
गति, किसी ने क्या कभी भी स्थूल से विरहित-निहारी ?
यदि नहीं तो क्या तिरोहित हो गयी वह गति विचारी ?

आज तो विज्ञान की दिशि है निपट एकीकरण की,
आज तो इच्छा जगी है शक्ति के सन्तत स्मरण की;
शक्ति वह जो उष्णता, विद्युत्, विचुम्बक-गतिमयी है,—
शक्ति वह जो ध्वनिमयी है, ज्योति - रेखा - रति - मयी है,
स्थूल भूत पदार्थ प्रकटे हैं न क्या उस शक्ति ही से ?
तब कहो, हमको मिलेगा क्या भला जड़ - भक्ति ही से ?

निज विकासों के प्रथम यदि स्थूल था अति सूक्ष्म, अलखित,—
अगर जड़ता थी कभी चिर शक्ति का ही रूप सुललित,—
यदि निखिल जड़-जगत् की, जड़ शक्ति ही है मूल-माया,—
तब कहो, कैसे ? कहाँ से यह सचेतन भाव आया ?
तर्क कहता है कि जड़ में जो गणित गति-सृति भरी है,
वह किसी चित् रूप की ही कल्पना शिव-शंकरी है।

मत लगाओ तर्क के अम्बार, ओ, जड़ता-प्रचारक,
ये कुहू के कोट ओट न कर सकेंगे नयन-तारक !
हिय-कुहुकिनी पूछती है रात दिन 'त्वं क्वासि ? कस्त्वं'
और कहती है 'तदेजति तत् न एजति, प्राण तत्त्वं ?'
चेतना को धूलि औ' जड़ शक्ति का संश्लेष कहना, —
रोक लेगा क्या हृदय के विकल प्रश्नों का उलहना ?

लाख आँखों से परे हों पर, दरस की चिर पिपासा, —
कौन यों उकसा रहा है सजन घूँघट में छिपा-सा ? —
जन्म की औ' मृत्यु की फाँसी गले ले जीव आया,
हर्ष और विषाद का उद्‌गीथ स्वर जग-बीच छाया;
किन्तु चेतन की सुमरनी में मरण है मेरु - मनका;
तब चर्लित क्यों हो जगज्जन ? भ्रम न क्यों मिट जाय मन का ?

क्षणिक जीवन मिस पधारी जगत् में चिर चेतना यह;
माँग में सिन्दूर भर लायी विरह की वेदना यह।
आ, मिली यों रज - कणों में बन गयी जीवन पहेली,
किन्तु उसको है स्मरण कुछ, वह किसी की है सहेली;
बाँध उसको क्या रखेगी धूलि - कण की मोह-माया ?
वह रखेगी क्या यहाँ ? वह है किसी की अमर छाया !

■

मिट गये हैं चित्र मेरे

आह ! बन - बन मिट गये हैं ये अनेकों चित्र मेरे,
चित्र आज अचित्र मेरे !

वन्दना आराधना की कुहुकिनी कूकी कहो क्यों ?
और अर्पण-ज्वाल किसने हृदय में फूँकी ? कहो क्यों ?
तब भला मम दोष क्या, जो तूलिका मैंने सँभाली ?
वन्दना की टेक की साकार छवि मैंने बना ली !
किन्तु मैं हतभाग्य हूँ, यों कह रहे हैं मित्र मेरे,
चित्र आज अचित्र मेरे !

जन्म-जन्मों से रहा हूँ मैं कदाचित् वह निराश्रय,
जो सतत क्षुत् - क्षाम दृग से खोजता है जीवनाश्रय;
पूछता हूँ, पन्थ में साथी - सँगाती क्या कहीं हैं ?
संग में तो एक भी सुकुमार चरणांकन नहीं है !
क्रमित जीवन डगर में हैं चरण चिह्न विचित्र मेरे,—
मिट गये हैं चित्र मेरे !

सतत हो लगती रही आकाश-गंगा की पिपासा,
और पंख अभाव से; कुण्ठित हुई हृदयाभिलाषा;
गगन की कुसुमावली को तोड़ने को कर पसारे;
जग हँसा, वामन चला, जब स्पर्श करने चन्द्र-तारे !
आज मेरी पुतलियाँ ही जा रही हैं आँख फेरे,
मिट गये हैं चित्र मेरे !

एक की आराधना की, एक ही को हिय बसाया,
एक ही की डोर में मन - मीन को मैंने फँसाया;
पर अधर में ही अटक कर रह गये हैं प्राण मेरे,
और अश्रुत ही रहे हैं हिचकियों के गान मेरे;
आज मैं किसको बुलाऊँ ? कौन मुझको आज टेरे,
मिट गये हैं चित्र मेरे !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१० दिसम्बर, १९४१

■

यह प्याला मैं पी न सकूँगा

यह प्याला मैं पी न सकूँगा;
हाला नहीं, हलाहल है यह;–इसे पान कर जी न सकूँगा !
प्रिय, यह प्याला पी न सकूँगा !

ओढ़े श्याम चदरिया, मादक रूप धरे कुछ भोला-भाला,
मदिर लोचनों से मुसकाते; बढ़ा रहे हो क्यों यह प्याला ?
बोलो, है कैसा मधवा यह, नीला-नीला, काला-काला ?–
इसको पीकर तो मेरे प्रिय, मैं दो डग भी चल न सकूँगा!
यह प्याला मैं पी न सकूँगा !

यदि मादक मधवा के ही मिस देना है यह गरल हलाहल,–
तो फिर स्पष्ट क्यों नहीं कहते–यह छल क्यों ऐ मेरे निश्छल ?
तुम रसज्ञ पानी कर लाये प्राण-हरण-कारी - कालानल,
पर, यह तव अन्तक मरणासव मैं धोखे में ही न छकूँगा !
यह प्याला मैं पी न सकूँगा !

पर क्या अजब कि मरणासव में घुला हुआ है चिर जीवन-रस ?
मुझे क्या पता किस-किस विधि से तुम प्रकटाते हो निज साहस?
आख़िर क्षण-भंगुर जीवन से क्यों होऊँ मैं मोहित बरबस ?
शायद यह प्याला पीकर ही मैं तुमको कुछ चीन्ह सकूँगा !
यह प्याला क्यों पी न सकूँगा ?

■

गहन, सघन अन्धकार !

यह लोचन - शिथिल - करण, गहन सघन अन्धकार !
ज्योति दलन, किरण - दमन, भ्रमायतन, नयन-भार
गहन, सघन अन्धकार !

दृग - पथ को घेर - घेर चरण - चिह्न लुप्त किये, –
सकल सृजन - लीला निज अन्तर में गुप्त किये; –
अपनी गोदी में चर, अचर सभी सुप्त किये, –
फैला है भूतल से नभ तक इसका प्रसार !
गहन, सघन अन्धकार !

कैसा दिक् - ज्ञान ? सजन, दिशा शून्य अम्बर मम,
पन्थ - रेख - शून्य अवनि, निबिड़ तिमिर आकर मम;
मन में है अन्धकार - जन्य थकित, मति - दिग्भ्रम,
किधर चलूँ, प्रिय, मैं तो बैठा हूँ हृदय हार !
गहन, सघन अन्धकार !

व्याल तिमिर घन निशि का लहराता है समुद्र,
यह कराल कालार्णव, जिसकी हर लहर रुद्र;
यहाँ कहाँ ढूँढ़ूँ, प्रिय, जीवन की शुक्ति क्षुद्र ?
लहराता है अगाध मरण - सिन्धु याँ अपार !
गहन, सघन अन्धकार !

अवनी से अम्बर तक लहराता काल स्वयं,
लहरों पर करती है, नृत्य, मृत्यु - बाल स्वयं;
चपल चरण, हरण - शील, देते हैं ताल स्वयं
अग - जग यह करता है क्षण - क्षण मरणाभिसार !
गहन, सघन अन्धकार !

घन सूची - भेद्य तिमिर फैल रहा सभी ओर,
इस तम में, कहते हो : मैं देखूँ किरण - कोर ?
नव चेतन - भोर कहाँ ? यहाँ निबिड़ निशा घोर,
यहाँ कहाँ पाऊँ मैं ऊषा के अरुण तार ?
गहन, सघन अन्धकार !

पर ऐसा लगता है कि यह सघन अन्धकार,–
बढ़ता है, होने को किरणों पर ही निसार;
अँधियाला करता है अवश देश, काल, पार;
ताकि मिटे कभी जन्म - मरण - भेद - भाव - रार !
गहन, सघन अन्धकार !

निज को आबद्ध किये जड़ के उपकरणों में,–
मरण - तिमिर लिपट चला, मृण्मय आवरणों में;
जीवन की ऊषा के ज्योति पुंज चरणों में;–
होने को न्यौछावर बढ़ता है वह अपार !
गहन, सघन अन्धकार !

तुम कैसे लीलामय ? उजियाला, अँधियाला,–
दिखलाकर भ्रमित किया, जन-मन भोला-भाला !
पर, फिर इक रूप किया सब गोरा औ' काला,
लय-भव को एक बना किया मरण - तिरस्कार;
तब क्या घन अन्धकार ?

नैनी जेल
१ अक्टूबर, १९४१

■

पहेली

खूब जानता हूँ मृत्यु जीवन की एकता मैं
खूब पहचानता हूँ सम्भ्रम के छल छन्द्,
खूब जानता हूँ माया मोहिनी के हाव - भाव,
विभ्रमकरण मानता हूँ सब भव बन्ध,
किन्तु अनजान प्राण अपनों को जाते देख,
बरबस हा-हा-कार करते हैं मूढ़ मन्द
मोह मैं कहूँ ? या इसे मानव स्वभाव कहूँ ?
मरण-विछोह से क्यों होता हिय खण्ड-खण्ड ?

यह जो मरण-भीति मानव के हिय में है,
वह क्या है भावी नव जीवनोत्क्रमण-त्रास ?
यह जो विछोह - जन्म वेदना है मानव में,
वह क्या है नूतन-जन्म-पीड़ा का ही विलास ?
जीवन मरण एक रूप हो गये हैं, किन्तु,
फिर भी समायी जग-जीवन में मोह-फाँस;
आँसू हैं, हिचकियाँ हैं, प्राणों का तड़पना है,
हिय में भरा है गहरा - सा एक उच्छ्वास !

अपनों को जाते अवलोका नयनों से जब,
अपनों को देखा जब होते यों त्रिजत्व लीन,
मृत्यु - यवनिकाऽक्षेप - अन्तर में देखा जब
नट को पट-परिवर्त्तन-लीला में तल्लीन,—
देखा जब पंख तोलते यों प्राण - विहंग को,
चंचु किये उधर जहाँ है पन्थ अन्तहीन,
उस क्षण अपने ही आप आया हिय भर,
झर-झर झर उठे आप ही ये दृग दीन !

■

अविरल चेतना की धार

नित अजस्रा, सतत, अविरल चेतना की धार,
कर रही मृण्मय अवनि पर अमिय की बौछार;
अविरल चेतना की धार?

निखिल रवि-मण्डल; खमण्डल बन रहा ब्रज धाम,
और रज कणियाँ बनी हैं गोपियाँ अभिराम;
रुचिर चेतन-तत्त्व आया बन सजल घनश्याम,
काल,नर्त्तन - ताल देता है, समुद अविराम!
कह रहा है यों निखिल ब्रह्माण्ड रास - विहार
अविरल चेतना की धार!

काल - यमुना - तीर, चिर अश्वत्थ रूप कदम्ब, –
धीर अव्यय - भाव से हिल - डुल रहा सालम्ब;
चीर, मात्र - स्पर्श के; उस पर खिलें अविलम्ब;
श्याम घन का यह अनोखा सृजन-विजय-स्तम्भ।
रज कणों में हो रहा यह प्राण का संचार;
अविरल चेतना की धार!

आधिभौतिक रेणु - रूपी गोपियों के चीर,–
क्या पता कब-कब हरे घनश्याम ने बे - पीर?
और फिर अवलोक उनको भग्न, नग्न शरीर,–
क्या पता कब दिये तन-पट और प्राण-समीर?
यह हरण औ' दान लीला है अनन्त अपार
अविरल चेतना की धार!

सृजन के वृन्दाविपिन में रास - रति की रार,—
काल - रविजा के पुलिन पर वेणु की गुंजार, —
चीर-हर, सुख-पीर-कर, के अतुल प्यार, दुलार,—
ये सभी प्रकटित हुए हैं अवश बारम्बार !
तब कहाँ की वेदना ? कैसा दुखों का भार ?
अविरल चेतना की धार !

इन तरणि-तनया-तटों पर गूँजती है मन्द, —
बाँसुरी की ध्वनि, मधुर, मुद, प्राण-हर, सुख - कन्द;
वेणु जिसने सुनी, उसके प्राण - गायन - छन्द, —
तड़प उट्ठे, और, फिर कुछ हो गये निष्पन्द
ध्वनि - विमुग्धा धर सकी कब प्राण का सम्भार ?
अविरल चेतना की धार !

हो न जब तक चेतना के श्याम घन का दान,
कौन तब तक मृत्तिका की ग्वालिनों का मान ?
वे, न दें नव चीर, तब तक, क्या, कहो, परिधान ?
पट-हरण कर लें न तब तक क्या विमुक्ति-विधान ?
व्यर्थ, जीवन-मरण की जग क्यों मचावे रार ?
अविरल चेतना की धार ?

आज आ जाओ, बलायें लूँ, अहो सुकुमार !
पट-हरण करते पधारो; है असह यह भार;
आ विराजो, फिर उसी चिर नीम पर छविसार,
कर विवस्त्रा सुरति विधुरा को करो स्वीकार !
मरण-जीवन-मोह-बन्धन तोड़ दो इस बार;
अविरल चेतना की धार !

नैनी जेल
१६ अक्टूबर, १९४१

■

सृजन झाँझ

सिरजन-झाँझ बजी झन - झन - झन,
जड़-चेतन के तुमुल नगाड़े गमक उठे घन-घन-घन,
सिरजन-झाँझ बजी झन-झन-झन !

ले दिक्-काल-दण्ड द्वय कर में कोई दुन्दुभि-वादक,—
अगति, प्रगति, उद्गति की ध्वनियाँ गुँजा रहा उन्मादक,
काँपी जड़-चेतन-दुन्दुभियाँ, घनन - घनन घन्नाई,
और अन्य कर द्वय झंकृत यह सृजन-झाँझ झन्नाई,
संसृति किसी चतुर्भुज का है क्या केवल ध्वनि-वर्द्धन ?
सिरजन-झाँझ बजी झन-झन-झन !

क्षण-क्षण सृजन-हरण की ध्वनियाँ उठती हैं अम्बर में,
है एक ही प्रेरणा प्रलयंकर में, विश्वम्भर में,
दुन्दुभि वादक की ध्वनियों में भेद-भाव तो भ्रम है,
सिरजन भी है हरण, हरण भी सिरजन का ही क्रम है।
महा रुद्र का गर्जन ही तो है स्रष्टा का तर्जन
झंकृत झाँझ बना है सिरजन !

चेतन की टंकार पूर्ण ध्वनि, जड़ की घहर-गभीरा,
दोनों का कर रहे समन्वय कर-गत झाँझ-मँजीरा;
देकर ताल निहाल कर रहे लय-उद्भव की लीला,
अणु-अणु में है गणित चातुरी भरी हुई गति-शीला;
हिय कम्पन, विद्युत्-कण-झम्पन, सब में गणना-विहरण,
सिरजन-झाँझ बजी झन-झन-झन !

गमनागमन, मरण-जीवन यह, यह प्रलयोद्भव-लीला,—
है संयोग मात्र यदि, तब क्या विथा ? कहाँ की पीड़ा ?
हम वादन-ध्वनि मात्र अन्य की,—यदि यह भी हम मानें,—
तो फिर क्या चिन्ता ? हम निज को क्यों न आज पहचानें ?
हम भी क्यों न बनें उसके,—हैं जिसके ये रज-कण-कण ?
सिरजन-झाँझ बजी झन-झन-झन !

नैनी जेल
९ अक्टूबर, १९४१

■

हमरे साजन की अजब अदा

हमरे साजन की अजब अदा,
भोला - भाला जग क्या जाने ?
हमरे साजन हैं अलबेले,
हमरे साजन हैं मस्ताने,
अपना सन्देश पठाने को
रक्खी है उनने एक दूती,
सन्देश लिये वह आती है
जग - जन के नयनों को छूती;
वह आती है मस्तानी - सी
पिय का आमन्त्रण लिये हुए,
यों खूब झूमती आती है
मानो वह है कुछ पिये हुए ।

पिय की दूती का नाम अजब;
पिय की दूती का धाम अजब,
वह रहती है अविराम सजग;
हैं उसके सारे काम अजब;
घन-घोर कालिमा-सी काली,
पिय की दूती वह मतवाली,
आती काले अँधियारे की
साड़ी पहने काली-काली;
ऐसी कुरूप दूती रखना
भाया हमरे मन-भावन को;
इस लिए कहो तो भला दोष,
क्यों दें हम अपने साजन को ?

जिसको कहते हैं महामृत्यु
वह दूती है हमरे पिय की,
वह छुपा-छुपाकर लाती है
हम तक बातें पिय के हिय की,
काले अँधियाले की अपनी
काली साड़ी में छिपे हुए,—
आती समेटने प्राणों के
वे ताने-बाने बिछे हुए;
जाने क्या कहती जाती है
जीवन के उत्सुक श्रवणों में ?
मरणांजन देती जाती है
जीवन के स्फारित नयनों में।

कैसा सँदेश ले आती है
जीवन की यह कृतान्त दूती
जो आती है बे - भरम यहाँ
जन-गण के तन-मन को छूती,
मन-स्मरण-प्राण-संवरणशील
संस्पर्श मात्र उसका प्रचण्ड,—
क्षण-भर में ही कर देता है
जीवन की धारा खण्ड-खण्ड;
उसके पग दृग पर पड़ते ही
दृग रह जाते हैं मिचे हुए,
मानो उसके चरणांकन को
हैं पलक पाँवड़े बिछे हुए।

पिय ने जो कहला भेजा है,
कहती जीवन के कानों में,
कहती है : "अब मत बिलम और
तू इस जग की मुसकानों में;
जीवन, तू है जीवन याँ पर,
जड़ता के बन्धन ही के बल,
अन्यथा, अरे, तू चित्स्वरूप,
चेतन सन्तत विशुद्ध, केवल;
चेतन जीवन बनता है तब
जब होता जड़ से गठबन्धन,
अन्यथा सतत वह है चिन्मय
यदि हो जड़ता का अतिलंघन।

चिर चेतन का सन्देश लिये
मैं महा मृत्यु दूती आयी,
तू जड़ के बन्धन तोड़, और,
बन मुक्त, अरे जीवन भाई,
मत और अधिक तू उलझ यहाँ,
हैं कई और भी काम तुझे,
मैं कहती हूँ कि इतिश्री हो,
जीवन की वाती आज बुझे;
जीवन, तुझको चेतन बन कर,
कुछ और उत्क्रमण करना है,
तू आज चला चल मेरे सँग,
तुझको कुछ और उभरना है;

''जड़ता के वन्धन - खण्डन को
मत समझ कि है यह सर्वनाश,
तू हो यदि जड़ता से विरहित
तो भी तू क्यों होवे उदास ?
चल छोड़ आज अपना पिंजर,
तू, अरे सनातन राजहंस,
पिंजर ? यह तेरा वास नहीं;
होने दे इसका आज ध्वंस;
अनिरुद्ध, शुद्ध, तेरा स्वभाव,
तू विनिर्मुक्त, तू बन्धहीन,
तू अन्तरिक्ष का अधिवासी
तू गगन विहारी चिर नवीन।

"मैं महा मृत्यु आ गयी आज
खण्डन करने को ये बन्धन,
क्षण में ये दृग मिच जायेंगे,
क्षण में थम जायेगा स्पन्दन;
चेतन चल देगा उदासीन;
उसकी भावी पथ - क्षिति अनन्त;
वह क्यों हो मन में क्षीण, दीन ?
उसकी तो है अथ इति अनन्त;
जीवन, आ, तू चेतन बनकर,
कर नित्य उत्क्रमित यह डगरी,
तुझको है चलना अभी बहुत,
है दूर अभी पिय की नगरी।"

■